कालतत्त्व - चिन्तन

(अथर्व) १६/५३/८

डॉ० शशिप्रभा कुमार
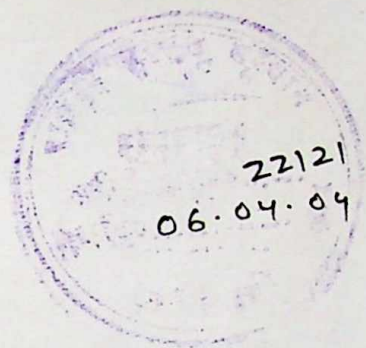
कालतत्त्व–चिन्तन
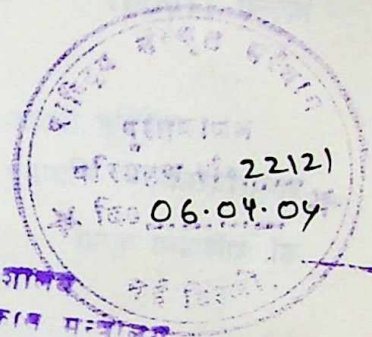
सम्पादिका:

डॉ॰ शशिप्रभा कुमार

रीडर, संस्कृत विभाग

मैत्रेयी कालेज, नई दिल्ली

जे॰ पी॰ पब्लिशिंग हाउस

दिल्ली

प्रकाशक

जे॰ पी॰ पब्लिशिंग हाउस

27/28, शक्ति नगर

दिल्ली-110007

सम्पादिका

डॉ. शशिप्रभा कुमार

ISBN-81-86702-02-4

प्रथम संस्करण 1997

मूल्य-380.00 रुपये

मुद्रक:

के॰ के॰ आफसेट प्रिंटर्स

डी-102, न्यू सीलमपुर, दिल्ली 110053, दूरभाष 2260113

ॐ

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।।

❖❖❖

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।।

❖❖❖

अनादिनिधनः कालः रुद्रः संघर्षणः स्मृतः।
कलनात्सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः।।

❖❖❖

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।

❖❖❖

उत्पत्तौ च स्थितौ चापि विनाशे चापि तद्वताम्।
निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम्।।

❖❖❖

सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः।

❖❖❖

कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

❖❖❖

काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः।

TIME

1. Time is endless in thy hands,
   my lord!
   There is none to count thy minutes!!
   Rabindranth Tagore

2. The instant is a window
   to the other side of eternity.
   Octovio Paz

3. A wonderful stream is the
   River of 'Time',
   As it runs through the
   Realms of Tears
   with a jault's rhythm, and
   A musical rhythm
   As it blends with the Ocean of years.
   Benjamin Taylor

4. Past, Present and Future
   are linked together in the endless
   chain of history.
   E.H. Karr

अनुक्रम

पुरोवाक्- डॉ. मण्डन मिश्र
कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादकीय डॉ. शशिप्रभा कुमार
रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, नई दिल्ली

अध्यक्षीय भाषण डॉ. रामकरण शर्मा
पूर्व कुलपति, कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा

कालतत्त्व-चिन्तन डॉ. विद्यानिवास मिश्र
पूर्व सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

१. **वैदिकं कालविज्ञानम्** १
पं. चन्द्रकान्त बाली
इतिहासविद्, एन आई-23, विशाखा एन्क्लेव, दिल्ली

२. **ऋग्वेद में काल -बोध** २८
प्रो. एम. आई. खान
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

३. **वैदिक संहिताओं में आदित्य एवं काल** ३२
डॉ. प्रवेश सक्सेना
रीडर, संस्कृत विभाग, जाकिर हुसैन कालेज (सान्ध्य) दिल्ली

४. **ऋग्वैदिक कालदर्श** ४४
डॉ. रमनरानी पाल
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, एम. एम. एच. कालेज, गाजियाबाद

५. **ऋक्संहिता में काल-विभाजन** ४७
डॉ शशि तिवारी
रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, नई दिल्ली

६. **वैदिक संहिताओं में काल-विवेचन** ५३

डॉ. सरस्वती बाली

रीडर, संस्कृत विभाग, कालिन्दी कालेज, नई दिल्ली

७. **अथर्ववेद के काल-सूक्त** ५८

डॉ. जितेन्द्र कुमार

शोधछात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

८. **शतपथ ब्राह्मण में कालतत्त्व** ६४

डॉ. नरगिस वर्मा

रीडर, संस्कृत विभाग, दौलतराम कालेज, दिल्ली

९. **उपनिषद् वाङ्मय में कालतत्त्व** ८०

डॉ वेदवती वैदिक

रीडर, संस्कृत विभाग, श्री अरविन्द कालेज (सान्ध्य), नई दिल्ली

१०. **यास्कीय निरुक्त में कालावयवों की व्याख्या** ८९

आचार्य कृष्णलाल

संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

११. **'काल' शब्द और उसके विविध प्रयोग** १०४

डॉ. सत्यदेव चौधरी

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१२. **योगवासिष्ठ में काल का स्वरूप** १११

प्रो. सत्यव्रत शास्त्री

पूर्व कुलपति, श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी

१३. **चरकसंहिता में काल-चिन्तन** ११५

डॉ. निर्मल त्रिखा

रीडर, संस्कृत विभाग, दौलतराम कालेज, दिल्ली

१४. **बाल्मीकि रामायण में काल-चिन्तन** १२४

डॉ. आशालता पाण्डेय

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली पब्लिक स्कूल, नई दिल्ली

१५. **महाभारत में काल-चिन्तन** १३५

डॉ. राजकुमारी त्रिखा

रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, नई दिल्ली

१६. **भगवद्गीता में काल-स्वरूप** १४९

प्रो. बलदेवराज शर्मा

संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१७. **मनुस्मृति में काल का मापदण्ड** १५९

डॉ. उर्मिल रुस्तगी

रीडर, संस्कृत विभाग, मिराण्डा हाउस, दिल्ली

१८. **वाक्यपदीय में काल की अवधारणा** १६९

डॉ. रघुवीर वेदालंकार

रीडर, संस्कृत विभाग, रामजस कालेज, दिल्ली

१९. **जैन दर्शन में काल का स्वरूप** १७४

डॉ. प्रतिभा जैन

प्रवक्ता दर्शन विभाग, महिला कालेज, डाल्टनगंज

२०. **योगदर्शन में काल-चिन्तन** १८७

आचार्य चन्द्रहास शर्मा

अध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र विभाग, शास्त्री विद्यापीठ, नई दिल्ली

२१. **न्याय वैशेषिक में काल-विवेचन** १९४

डॉ. शशिप्रभा कुमार

रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, नई दिल्ली

२२. **भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व की अवधारणा** २०८

डॉ. सोमनाथ नेने

उपाचार्य, संस्कृत अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

२३. **पौरोहित्य के परिप्रेक्ष्य में काल** २१५

डॉ. रवीन्द्र नागर

अध्यक्ष, पौरोहित्य विभाग, शास्त्री विद्यापीठ, नई दिल्ली

२४. **संगीत शास्त्र में काल-चिन्तन** २१८

डॉ. हर्षकुमार

अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी विभाग, सेंट स्टीफेंस कालेज, दिल्ली

२५. **कालिदास का काल-चिन्तन** २४७

डॉ. कमलेश गर्ग

रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, नई दिल्ली

२६. **संस्कृतवैयाकरणानां कालचिन्तनम्** २५५
डॉ. चन्द्रभूषण झा
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, सेंट स्टीफेंन्स कालेज, दिल्ली

२७. **The Time Magic:** 263
Prof. Arindam Chakraborti
Deptt. of Philosophy, Univ. of Delhi, Delhi

२८. **Time In Buddhism: Some Reflections** 274
Dr. Harishankar Prasad
Research Scientist 'C', Deptt of Philosophy, Delhi

२९. **Concept of Time according to Sanskrit Grammar** 280
Prof. Satypal Narang, Head
Deptt. of Sanskrit, Univ of Delhi, Delhi

३०. **The Nature of Time: A Physicist's Point of View** 294
Dr. Satish Kumar Muthu
Reader, Deptt. of Physics, Univ. of Delhi, Delhi

३१. **Concept of Time In Mathematics** 301
Prof. Ajit Iqbalsingh
Head, Deptt. of Mathematics, Univ. of Delhi, Delhi

३२. **Concept of Time In Ancient Legal Texts** 304
Dr. Lalita Kuppuswami
Reader, Sanskrit Deptt. Daulat Ram College, Delhi

३३. **Concept of Time In Vāstusāstra** 316
Dr. Deepali Bhanot
Reader, Sanskrit Deptt. J.D.M. Delhi

३४. **Concept of Time In Absolute Monism** 337
Dr. Bhakti Srivastava
Reader, Sanskrit Deptt. Daulat Ram College, Delhi

३५. **Concept of Kāla In Nārāyanīyam** 344
Dr. Dharma
Reader, Sanskrit Deptt, Laxmibai College, Delhi.

पुरोवाक्

दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत–विभाग की शोध परिषद् के तत्त्वावधान में ''कालतत्त्व–चिन्तन'' पर आयोजित द्विदिवसीय गोष्ठी में प्रस्तुत शोध–प्रबन्धों का यह संग्रह कालतत्त्व की शाश्वतता एवं विभुता का एक गम्भीर एवं मनोरम स्तवक है।

वस्तुतः यह समस्त सृष्टि–प्रपञ्च काल ही का विस्तार है। ''यः कल्पः स कल्पपूर्वः'' इस न्याय के अनुसार काल अनादि तथा अनन्त है। वह सर्वथा परिभाषातीत एवं अपरिमेय है। काल की प्रभुता एवं महत्ता इसी से स्पष्ट है कि वैदिक काल से लेकर वर्तमान युग तक यह उत्कृष्टतम मनीषियों के चिन्तन का विषय रहा है। उस मनीषा की एक सूक्ष्म किन्तु दीप्तिमान् झलक इस प्रकाशन में देखी जा सकती है। काल अमूर्त, अज और ब्रह्म है, यह काल की पारमार्थिक सत्ता है। इसकी प्रातिभासिक सत्ता का हमें वर्ष, कल्प और युग के रूप में दर्शन होता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं को काल के रूप में भी स्वीकार किया हैं। काल स्रष्टा और संहर्ता भी है। यह सत्य है, नित्य है, परन्तु व्यवहार में नश्वर एवं परिवर्तनशील होता है। काल के इस विविध लीला–विलास का निरूपण शास्त्रसम्मत एवं प्रसादमय पद्धति पर इस संकलन में संपन्न हुआ है।

यह प्रशंसा का विषय है कि परिषद् ने इतने महत्त्वपूर्ण विषय का चयन इस गोष्ठी के लिए किया।

दिल्ली विश्वविद्यालय का यह सौभाग्य है कि उसका संस्कृत विभाग अपने महाविद्यालय के संघीय तन्त्र में विद्वानों एवं विदुषियों की मणिमाला से विभूषित है। इस प्रकार के पाण्डित्य पर आधारित विषयों पर परिसंवाद, चर्चा तथा शोध के लिये संस्कृत शोध परिषद् ने अपने आपको एक उपयुक्ततम मञ्च सिद्ध किया है। प्रस्तुत गोष्ठी उसका एक उत्तम निदर्शन है।

गोष्ठी के निबन्धों में एक से एक मननीय है। विश्वविख्यात दार्शनिक, आचार्य अरिन्दम चक्रवर्ती के " The Time Magic'' शीर्षक ''उद्बोधन–भाषण'' ने

कालमाया के दार्शनिक स्वरूप का उपस्थापन कर एक प्रकार से मौलिक प्रस्तुति के द्वार का उद्घाटन किया है। संस्कृत के गौरव डा० सत्यव्रत शास्त्री के "योगवासिष्ठ में काल का स्वरूप" शीर्षक निबन्ध ने इस महान् ग्रन्थ में सागर में रत्नों के समान काल की द्विविध सत्ता का अन्वेषण कर चिन्तन को विशेष गति प्रदान की है। स्वनामधन्य यशस्वी चिन्तक श्री चन्द्रकान्त बाली ने "ज्योतिष शास्त्र के सन्दर्भ में वैदिक काल–विज्ञान" शीर्षक नौ अध्यायों में हमारी पारम्परिक काल–गणना का एक वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। यह एक निबन्ध ही आधुनिक गणित के विद्वानों के लिए चिन्तन की ठोस सामग्री उपस्थित करता है–जो हमारी दीर्घकालीन सांस्कृतिक अस्मिता का आधार है। आचार्य प्रवर डा० कृष्णलाल, डा० सत्यपाल नारंग, डा० (श्रीमती) उषा चौधरी, डा० वेदवती वैदिक एवं डा० शशिप्रभा कुमार जैसे अनेक मनीषियों के शोध–प्रबन्ध अपने आप में श्रम, गंभीर अध्ययन और शोध की त्रिवेणी के रूप में विद्यमान है जिसमें अवगाहन कर निश्चय ही देश–विदेश के अध्येता भारतीय प्रज्ञा का पुण्य लाभ करेंगे।

मैं संस्कृत विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष विद्वद्वरेण्य, संस्कृत–संस्कृति की उदात्तता की प्रतिमूर्ति आचार्य डा० वाचस्पति उपाध्याय को बधाई देता हूँ जिनके मार्गदर्शन में गोष्ठी की संयोजिका विद्या, विनय, विवेक, सौजन्य, माधुर्य और सेवा–भावना से सुसंपन्न बहन डा० शशिप्रभा कुमार ने इस बिबुध–समागम का आयोजन किया।

मैं विभाग के समारोहों में दिये गये इस वक्तव्य को यहाँ पुनः दुहरा रहा हूँ कि दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्रतिष्ठा में उसके महिला सदस्यों का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विभाग इस समृद्धि से धन्य है। यह पुष्प–गुच्छ भी उसी का प्रतीक है।

अन्त में गोष्ठी में समागत विशिष्ट अतिथियों एवं विभाग के आचार्यों के प्रति जिनकी यह समृद्ध शिष्यपरम्परा है, मेरी प्रणति–पुष्पाञ्जलि के रूप में मेरे ये दो शब्द समर्पित करता हूँ–

जयतु संस्कृतम् !

रामनवमी – १९९५ **मण्डन मिश्र**

सम्पादकीय

संस्कृत शोध परिषद्, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा गतवर्ष आयोजित संगोष्ठी (भारतीय चिन्तन में कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त) की आशातीत सफलता से प्रोत्साहित होकर हमने इस वर्ष भी 'कालतत्त्व–चिन्तनः प्राचीन दृष्टि, आधुनिक सन्दर्भ' विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया जिसका ज्ञानरूप प्रसाद आप सबकी सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष है।

'काल' हमारे जीवन का नियामक भी है और सर्वव्यापक भी – नामरूपात्मक यह विश्व काल की गति से नियंत्रित है; सब कुछ 'काल' के वश में है किन्तु 'काल' स्वयं 'अवश्य' है। व्यावहारिक दृष्टि से जीवन में कभी तो 'काल' का अभाव खलता है और कभी 'काल' काटे नहीं कटता, अतः सूक्तिकारों ने सत्य ही कहा है–

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।

दूसरी ओर, तात्त्विक दृष्टि से 'काल' एक, नित्य, अखण्ड, अपरिवर्तनीय एवं अविनाशी तत्त्व है, वस्तुतः काल नहीं बीतता, घटनायें और व्यक्ति ही बीतते–बदलते रहते हैं–

कालो न यातः वयमेव याताः।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में 'कालवाद' एक विशिष्ट सिद्धांत था जिसके अनुसार जगत् और जीवन का अन्तिम कारण काल ही है। यद्यपि काल शब्द का प्रयोग यहाँ भिन्न–भिन्न अर्थों में हुआ है– कभी तो काल को समय का प्रतीक माना गया; कभी भाग्य का, कभी चक्र के रूप में; कभी नदी के प्रवाहरूप में तो कभी मृत्यु के रूप में उसका वर्णन किया गया, तो कभी उसे चिद्रूप ब्रह्म से ही तदाकार मान लिया गया, तथापि काल की सर्वव्यापकता, अपरिहार्यता, सर्वाधारता एवं नित्यता सर्वजनस्वीकार्य रही है। इसीलिए वेद, वेदाङ्ग उपनिषद्, दर्शन, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण एवं अन्य विविध विद्याओं में यह 'काल' तत्त्व विचारणीय रहा है किन्तु अद्यावधि इसके विषय में इदमित्थंतया कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः इस दुर्बोध, दुरूह किन्तु सर्वजनप्रासङ्गिकविषय को लेकर ज्ञान

की विविध धाराओं में विश्लेषणरत विद्वान् जनों से विचार–विनिमय के उद्देश्य से प्रेरित होकर ही इस संगोष्ठी का विषय–चयन किया गया।

'कालतत्त्व–चिन्तन' का मूल बीज प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में ही सन्निहित है जहाँ इन्द्र–सूक्त (१०/४२/८) में इस शब्द का प्रथम प्रयोग हुआ है तथा अन्यत्र 'संवत्सर' शब्द द्वारा (१०/१६०/२) भी काल की इकाई को ही प्रकट किया गया है। अथर्ववेद के दो सूक्तों में (१६/५३–५४) तो काल को ही सब सत्ताओं का मूल कारण कहा गया है– ये दोनों सूक्त वस्तुतः काल के विषय में मानव के रहस्यात्मक चिन्तन का पूर्ण विकसित रूप कहे जा सकते हैं। तदनुसार ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में काल को सृष्टि–सिद्धांत के सन्दर्भ में भी एवं व्यावहारिक धरातल पर भी नित्य एवं सृष्ट–दोनों रूपों में वर्णित किया गया है। सृष्ट काल सीमित एवं सखण्ड कहा गया है जबकि नित्य काल असीम एवं अखण्ड (जैमिनीय ब्राह्मण, १/११ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/१६)। मैत्री उपनिषद् में भी काल के मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों रूपों का वर्णन है, वहाँ ब्रह्म को भी अकाल और काल दो प्रकार का कहा गया है; जो सूर्य से पहले है, वह ब्रह्म का अकाल रूप है तथा निरवयव है जो सूर्य के साथ उत्पन्न होता है वह सकाल और सावयव है – संवत्सर सकाल काल है (मैत्री उप. ६/१४/१५)। स्पष्टतः यहाँ काल के तात्त्विक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों का संकेत सन्निहित है तथा उसकी गति से सूर्य का सम्बन्ध भी सूचित होता है जो परवर्ती चिन्तन में कालविषयक विचारणा का आधार बन गया। महाभारत में काल को स्रष्टा, स्थापक एवं संहारक के रूप में वर्णित किया गया है, गीता में तो श्रीकृष्ण ने स्वयं को काल से तदात्म ही कहा है– कालः कलयतामहम्। (१०/३०)

पुराणों में काल को ईश्वर के रूप में अनादि, अनन्त भी कहा गया है तथा सर्वव्यापक भी –

अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज उच्यते। विष्णु. २/२६

विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।

ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्त्तिना।। भागवत. ३/१०/२२

काल के विभिन्न अंगों का विवेचन भी प्राचीन संस्कृत साहित्य में विस्तारपूर्वक उपलब्ध होता है। वाजसनेयिसंहिता (३२/२) में 'निमेष' का, बृहदारण्यक उपनिषद् (३/८/६) में निमेष, मुहूर्त आदि का तथा महानारायण उपनिषद् (१/८–६) में काष्ठा, मास, वर्ष आदि काल–भेदों का निर्देश है। वायुपुराण (३२/२६–३०) में काल को शिव से अभिन्न कहा गया है तथा इसके चार मुखों को चार युग बताया

गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं में भी काल के स्वरूप के विषय में विपुल विचार–विमर्श हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त संगोष्ठी में अपने–अपने क्षेत्र के मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा इन सभी दृष्टियों से कालतत्त्व–चिन्तन पर प्रकाश डाला गया, इससे इस विषय की व्यापकता एवं उपादेयता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन एवं शेमुषी के शीर्षस्थ व्याख्याता, विद्यावारिधि, श्रद्धेय पं० विद्यानिवास मिश्र का सारगर्भित, संग्रहणीय निबन्ध इस समग्र परम्परा को ही रेखांकित करता है। उन्होंने हमें अपना निबन्ध प्रकाशित करने की अनुमति देकर इस ग्रन्थ को गरिमा प्रदान की है, अतः हम उनके प्रति परम कृतज्ञ हैं। वस्तुतः उनका निबन्ध इस संगोष्ठी की पूर्वपीठिका के रूप में जानना चाहिए। उनके तलस्पर्शी वैदुष्य एवं ललित प्रस्तुतीकरण में काल–चिन्तन के प्राचीन–अर्वाचीन सभी बिन्दुओं को प्रकट किया गया है।

आधुनिक युग में भी दर्शन एवं विज्ञान दोनों ने इस कालतत्त्व पर अपनी–अपनी दृष्टि से प्रभूत विश्लेषण किया है जो पुनः इस विषय की गम्भीरता एवं महत्ता का ही परिचायक है। सर जेम्स जीन्स की प्रसिद्ध पुस्तक Physics and Philosophy (पृ. ५६-५८) के अनुसार वर्तमान वैज्ञानिक विवेचन में 'काल' शब्द का चार भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है–

१. **संकल्पनात्मक काल** (Conceptual Time) – जो सामान्यतः मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है।

२. **प्रत्यक्षात्मक काल** (Perceptual Time) – जो किसी एक मनुष्य के ज्ञान पर आधृत होने से एक–आयामी है।

३. **भौतिक काल** (Physical Time) – जो सार्वजनिक तथा व्यावहारिक है एवं भौतिकी तथा खगोलविज्ञान में वर्णित है।

४. **पूर्णकाल** (Absolute Time) – जो अखण्ड है तथा तात्त्विक विवेचन का विषय है।

इनमें से प्रथम दोनों प्रकार का 'काल' तो हमारी वैयक्तिक चेतना में अवस्थित होने से हमारी मानसिक उद्‌भूति है तथा हमारी चेतना के रुद्ध होते ही लुप्त हो जाता है जबकि चौथे प्रकार का काल दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र रहा है। तीसरे प्रकार का भौतिक काल ही वैज्ञानिकों के विश्लेषण का आधार है; इस विषय में उनके भिन्न–भिन्न प्रकार के विचार रहे हैं तथा आज भी अनेक नवीन सिद्धांत स्थापित हो रहे हैं। यही कारण है कि हमने उक्त संगोष्ठी में कालतत्त्व–चिन्तन के विषय में आधुनिक सन्दर्भ भी खोजने–जाँचने का प्रयास किया। यह हमार सुखद

सौभाग्य रहा कि इस दिशा में हमें गणितशास्त्र की विशारद विदुषी प्रो. अजीत इकबालसिंह एवं भौतिकशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् डा. सतीश कुमार मट्टू ने अपने ज्ञान से लाभान्वित किया तथा अपने निबन्ध भी प्रकाशनार्थ देकर अनुगृहीत किया, हम उनके अतीव आभारी हैं।

दिनांक ६ एवं १० अप्रैल, १९९४ को आयोजित इस द्विदिवसीय संगोष्ठी में उद्घाटन–भाषण प्राच्य–प्रतीच्य दर्शनशास्त्र के तलस्पर्शी विशेषज्ञ प्रो. अरिन्दम चक्रवर्ती ने दिया। उन्होंने अपने विश्लेषणात्मक व्याख्यान में कालतत्त्व–चिन्तन के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण विप्रतिपत्तियों का आकलन किया है जो भावी शोध की दिशा में नूतन आयाम उद्घाटित करने में सक्षम हैं। वयोवृद्ध एवं विद्यावृद्ध आदरणीय पं. चन्द्रकान्त बाली ने अपने गहन, शोधपरक लेख में ज्योतिषशास्त्र के सन्दर्भ में वैदिक कालविज्ञान की विशद रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे काल–चिन्तन की प्राचीन दृष्टि को समझने में अतीव सहायता होगी। प्रख्यात संस्कृतविद् सौजन्यमूर्ति प्रो. सत्यव्रत शास्त्री अपरिहार्य कारणों से उक्त संगोष्ठी में उपस्थित नहीं हो सके थे, किन्तु हमारे विनम्र अनुरोध पर उन्होंने 'योगवाशिष्ठ में काल–चिन्तन' विषय पर अपना निबन्ध देकर निश्चय ही हमें कृतार्थ किया है। बौद्धदर्शन–पारंगत, प्रसादमूर्ति प्रो. हरिशंकर प्रसाद ने 'काल' तत्त्व पर गहन शोध कार्य किया है एवं इसी विषय पर अनेक ग्रन्थों एवं निबन्धों का प्रणयन–सम्पादन कर चुके हैं, आपके 'बौद्धदर्शन में काल–चिन्तन' शीर्षक निबन्ध से इस पुस्तक का कथ्य अवश्यमेव संपुष्ट हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी के वरिष्ठ विद्वान् प्रो. सत्यदेव चौधरी का 'काल और कालवाची शब्द'; श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के शिक्षाशास्त्र–विभागाध्यक्ष आचार्य चन्द्रहास शर्मा का 'योगदर्शन में काल–स्वरूप' पौरोहित्य एवं कर्मकाण्ड विभागाध्यक्ष डा. रवीन्द्र नागर का 'पौरोहित्य एवं काल'; एम.एम.एच. कालेज गाजियाबाद की संस्कृत विभागाध्यक्षा डॉ. रमनरानी पाल का 'ऋग्वैदिक कालदर्श' महिला महाविद्यालय डाल्टनगंज में दर्शन–विभाग में प्राध्यापिका डॉ. प्रतिभा जैन का 'जैन दर्शन में काल–स्वरूप' एवं विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में संस्कृत अध्ययनशाला के उपाचार्य डॉ. सोमनाथ नेने का 'भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व की अवधारणा' शीर्षक निबन्धों ने प्रस्तुत पुस्तक के विषय को समग्रता प्रदान की, उन सबके हम हृदय से आभारी हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. पुष्पेन्द्र कुमार, आचार्य कृष्णलाल, प्रो० बलदेवराज शर्मा, प्रो. सत्यपाल नारंग तथा प्रो. अवनीन्द्रकुमार ने इस गोष्ठी के पांच सत्राध्यक्षों के रूप में हमें अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया तथा अपने निबन्ध देकर भी हमें प्रोत्साहित किया, उन सबके प्रति हम भूरिशः कृतज्ञ हैं। सत्र–संयोजकों के रूप में डॉ. उषा चौधरी, डॉ. देवेन्द्र मिश्र,

डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, डॉ. हर्षकुमार एवं डॉ. रवीन्द्र नागर ने इस संगोष्ठी को सफल बनाने में अपना योगदान किया – उन सबके प्रति कोटिशः धन्यवाद।

विद्वद्वरेण्य, विनयमूर्ति प्रो. रामकरण शर्मा का अध्यक्षीय समापन–भाषण इस संगोष्ठी की फलश्रुति का चरम निदर्शन है। उन्होंने अपने व्याख्यान में काल के विविध आयामों की चर्चा करते हुए उसकी अनिर्वचनीयता पर ही बल दिया तथा अपने निबन्ध का लिखित रूप हमें प्रकाशनार्थ दिया, तदर्थ हम अत्यन्त अनुगृहीत हैं। स्वनामधन्य, संस्कृत–जगत् के मण्डनकल्प डॉ. मण्डन मिश्र ने इस ग्रन्थ–हेतु पुरोवाक् लिखकर हमें कृतार्थ किया है। आशा है, भविष्य में भी उनका प्रोत्साहन एवं सरंक्षण इसी भांति सुलभ रहेगा। परम आदरणीय गुरुवर डा. वाचस्पति उपाध्याय की अध्यक्षता में ही संस्कृत शोध परिषद् का यह आयोजन सम्पन्न हुआ, वस्तुतः इस संगोष्ठी के आयोजन में उनका सतत मार्गदर्शन एवं अनवरत सहयोग हमारा सम्बल रहा, अतः हम उनके प्रति परम कृतज्ञ हैं।

संस्कृत शोध परिषद् के सभी कार्यकारी एवं साधारण सदस्यों, संस्कृत विभाग के सभी अध्यापकों, छात्रों एवं कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरा सुखद कर्तव्य है जिनके सहयोग एवं परिश्रम से यह आयोजन सफल हुआ। अन्त में, यादव पब्लिशिंग हाउस के स्वत्वाधिकारी श्री जे. पी. यादव का हार्दिक धन्यवाद है जिनके आर्थिक सहयोग से यह संगोष्ठी आयोजित हुई तथा जिनके माध्यम से यह ग्रन्थ आप तक पहुंच सका। इस समग्र प्रक्रिया में मैं तो माध्यममात्र रही, किन्तु इस अवधि में संस्कृत विभाग के शोधार्थियों का जो स्नेह एवं सहयोग मुझे प्राप्त हुआ, वह वस्तुतः सराहनीय है। अतः कालतत्त्व–चिन्तन पर चल रही चिरन्तन चर्चा का पुनः प्रवर्त्तन करनेवाली यह कृति उन्हीं को सस्नेह समर्पित है, इस आशा के साथ कि वे संस्कृत शोध को निरन्तर आगे बढ़ाते रहेंगे,

शशिप्रभा कुमार

'अभ्युदय'

२६५/१५–ए नोएडा (उ.प्र.)

पिन २०१३०१

अध्यक्षीय भाषण

श्रद्धेय वाचस्पति उपाध्याय जी, शशिप्रभा जी, चन्द्रकान्त बाली जी, उपस्थित विद्वद्वृन्द, भाइयों और बहनों,

यह हम सभी के लिए बड़े सौभाग्य की बात है कि संस्कृत विभाग ने, विशेष रूप से शशिप्रभा जी ने हमें जीवन और जगत् के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय–काल के सम्बन्ध में चिन्तन करने का, उस पर अपनी दृष्टि को एकाग्र करने का यह शुभ अवसर प्रदान किया है।

काल क्या है? इसके सम्बन्ध में सम्भवतः पूर्ण जानकारी हमें आज तक प्राप्त न, हो सकी है। न तो सूर्योदय को हम काल मान सकते हैं, न सूर्यास्त को, न वर्ष को, न निमिष या पल को। हम अपनी–अपनी कल्पनाओं के अनुसार निमिष से लेकर 'परार्ध' तक को काल की संज्ञा देते रहे हैं। इनके अन्तर्गत सारे मन्वन्तर भी आ जाते हैं, ऋतुएं भी आ जाती हैं, आर्युर्वेद के आदानकाल, विसर्गकाल भी आ जाते हैं। किन्तु क्या हम इन्हें 'काल' कह सकते है? हम जानते हैं कि ये सारे परिवर्तन प्रकृति के विभिन्न अवयवों के संयोग–वियोग पर आधारित परिणाममात्र हैं। न्यायदर्शन के अनुसार 'काल' भी एक द्रव्य' है। दिशा को भी द्रव्य के अन्तर्गत ही यहाँ स्थान दिया गया है। 'काल' और दिशा दोनों के सम्बन्ध अपरत्व (आपेक्षिक सामीप्य) एवं परत्व (आपेक्षिक दूरी) से हैं। हम कह सकते हैं कि दिशागत परत्व–अपरत्व का आधार भौगोलिक या भौतिक होता है। कालगत परत्व–अपरत्व का आधार ऐतिहासिक या अवस्थागत होता है। कोई व्यक्ति दिशा की दृष्टि से हमारे नजदीक हो सकता है या दूर। किन्तु दिशागत सामीप्य या दिशागत दूरी के आधार पर हम कालगत सामीप्य या दूरी का निर्धारण नहीं कर सकते। एक वृद्ध व्यक्ति, दिशा की दृष्टि से हमारे नजदीक होते हुए भी काल की दृष्टि से हमसे दूर है। इसी तरह दिशा की दृष्टि से दूर होने पर भी समयवस्क व्यक्ति काल की दृष्टि से हमारे नजदीक है। इस तरह दिशागत 'परत्व–अपरत्व' से भिन्न कालगत 'परत्व–अपरत्व' की चर्चा से काल के स्वरूप का विवेचन किया गया

है। किन्तु 'अमूर्त्त' होने के कारण काल अपने आप में अनिर्वचनीय ही प्रतीत होता है।

सबसे बड़ा प्रश्न है : काल को कूटस्थ, अचल और ध्रुव माना जाय या गतिशील, परिवर्तनशील?

ऐसा लगता है कि काल और कालपरिणाम – दोनों दो तत्त्व हैं। काल अपने आप में कूटस्थ, अचल है। वह स्वयं परिवर्तनशील नहीं है। यह भी सम्भव है कि 'तदेजति, तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके' उसके ऊपर भी लागू होता है; **'यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते'** यही स्वरूप उसका भी हो। हम यह भी कह सकते हैं कि महाकाल स्वयं कालातीत है, "अकाल" है। वह अनादि भी है, अनन्त भी है। कालपरिणाम अवश्य ही गतिशील हैं।

किन्तु यह भी सत्य है कि हम सूर्योदय, चन्द्रोदय, ग्रहों, नक्षत्रों या राशियों की स्थिति के आधार पर कालगणना करते रहे हैं। ऋग्वेद के–

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।

विश्वमाभासि रोचनम्। १.५०.४

इस मन्त्र की–विशेषतः 'तरणिः' की – व्याख्या करते हुए सायण ने निम्नलिखित प्राचीन गणना का उद्धरण प्रस्तुत किया है:

योजनानां सहस्रे द्वे - शते द्वे च योजने।

एकेन निमिषार्धेन क्रममाण नमोऽस्तु ते।।

तदनुसार सूर्य के प्रकाश की गति प्रति अर्धपल २२०२ योजन मानी गई है। पूना के एक प्रख्यात शल्यचिकित्सक डॉ. पी. वी. वर्त्तक ने आधुनिक गणना के आधार पर इसे प्रति सेकण्ड १८६००० मील सिद्ध किया है जो प्रकाशगति का आधुनिकतम मान सर्वमान्य है। इसी के आधार पर 'लाइट इयर' (प्रकाशवर्ष) की भौगोलिक दशा का भी निर्धारण किया जाता है।

हमारी परम्परा में मानवकाल, पितृकाल, देवकाल आदि अनेक कालपरिणामों की विस्तृत व्याख्या की गई है। चन्द्रमा को पितरों का निवास स्थान माना गया है। हमारा एक मास पितरों के एक दिन–रात के बराबर माना जाता है। कृष्णपक्ष की हमारी अष्टमी पितरों का प्रातःकाल, हमारी अमावस्या उनका मध्याह्न, शुक्लपक्ष की अष्टमी उनका सायंकाल तथा पूर्णिमा उनकी आधी रात होती है। यही कारण है कि हम अमावस्या को ही पार्वण श्राद्ध करते हैं जो पितरों का दिवाभोजन का

समय होता है। आर्मस्ट्रांग ने जिस समय चन्द्रलोक में पदार्पण किया था, वह वहां का सन्ध्यापूर्वकाल था। आप उस समय की डायरी देखेंगे तो उस दिन हमारी शुक्ल पक्ष की सप्तमी–अष्टमी तिथि मिलेगी।

हमारा कोई भी धार्मिक अनुष्ठान मन्वन्तर, युग, वर्ष, मास, तिथि, नक्षत्र, राशि, वार आदि की गणना के बिना प्रारम्भ ही नहीं होता। आयुर्वेद भी आदान–काल विसर्ग–काल इन दो भागों में पूरे वर्ष का विभाजन कर तदनुसार दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि का प्रावधान करता है।

हमारे मासों के नाम भी काल और प्रकृतिचक्र के संबंधों के आधार पर ही रक्खे गए हैं। माघ–मास को हम माघ इसलिए कहते हैं कि इस मास की पूर्णिमा मघा नक्षत्र में होती है। अगहन को मार्गशीर्ष हम इसलिए कहते हैं कि इस मास की पूर्णिमा मृगशिरा नक्षत्र में होती है।

भौगोलिक दृष्टि से भी हम यदि किसी एक दिशा में ही सीधी गति से सदा चलते रहें तो हम उस स्थान पर पहुंच जाएंगे जहाँ से हमने प्रस्थान किया था। यही बात काल–परिणाम के सम्बन्ध में भी संभवतः लागू होती है। जिस समय में हमने कोई कार्य प्रारम्भ किया वह फिर लौटकर अपने उसी रूप में उपस्थित होगा ही। यही बात **'यथर्त्तावृतुलिंगानि नानारूपाणि पर्यये'**। . . . तथा 'भावा युगादिषु' इस महाभारतवाक्य से एवं **'यथापूर्वमकल्पयत्'** इस वैदिक इतिहासवाक्य से प्रमाणित सी होती है। हमारा इतिहास, भूगोल वर्तुलाकार ही प्रतीत होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हम काल–तत्पर अवश्य रहे हैं, हमारे यहां काल–पूजा की परम्परा रही है किन्तु कालतत्त्व के विषय में चिन्तन करने पर उसकी अनिर्वचनीयता ही स्वीकार करनी पड़ती है, और कोई उपाय नहीं। परन्तु काल को अनिर्वचनीय स्वीकार करते हुए भी हम काल के उपासक रहे हैं और उसकी उपासना करते रहे हैं। हमारी परम्परा में काल की उपासना का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसी का आदर आपकी संस्कृत शोध परिषद् ने इस संगोष्ठी के माध्यम से किया है, इसलिए मैं आप सबको बधाई देना चाहूंगा और मैं अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली मानता हूं कि आप लोगों ने मुझे भी इस काल–उपासना के महासत्संग में सम्मिलित होने का अवसर दिया।

रामकरण शर्मा

कालतत्त्व-चिन्तन

कालतत्त्व चिन्तन की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण आयाम है। वैदिक वाङ्मय में सृष्टि से सम्बद्ध सूत्रों में निरवधि काल का वर्णन रूपक की भाषा में तमस् के रूप में या फिर तम वाली रात्रि के रूप में हुआ है। नासदीय सूक्त में कहा गया है-

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।।

ऋग्वेद १०/१२०/३

निरवधि देशरूप अव्यक्त जल निरवधि काल रूप तम से बिना किसी सीमान्त के फैला हुआ था। यह तमस् और कुछ नहीं, तीव्र आकांक्षा है फैलने की, कुछ और नया होने की, कुछ नया रचने की। उसी ने अनन्त देश, निरवधि काल के तट की तलाश की और वहां सान्त सावधि देशकाल में नयी सृष्टि के बीज डाले।

अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त (19/53) कालतत्त्व की व्याख्या है। इसमें कई महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ बीज रूप में मिलती हैं। सूक्त इस प्रकार है-

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।

तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्राः भुवनानि विश्वा।।

कालरूपी घोड़ा सात लगामों से (सात ऋतुओं से) नियंत्रित दौड़ा चला जा रहा है। उसकी हजार आँखें हैं, वह सब कुछ देखता रहता है। वह कभी बूढ़ा नहीं होता, कभी थकता नहीं, उसका बल-वीर्य कभी कम नहीं होता। उसके ऊपर पीछे न देखने वाले मनीषी रचनाकार ही सवारी कर सकते हैं। समस्त भुवन और उनके समस्त प्राणी इस कालरूप अश्व से खिंचे रथ के पहिए हैं, वे भी काल की गति के कारण घूमते रहते हैं, घूमते-घूमते आगे बढ़ते रहते हैं।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।

स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥

काल के सात पहिए हैं, उनकी सात नाभियाँ हैं, अमृतत्व ही उनकी धुरी है। काल ही समस्त भुवनों को, नये उभरने वाले ब्रह्माण्ड के अंगों को प्रकाश में लाता है। क्योंकि काल क्रिया है, क्रिया में ही अमृततत्त्वों का कुछ रूप समझ में आने लगता है। इसी रूप में काल प्रथम दिव्यशक्ति के रूप में आवाहित होता है–

पूर्णः कुम्भोऽधिकाल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।

स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन्।

काल में ही पूर्णकुम्भ रखा हुआ है, दूसरे शब्दों में अमृतकलश नश्वर काल के ऊपर ही अधिष्ठित है। अमरता नश्वरता में ही आधृत है। हम उस काल को यहाँ, वहाँ सब कहीं एक साथ देखते हैं। समस्त सत्ताओं और समस्त भावों को सामने उपस्थित करने वाला काल सबसे ऊँचे आकाश में ऊँचे सिंहासन पर विराजमान है, मानो वह सबको जाँच -परख रहा हो–

स एवं सं भुवनान्याभरत् स एवं सं भुवनानि पर्यैत।

पिता सन्नभवत् पुत्र एषा तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः।

उसी काल ने पूरे विश्व और उसमें घटने वाले व्यापारों को एकत्र कर रखा है। काल इन सभी के भीतर से गुजरती रहता है। वह सबका पिता भी है, पुत्र भी है, पिता इसलिए कि काल ही रचता है, पुत्र इसलिए कि घटना-रचना का सम्प्रेषण भी काल है। काल से अधिक कोई तेजस्वी नहीं है।

इस सूक्त में काल की व्यापकता, गतिशीलता और सब व्यापारों की प्रेरकता का निदर्शन तो कराया ही गया है, काल का अतिक्रमण करने वाले रचनाकार से एक अपेक्षा की गयी है। वह पीछे न देखे, वह तेजी से गुजरते समय को अपने वश में रखकर अपनी दिशा की ओर ले जाना चाहता है, तो आगे देखे, पीछे मुड़कर न देखे। जो पीछे था, वह काल में ही समाया हुआ है। महाभारत में ऐसी ही दृष्टि की अपेक्षा राज्य -व्यवस्था चलाने वाले से की जाती है, जब यह कहा जाता है–**'राजा कालस्य कारणम्'** राजा ही काल का कारण होता है। इससे यह स्पष्ट दर्शित होता है कि भारतीय चिन्तन अतीत में भटकने वाला, अतीत का अतिक्रमण करने वाला चिन्तन है। काल की भूमिका वैदिक वाङ्मय में सबसे अधिक इसी कारण से है कि समस्त अनुष्ठान, समस्त घटनाक्रम, समस्त देवता काल में ही अवस्थित हैं। सबका समय निश्चित है। काल लोक को संचालित

करता है और लोक का अतिक्रमण भी करता है। दूसरे शब्दों में सावधिकाल में घटनाएँ घटती हैं और सभी घटनाएँ निरवधि काल में समा जाती हैं, कुछ नयी होने के लिए।

इसलिए एक काल सूर्य के पहले है, वह अछोर है; एक काल सूर्य के बाद है, वह सावधि है। कभी-कभी काल को सूर्य भी कहते है, कभी-कभी सूर्य को कालप्रिय कहते हैं। उत्तर प्रदेश का कालपी कालप्रियनाथ का स्थान था, आज वही कालपी हो गया है। सूर्य से आरब्ध होने के कारण काल संवत्सर होता है, मास होता है, दिनरात होता है, मुहूर्त होता है, पल-विपल होता है। पलक झिपने का समय निमिष होता है। काल ही ऋतुचक्र होता है और यह ऋतुचक्र जीवनचक्र का ही प्रतिरूप होता है, जन्म, कैशोर्य, यौवन, प्रौढावस्था, जरा -मृत्यु यही सब क्रम तो वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमन्त बनता है। इसलिए संवत्सर को यज्ञ कहा गया है– **संवत्सरो वै यज्ञः**, इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार काल गति-प्रवृत्ति और निवृत्ति (तीन व्यापार आरम्भ, पूर्ण सक्रियता और कार्य का समेटना), इन तीन व्यापारों को जोड़ता है, इनकी सन्धि बनता है (शांखायन ब्राह्मण)। उसी प्रकार यज्ञ भी सृष्टि, स्थिति, संहार का ही पुनर्भावन है। दीक्षित होकर अपने निज को छोड़कर व्यक्ति या व्यक्तिसमूह यज्ञ का आरंभ करते हैं। यज्ञ का अनुष्ठान दिव्यशक्तियों को सक्रिय करने के लिए होता है। यज्ञ समाप्ति पर दीक्षित अवभृथ स्नान कर अपने प्रकृत भाव में लौट आता है। यज्ञ एक तरह से प्रत्येक सर्जनात्मक व्यापार का प्रतिरूप बना, माडल बना, इसीलिए भरतमुनि ने नाट्य को चाक्षुष यज्ञ कहा, वास्तुकार, शिल्पी और चित्रकार सभी अपनी रचना को यज्ञ मानकर अपने निजत्व का परिहार करते हैं, रचना के बाद वे पुनः निजत्व में प्रवेश करते हैं, उनकी रचना समष्टि के जीवन-व्यापार को सक्रिय और समंजस करने के लिए होती है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय होगा कि काल शब्द जिस धातु से बना है, उसके कई अर्थ हैं, एक तो गिनाना, गणना करना, नाम देना, दूसरा खण्ड-खण्ड करना, तीसरा, जोड़ना, चौथा ग्रसना और पाँचवाँ अर्थ है, व्युत्पत्तिशास्त्री काल का संबन्ध कर=करना और चर=चलना से भी करते हैं । इन सभी अर्थों का समाहार काल शब्द में है, जो सावधि या खण्डकाल के रूप में है वह कलनात्मक है, गणनात्मक है, क्रियात्मक है और जो निरवधिकाल के रूप में है वह सबको समेटने वाला है (सबको संहृत करने वाला है) इसीलिए इस रूप को महाकाल भी कहते हैं। शिव को संहारकर्ता मानते हुए महाकाल कहते हैं, महाकाली को संहारिणी शक्ति के रूप में देखते हैं। साथ ही इन दोनों में कृपा (जिसका मूल अर्थ रचना है) विपुल मात्रा में है। बौद्ध साधना का एक रूप ही कालचक्र-साधन कहा जाता है। साधना भी रचना की तरह नया जन्म और साथ ही साथ आनुष्ठानिक मृत्यु ही है। तन्त्रों की साधना का प्रारम्भ संकोच, शरीर

को दुखाने, जलाने और पुनः शिवमय शरीर के रूप में उत्पन्न होने और शिवशक्तिमय होकर समरस होने की भावना से होती है। यज्ञ भी अपने को देवता बनाकर प्रारम्भ किया जाता है। स्वना मात्र अपने स्व का उत्सर्ग करके ही सम्पन्न होती है तो सार्थक होती है, तभी वह अपने विशालतर समुदाय तक पहुँच पाता है।

मैत्री उपनिषद् (६/१४/१५) में यही बात बहुत सुन्दर ढंग से कही गयी है-

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्च, ब्रह्म के दो ही रूप हैं, काल और अकाल। जो आदित्य या सूर्य के पहले है, वह अकाल, वह अकल है (उसके खंड नहीं हैं वह अविभक्त है) जो आदित्य के बाद है (अर्थात् जो सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने से या सौरमंडल के किसी और बड़े नक्षत्र मंडल के चारों ओर घूमने से परिभाषित होता है), वह काल है, सकल है (उसमें खंड हैं, उसमें गणना है, उसमें हिसाब है) यह सकल काल संवत्सर या वर्ष होता है। इसी से सृष्टि का प्रारंभ होता है, काल में ही काल से ही सृष्टि होती है।

महाभारत (१२/२१७/५१–५३) में एक कालप्रेरित विश्वदृष्टि है कि कोई भी काल से बच नहीं सकता। काल अग्नि है, जीवन में ऊष्मा देता है, यही तमाम दुःख सुख भस्म करता है। यह समस्त सत्ता का नियामक है। यही प्राणियों की गति है-

गतिर्हि सर्वभूतानाम्

इस कालतत्त्व ने हमारे सम्पूर्ण जीवन और रागबोध (हमारी एस्थेटिक संवेदना) को कैसे प्रभावित किया है, यह हम आगे बतलायेंगे, पर पहले काल के मूर्त्त विग्रहों की चर्चा करेंगे। काल का एक रूप है, अनन्त, जिसे शेषनाग भी कहते है, शेष भी कहते हैं, वही शेष स्थिति के अधिष्ठाता विष्णु की शय्या है। अनन्त के ऊपर अनन्तात्मा विराजमान है, उनकी नाभि से कमल फूटता है और कमल में से कमलासन ब्रह्मा जन्म लेते हैं, वही सम्पूर्ण साकार सगुण सृष्टि के विधाता हैं। शेष रूप में काल सहस्त्र फण हैं और उनके गुंजलक के सहस्र पटल हैं-सहस्त्र का अर्थ है अगणित।

काल का दूसरा लघुरूप है शंख, जो दक्षिणावर्त्त है, उसकी ऊपर की वर्तना-रेखाएँ दाहिनी ओर गोलाकार मुड़ती हैं, पर कहीं बंद नहीं होतीं। यह भी विष्णु के हाथ की शोभा है, काल का तीसरा रूप है शिव के हाथ में बजने वाला डमरू, जिसका निनाद संहार की सूचना देता है, काल का तीसरा रूप है लहरदार बेल, जिसके बीच-बीच में फूल हैं, पक्षी हैं, उनका कलरव है।

इनके अलावा मृत्यु के देवता के रूप में यम हैं। यह आदित्य के ही पुत्र हैं, यह आदिम मनुष्य वैवस्वत मनु के सहोदर हैं। इनका एक नाम धर्म भी है। वैदिक

वाङ्मय में यम पितृलोक के अधिष्ठाता हैं। इसके साथ ही वे आत्मज्ञान के उपदेष्टा भी हैं। नचिकेता ने मृत्यु के देवता यम से ही (नाचिकेत के नाम से बाद में प्रसिद्ध) अग्निचयन(प्रतीकात्मक निजत्व की आहुति) की प्रक्रिया सीखी, इसके अनन्तर आत्मज्ञान की प्रक्रिया सीखी। कठोपनिषद् में यह कथा मनोरम ढंग से दी हुई है। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि मृत्यु के द्वार से ही जीवन के परम अर्थ को समझा जा सकता है, मृत्यु के भय को नकार कर ही जीवन का अर्थ ग्रहण किया जाता है। **श्वोभाव** (कल तक टिकने वाले भाव) को ठीक तरह देख लेते हैं परख लेते हैं; तभी तो ऐसे भावों के परे भाव के लिए उदग्र आकांक्षा होती है। नचिकेता यम के सभी प्रलोभनों को ठुकरा देता है, रहने दें, ऐश्वर्य के सामान, रथ, मणिमालाएँ और सुरूपवती स्त्रियाँ। मुझे वह प्रकाश दिखलाइए जिसकी ये छाया मात्र हैं।.

पुराणों में काली की अनेक कथाएँ हैं, उनके अनेक रूप हैं- वे श्मशानवासिनी हैं, चामुण्डा हैं, मुण्डमालधारिणी हैं। रक्त से भरा कपाल लिये घूमती रहती हैं। निर्वसन हैं, भयावह हैं और इसके बाद करुणासिन्धु हैं, प्रेमसिन्धु हैं। एक पौराणिक आख्यान के अनुसार वे स्त्रीरूप में शिव का प्यार पाकर संतृप्त नहीं हैं, वे उनसे कहती हैं कि तुम स्त्री बनो, मैं पुरुष बन कर तुम्हारा प्यार पाना चाहती हूँ। शिव अनुरोध मान कर राधा होते हैं, काली श्रीकृष्ण तब जाकर वे मर्म समझती है कि पुरुष में जब स्त्रीभाव आता है तो वह कितना बड़ा आनन्द-सिन्धु बन जाता है। काली कृष्ण न बनतीं तो ऐसे एकनिष्ठ प्यार का मर्म न समझतीं। यह कथा भी एक तरह कालतत्त्व के जोड़ने वाले और तोड़ने वाले उभय पक्षों को इस प्रकार गूंथने का ही मनोरम उपाय हैं।

हम अपने जीवन में इसी भरपूर काल को जीते हैं। हम इतिहास की तोड़ने वाली निर्ममता और निर्ममता की प्रतिक्रिया में नहीं जीते, हम काल के वृत्त में फँसी हुई विवशता में भी नहीं जीते, हम जीते हैं तोड़ने के व्यापार को चुनौती मानते हुए, काल की विवशताओं के गुंजलक से छूटने की कोशिश करते हुए, काल की सन्धिनी (जोड़ने वाली) शक्ति को आत्मसात् करते हुए सम्पूर्णता के अनवरत प्रयत्न में। हम सम्पूर्ण हों, न हों, सम्पूर्णतर होने की आकांक्षा रखें, जिससे कि कोई हमारा पराया न हो, एक भी पराया रहेगा, तो हम खण्डित ही रहेंगे, अधूरे ही रहेंगे। दार्शनिक और वैज्ञानिक स्तर पर भी हमारी काल की समझ इसी भाव की पुष्टि करेगी।

अब दर्शन, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में चलें। प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) दर्शन तो काल की पारमार्थिक सत्ता नहीं स्वीकार करते, यह उनकी स्थापना के अनुकूल ही है। वेदान्ती मोक्ष की अवस्था में न शरीर की स्थिति देखते है, न धर्म -अधर्म की न उनके कार्य की और न ही काल-त्रयी की-

काल का अतिक्रमण और विजड़ीकरण या दूसरे शब्दों में काल की अप्रासंगिकता स्वप्नावस्था में सबसे अधिक प्रमाणित होती है, जब कि स्वप्न में देखी घटनाओं के काल और व्यवहारिक काल में कोई भी संबंध नहीं दिखायी पड़ता ।

शैवप्रत्यभिज्ञादर्शन भी प्रत्ययवादी है। वह दर्शन काल के क्रमात्मक रूप और अक्रमात्मक (महाकाल या निरवधिकाल) रूप को एक साथ परम सत्ता में प्रवाहशील देखता है। जैसे किसी चित्र में कई घटनाएं एकसाथ एक समय दिखती हैं, उसी प्रकार परासत्ता रूप शुद्ध चैतन्य में काल की क्रमिकता नष्ट हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि काल अपने आप में सत् नहीं है, वह पारमार्थिक सत्य नहीं है। वह चैतन्य को पाकर ही सत्य रूप से आभासित होता है।

सांख्यदर्शन काल को अलग तत्त्व नहीं मानता। युक्तिदीपिका (सांख्यकारिका पर टीका, ५० वें श्लोक पर) में कहा गया है कि-

न कालो नाम कश्चित् पदार्थो अस्ति।
किं तर्हि क्रियासु कालसंज्ञा। ताश्च करणवृत्तिः।

काल क्रिया से भिन्न नहीं है और क्रिया इंद्रियों की वृत्ति या चेष्टा मात्र है, काल इसलिए इंद्रियों में ही समाविष्ट है और इंद्रियां अन्ततः प्रकृति तत्त्व में। आध्यात्मिक या शून्यवादी बौद्ध और योगाचारवादी या विज्ञानवादी बौद्ध भी काल की निरपेक्ष सत्ता नहीं स्वीकार करते। माध्यमिकों का तर्क है कि यदि अतीत की कल्पना किये बिना वर्तमान और भविष्य की सिद्धि नहीं होती, तो अपने आप वर्तमान और भविष्यकाल की कोई सत्ता नहीं होगी। तब अतीत भी अपने आप निरपेक्ष रूप से असत् हो जायेगा।

अनपेक्ष्यः पुनः सिद्धिर्नातीतं विद्यते तयोः।

प्रत्युपन्नोऽनागतश्च तस्मात् कालो न विद्यते।। माध्यमिक कारिका १९/३

फिर तर्क किया जाता है- क्षण के बाद रहने वाला कोई सत् या वास्तविकता है नहीं। तो काल अवास्तविक वायु पर आश्रित होने के कारण अपने आप अवास्तविक हो जायेगा।

बौद्ध दर्शन इस प्रकार काल, आकाश और जीव सबको संवृति या आवरण मानता है, इन्हें शुद्ध रूप से वास्तविक नहीं मानता। काल की केवल व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करता है।

इसी प्रकार योगदर्शन, शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन और वेदान्त दर्शन भी काल को व्यवहार दशा में ही प्रवर्तमान मानते हैं। शैव प्रत्यभिज्ञा तथा शाक्ताद्वैत दर्शन काल को पांच आवरणों में से एक मानते हैं। पांच आवरण हैं माया, अविद्या, काल, कला और नियति। ये सभी असीम सत्ता को ढकने या परिसीमित करने वाले हैं। योगदर्शन काल को केवल क्षणों का क्रम मानता है, क्षणों से बाहर इसकी सत्ता नहीं है। इसके अनुसार उस क्रम को, व्यवहारदशा को मानना ही पड़ता है, उस क्रम से गुजर करके ही अक्रम की स्थिति में पहुँचना संभव होता है।

दूसरी ओर शुद्ध व्यवहारवादी दर्शन हैं- न्याय, मीमांसा, जैनदर्शन, द्वैतवादी, वैष्णवदर्शन, व्याकरण दर्शन और आयुर्वेद दर्शन। ये सभी काल की अत्यधिक सत्ता किसी न किसी रूप में मानते हैं। न्याय और मीमांसा काल को द्रव्य मानते हैं। आयुर्वेद भी पंचतत्त्वों, मन, काल, आत्मा और दिक् को द्रव्य मानता है। (चरकसंहिता १-१८) व्याकरण महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि काल को पदार्थों के उपचय (बढ़ने) और अपचय (घटने) का कारण मानते हैं। इस रूप में उसकी आत्यन्तिक भूमिका स्वीकार करते हैं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि काल ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के प्रति कारण है। वह स्वयं अविभक्त होते हुए भी भूत, वर्तमान और भविष्यत् रूप में त्रिधा विभक्त है। यही काल लोकयंत्र का सूत्रधार है, यही रोकता है यही आज्ञा देता है, चलो और लोक चल पड़ता है-

उत्पत्तौ च स्थितौ चापि विनाशे चापि तद्वताम्।

निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मनास्थितम्।

तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते।

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते।। वाक्यपदीय ३/९/१३-४

मीमांसा दर्शन ने काल को द्रव्य मानने के साथ-साथ समस्त ज्ञान के प्रति कारण माना है। गौड़ीय दर्शन काल को चार शाश्वत सत्यों में से एक सत्य मानता है। जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में काल को वर्तनालक्षण (परिवर्तन लाने वाला) कहा गया है। (उ०अ०सू०२८/१०) उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के भाष्य में इसी की पुष्टि करते हुए कहा कि **'वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वावापरत्वे च कालस्य'** (५/२१-२२) काल और कुछ नहीं, परिवर्तन करने का स्वभाव है, क्रिया का घटित होना है, क्रिया का पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती होना है, गति है। काल की जैन अवधारणा इस प्रकार काल को न तो अस्वीकार करती है, न इसे आत्यन्तिक रूप में स्वीकार

करती है, इसकी स्थिति बीच में है। यह काल की एक अन्त्य इकाई, समय या अद्धा मानती है, जिसको मापा नहीं जा सकता, जिसको विश्लेषित नहीं किया जा सकता।

ज्योतिषशास्त्र तो काल में ही यज्ञ की स्थिति मानती है और वेद यज्ञ के लिए है, अत: उस काल की प्रक्रिया बतलाने के लिए ज्योतिष शास्त्र की आवश्यकता है–इसे जो जानता है, वही पूरी तरह जानता है।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताःकालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेदविद्वान्।

(वेदांग ज्योतिष ३)

सूर्यसिद्धांत में भास्कराचार्य ने इसी सिद्धांत को और व्यापक व्यवहार में लेते हुए इस रूप में प्रतिपादित किया कि काल के दो रूप हैं, एक है लोकों को समेटने वाला, दूसरा है कलनात्मक (खण्डात्मक, अलग-अलग पटलों में विकसने वाला)। कलनात्मक काल सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार का है, जिन्हें क्रमशः मूर्त्त और अमूर्त्त काल भी कहते हैं। श्वास की अवधि के माप से शुरू होकर जो काल गिना जाता है वह मूर्त्त है। क्योंकि वह अनुभवगोचर है। उससे सूक्ष्मतर काल की जितनी अवधियां हैं, जिनमें सबसे अन्त्य इकाई त्रुटि है, अमूर्त्त है, वे अवधारणात्मक हैं–

लोकानायत्रकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।
सद्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वात मूर्तश्चामूर्तसंज्ञकः।।
प्राणादिः कथितोऽमूर्तः त्रुट्याधोमूर्त्तसंज्ञकः।। (सूर्यसिद्धांत १/१०-१२)

इन सभी विचारों को संकलित करें, तो तीन प्रकार की अवधारणाएं हमारी चिन्तन परम्परा में मिलती हैं–

1. काल स्वतंत्र द्रव्य है (न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, कुछ संशोधित रूप में जैन दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद तथा कुछ बौद्धदर्शन के सम्प्रदाय)।

2. काल एक निरपेक्ष सत्ता है (द्रव्यमात्र नहीं) जिसे वैष्णव दर्शन मानते हैं। कुछ दर्शन जैसे शाक्त और भागवत दर्शन काल को सर्जनात्मक शक्ति मानते हैं।

3. काल एक भ्रम है, आभास है। अद्वैत वेदान्त और माध्यमिक बौद्ध। पर ऐसा मानने वाले भी काल की व्यावहारिक प्रतीति स्वीकार करते हैं।

इसका निष्कर्ष यह है कि भारतीय चिन्तनधारा काल के व्यवहारपक्ष को स्वीकार इसलिए करती है कि कर्म की अपरिहार्यता सभी जानते हैं। इसके साथ सभी इस प्रकार

के काल या कालातीत काल या अकाल या महाकाल या महाकाली या महामाया या अनिर्वचनीय स्थिति की कल्पना भी करते हैं जहाँ सब क्रियाएं विलीन हो जाती हैं, सब कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं या भावाग्नि द्रव बन जाते हैं। वेदों में उसे एक ठहरा हुआ सूर्य कहा गया, योगप्रज्ञा में उसे समाधि की चरम अवस्था कहा गया, बौद्ध योग में 'नासंज्ञानैवसंज्ञासमाधि' कही गयी (जहाँ सत् असत् किसी की स्थिति नहीं होती) भक्तियोग में इसे महाभाव कहा गया, साहित्यशास्त्र, कलाशास्त्र एवं संगीत आदि शास्त्रों में इसे योगी के संवेदन से विलक्षण विषयों में रहते हुए विषयों के विषयी बनाने की स्थिति या दूसरे शब्दों में पूर्ण चैतन्य की रसात्मक स्थिति कहा गया। सामान्य दैनिक जीवन में भी ऐसे क्षण का अनुभव हम करते रहते हैं, हम हैं नहीं, हम खो गये हैं, हम कुछ दूसरा हो रहे हैं, हम लुट रहे हैं, हम खाली हो रहे हैं, हम भर रहे हैं, हमको पता नहीं हमें क्या हो रहा है, पर हम पूरे होश में हैं, शायद सही होश में हैं, जब और वस्तुओं का, देश का, काल का होश नहीं रह जाता। इसलिए यद्यपि ऊपर से देखने पर विभिन्न काल-दृष्टियों में विरोध दिखायी पड़ता है, पर वह विरोध है नहीं, वह अलग-अलग धरातलों से काल को देखने की बात है।

हमारी सर्जनात्मक प्रतिभा काल को निचोड़ कर उसे अमृत बनाती रहती है। इसीलिए वह स्वभाव से आख्यानप्रधान है। साहित्य भी आख्यान (नैरेशस) है, घटनाओं और पदार्थो का क्रम ऐसे स्थापित करना है कि वे सब मिलकर एक समग्र दिखें। हमारे साहित्य का स्रोत हैं आख्यान। आख्यान के रूप में ही हमारे मिथक बनते हैं, वे बढ़ते हैं और पूर्णतर होते चलते हैं। आख्यान के सांचे में ही संगीत, नृत्य और नाट्य की प्रस्तुतियाँ होती हैं। भारहुत साँची, अमरावती, गान्धार, मथुरा, अजंता, एलुरा, महाबलीपुरम् या दूर देशांतर में बोरोबुदुर, अंकोरवाट, प्राम्बनम् या थाईलैंड की अयोध्या या अपने देश की लोकभित्ति कल्पना। सभी जगह आख्यान चाहे रामायण के हों, महाभारत के हों, बौद्धजातकों के हों, रूपायित हैं। ये रूपायन घटनाओं को अलग-अलग करके नहीं रखते, बल्कि इस रूप में रखते हैं कि घटनाएं एक प्रवाह में पड़ी हैं, रूपायन प्रवाह का है, अलग-अलग घटना का नहीं। इसीलिए घटनाओं के बीच में हस्तक्षेप भी होता रहता है, कभी कथावाचक आ जाता है, कभी कथा का आगामी सूत्र आ जाता है, कभी कथा की पिछली बिसरी कड़ी आ जाती है। वही बात संगीत-रचना में है, हमारा संगीत पाठाश्रित है, इसलिए अमूर्त होता हुआ भी मूर्त रहता है, पाठ भी कोई न कोई आख्यान समेटे रहता है। उदाहरण के लिए मल्हार में पद गाया जा रहा है– कुंजन में दोऊ भीगत आवत। राधा-कन्हाई का भीगते हुए कुंजों से लौटना घटना के रूप में बाद में ही, पर यही मुख्य केन्द्र बन कर पहले आता है। क्रम में कन्हैया द्वारा राधा को बचाने की कोशिश में स्वयं भीगना, राधा के ऊपर आंचल उढ़ाना और राधा का कन्हैया के ऊपर ओढ़नी डालना पहले हैं, पर संगीत शुरू होता है और इसी में अन्त

भी होता है। कारण यह है कि एक-दूसरे के लिए अपने सुख का विसर्जन इसीलिए तो है कि भींगना दोनों का हो, केवल ऊपर की वर्षा से नहीं, भीतर की भावधारा के उमड़ाव से भी भींगने की क्रिया अलग-अलग दिखे। रामायण, महाभारत और पुराणों की संरचना पर विचार करें, तो देखेंगे कि कई वाचक हैं, कई श्रोता हैं। कहानी के केवल पटल खुलते हैं, कहानी पहले से मौजूद है, कहानी की स्मृति से (जो निश्चय ही कहानी के बाद की स्थिति है) और कहानी की रसमयता से कहानी का आरम्भ या कहानी के अन्त से कहानी का आरम्भ (जैसे महाभारत में जनमेजय के नागयज्ञ से या श्रीमद्भागवत में महाभारत युद्ध की समाप्ति और श्रीकृष्ण के द्वारका लौटने से किया जाता है) यही सूचित करता है कि केन्द्र में केवल घटनाक्रम का विवरण नहीं, केन्द्र में है आख्यान, जिसका शाब्दिक अर्थ है पूरे रूप में प्रकाशित करना। हमारे तथाकथित मुक्तक भी मन की अलग-अलग स्थितियों के आख्यान हैं, जहां पूरे प्रसंग की मुआयना न की जाये, तो अर्थ अधूरा रहता है। उदाहरण के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु का एक प्रिय श्लोक लें–

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।

सर्वाण्यंगानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम्।।

प्रिय के सामने आने पर उनकी बात सुनते समय यह पता नहीं चलता कि सभी इन्द्रियां आंख बन जाती हैं या सभी इन्द्रियाँ कान बन जाती है। देखना पहले होता है और सुनना बाद में, पर प्यार की एक ऐसी स्थिति है जहां क्रम का ज्ञान नहीं रहता,बस प्रिय में मग्न होना ही महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

इस श्लोक में भी घटनाक्रम है पर उसका महत्त्व नहीं है। हम कादंबरी या कथासरित्सागर की कहानी पढ़ें तो ऐसा लगेगा कि घटनाएं (बीती और आने वाली सभी) परस्पर गुंथ गयी हैं, केवल दुर्निवार प्यार की निरन्तरता इस एक-दूसरे में लिपटी वनरात्रि के बीच में बढ़ती जा रही है।

रामचरितमानस में भी ऐसी ही संरचना मिलती है। शिव की कथा में याज्ञवल्क्य आते हैं और याज्ञवल्क्य की कथा में पुनः शिव उपस्थित हो जाते हैं, केवल वाचक बन कर नहीं, कथा के प्रतिभागी बन कर। उदाहरण के लिए सुन्दरकाण्ड में सीता के पास से लौटे हनुमान जब सीता की विपत्ति की अकट कहानी की बात करते हैं, तो राजीवनयन राम की आंखों से आंसू बहने लगते हैं।

हनुमान को लगता है गलती हुई। कहीं राम का ध्यान करने वाला सपने में भी विपत्ति का अनुभव करेगा। वे भूल स्वीकार करते-करते भावविह्वल हो जाते हैं और विह्वलता की कथा सुनाते-सुनाते शिव समाधि में चले जाते हैं। कथासूत्र तुलसीदास

जी को स्वयं संभालना पड़ता है क्योंकि शिव की समाधि भी कथा का अंग है। कथा सुनाने में भी है कथा सुनने में भी है। इस कथा का ओर-छोर नहीं है, **'रामकथा के भिति जग नाहीं।'**

काल के सघन क्षण की अनुभूति काल से इस प्रकार बाहर जाती रहती है। इस दृष्टि के रहते इतिहास रहता तो है, पर वह बोझ नहीं बनने पाता। उसके कन्धों पर कोई दूसरा निरन्तर धावक भावसवार हो जाता है। यही कारण है कि राजतरंगिणी जैसे मानक इतिहास ग्रन्थ हमारे यहां लिखे गये, पर हमने अपने को इतिहास की प्रतिश्रुतियों से और उन प्रतिश्रुतियों के फलस्वरूप उपजी प्रतिहिंसाओं से बांधा नहीं। हमने निरन्तर अपने वर्तमान से ही अतीत को प्रमाणित किया और भविष्य को सुनिश्चित किया। हम लोग इतिहास की न उपेक्षा करते हैं, न उसकी ऐसी अपेक्षा करते हैं कि उसे जीवन का केन्द्रीय भाग मान लें। हम उसे उचित स्थान में रखते हैं, कभी आवश्यकता होती है, तो वह बस्ता खोल लेते हैं, जिसमें इतिहास को हमने बांध कर रखा है। आज हमारा मन ऐतिहासिकता के आतंक से थोड़ा ग्रस्त हो चुका है, उसे सम्पूर्णतर होने के लिए अपनी चिन्तनधारा के इतिहास का भी आकलन करना चाहिए।

विद्यानिवास मिश्र

करुणया परावबोधार्थं शास्त्रप्रणयनम् । – चन्द्रकीर्तिः

वैदिकं कालविज्ञानम्

पं. चन्द्रकान्त बाली

अथ प्रथमोऽध्यायः

या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।

वेदशास्त्र भारतीय संस्कृति के आलोक–स्तम्भ हैं। वेद स्वतःप्रमाण हैं। वेद के किसी तत्त्व को प्रख्यापित करने के लिए किसी अन्य साधनान्तर की अपेक्षा नहीं है। जब वेद जिस विषय पर अपना अभिमत सु–प्रतिष्ठित करता है, वह अभिमत सभी दृष्टियों से अन्तिम ही होता है । इसी परिवेश में वेद ने सर्वप्रथम **काल-विज्ञान** पर जब अपना ठप्पा लगा दिया, वह प्रत्येक अवस्था में अन्तिम और अपरिवर्तनीय है । परन्तु धर्माचार्यों ने ज्योतिष शास्त्र में तथा पुराणों में पुराणपन्थियों ने कालविज्ञान को अपने ही तौर–तरीकों से सुस्थापित किया है। परिणामतः **वेदशास्त्र तथा पुराण एवं धर्मशास्त्रों में टकराव की स्थिति पैदा हो गई है।** यह भारतीय संस्कृति की स्वस्थ पहचान नहीं है । धर्मशास्त्र–धुरन्धर इस दिशा में अत्यधिक जागरूक धर्माचार्य यज्ञ–यागादि कर्मकाण्ड से–जो सीधे कालविज्ञान पर अवलम्बित थे–जुड़े हुए थे । अतः उनकी सावधानी और निर्णायक स्थिति उचित है। आज भी धर्माचार्यों की यह स्थिति सुरक्षित है । परन्तु पुराण–शास्त्रियों ने कालविज्ञान को परिभाषित करते हुए अत्यधिक मनमानी का परिचय दिया है।

धर्मशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र तथा पुराणशास्त्रों में पहुंचकर काल–विज्ञान का समरस रहना संभव भी नहीं था। वही हुआ, जिसकी आशंका थी। परन्तु **अपने विषम क्रिया-कलापों के बावजूद परिणामस्वरूप अ-विषम फलागमों से जुड़े काल-विज्ञान के विशाल दायरे में दरार कहीं नहीं है।** भारतीय काल–विज्ञान का यही चमत्कार संपूर्ण विश्व को अपनी ओर आकृष्ट किए हुए है । इसी संदर्भ में कतिपय विषम–क्रियाकलापी काल–विज्ञान के समरस फलागमों (परिणामों) का आस्वादन लेंगे।

– प्रथम अनुच्छेद –

भारतीय ज्योतिषविषयक आर्षग्रन्थों में तथा पुराणशास्त्रों में परम्परागत सन्धिवर्ष गणना **वैदिक सन्धिवर्ष-गणना** से बिल्कुल अलग–थलग है। पौराणिक कालगणना में कदाचित् दो महायुगों के मध्य सन्धिकाल माना है। क्वचित् खण्डशः विभक्त दो युगों के मध्य सन्धिकाल स्थापित किया है। **प्रायः सर्वत्र दो मन्वन्तरों के मध्य सन्धिकाल सर्वमान्य है।** एक सन्धिकाल कृतयुगीन वयोमान (१७,२८०००) के रूप में स्वीकृत है ।[1] यदि इसे गणना–फलक पर उतारना चाहें, तो वह इस प्रकार होगा–

---

१. पूर्वे स्वायंभुवे सर्गे तद् वक्ष्याम्यनुपूर्वतः।
अन्तर्हितायां संध्यायां सार्ध कृतयुगेन तु।। ब्रह्माण्ड, १/२/३०/६

*** कल्पादि सन्धि**[1] = १७,२८,००० +
१. स्वायंभुव मन्वन्तर = ३०,६७,२०,००० +
सन्धिवर्ष = ००,१७,२८,००० +
२. स्वारोचिष मन्वन्तर = ३०,६७,२०,००० +
सन्धिवर्ष = ००,१७,२८,००० +
३. उत्तम मन्वन्तर = ३०,६७,२०,००० +
सन्धिवर्ष = ००,१७,२८,००० +
४. तामस मन्वन्तर = ३०,६७,२०,००० +
सन्धिवर्ष = ००,१७,२८,००० +
५. रैवत मन्वन्तर = ३०,६७,२०,००० +
सन्धिवर्ष = ००,१७,२८,००० +
६. चाक्षुष मन्वन्तर = ३०,६७,२०,००० +
सन्धिवर्ष = ००,१७,२८,००० =

एक अरब, पच्चासी करोड़, चौबीस लाख, सोलह हजार = १,८५,२४,१६,००० सौर वर्ष।

मनुसृष्टि – इसके पश्चात् ७वां मन्वन्तर–वैवस्वतनामा–आरम्भ होता है। उसके भी २७ महायुग (समग्र) व्यतीत हो चुके हैं। **२८वां महायुग प्रवर्तमान है।** उसके भी कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग व्यतीत हो चुके हैं। **प्रवर्तमान कलियुग का ५०६५वां वर्ष अतीत में जा चुका है।**

वैदिक काल–गणना इससे भिन्न है। वेदमतानुसार दो मन्वन्तरों के बीचों–बीच **सन्धिकाल अमान्य** है। वेदशास्त्र स्पष्टतया प्रतिपादित करते हैं कि **देवसृष्टि से पूर्व एकसाथ त्रियुगात्मक** सन्धिकाल (१,२६,६०,००० सौरवर्ष) स्थापित है और **मनुष्यसृष्टि के पश्चात् एकसाथ त्रियुगात्मक** सन्धिकाल संभाव्य हैं। यथा–

पूर्वसन्धि	४३,२०,००० त्रियुगं पुरा X ३ =	१,२६,६०,०००सौरवर्ष
ब्राह्मदिवस	४३,२०,०००X७१X१४ = अथवा ९९४ चतुर्युग	४,२६,४०,८०,०००सौरवर्ष
अपरसन्धि	४३,२०,०००X३ = त्रियुगं पश्चात्	१,२६,६०,००० सौरवर्ष
योग	३+३+९९४ = १००० चतुर्युग	४,३२,००,००,००० सौर

१. (क) महायुगसहस्राणि ऋषयस्तपसि स्थिताः।
वायु पुराण, अ. ११/ श्लोक २.
(ख) कृतत्रेतादियुक्तानां मनोरन्तरमुच्यते।।
ब्रह्माण्ड, १/२/२९/३७
टिप्पणी – मनोरन्तरम् = मन्वन्तर के अन्तर्गत 'अन्तर'अर्थात् 'परिवर्तयुग' अथवा 'पर्यायुग' का ग्रहण करना होगा।
(ग) कृतादिकालचतुष्टयम्। युगम्=महायुगं वा,
हलायुधकोश, पृ॰ ५५२.

इस समग्र काल–आकलन पर दृक्पात करते ही यह निष्कर्ष आसानी से मिल जाता है कि एक ब्राह्मदिवस के लिए जितने सन्धिवर्ष अभीष्ट हैं, उन पर वेदमतावलम्बियों में तथा पुराणपंथियों में मतभिन्नता बिल्कुल नहीं है, अलबत्ता शैली में अन्तर अवश्य है। यथा –

वैदिक सन्धिकाल–	**पौराणिक सन्धिकाल–**
१,२६,६०,००० देवसृष्टि से पूर्व +	कृतयुग–१७,२८,०००X१४सन्धिवर्ष=
१,२६,६०,००० मनु सृष्टि के पश्चात्+	– –
२,५६,२०,००० योग।	**२,५६,२०,००० योग।**

अथ मीमांसा–सन्धिवर्षों के निष्कर्ष पर वैदिक तथा पौराणिक पंडितों में मतैक्य होने पर भी उनकी आकलन – पद्धति पर मतैक्य नहीं है । इस पर हमारा स्पष्ट अभिमत है कि वेदमतानुसार ब्राह्म–दिवसादि सन्धिवर्ष प्रातः ब्राह्म–दिवसान्त सन्धिवर्ष वैज्ञानिक है, जबकि पंचदशधा विभक्त सन्धिवर्षों पर पौराणिक मान्यता वैज्ञानिक नहीं है । इसका कारण और उदाहरण हमारे सामने है। हम अपने समग्र दिवस को २४ घण्टों में विभक्त करते हैं, परन्तु प्रति दो घंटों के अन्तराल पर सन्धिद्योतक मिन्टों का प्रावधान नहीं करते । प्रातःसन्ध्याकाल तथा सायं संध्याकाल को मानते हुए उनके लिए अलग से मिन्टों का ग्रहण नहीं करते। यदि हम पौराणिक सन्धिकाल को अमान्य ठहरा भी लें, तब भी भारतीय कालगणना में विक्षोभ होने वाला नहीं है ।

- द्वितीय अनुच्छेद -

विडम्बना – ग्रस्त सन्धिकाल पर वैदिक मान्यता तथा ज्योतिष ग्रन्थों की मान्यता से उद्भूत टकराव की आहट भी ज़रा सुन लें । भारतीय ज्योतिष परम्परा में **'सूर्यसिद्धान्त'** का बड़ा नाम है । वह आसुर ग्रन्थ आर्षग्रन्थ से निम्नतर नहीं है। 'सूर्यसिद्धान्त' द्वारा स्थापित सन्धिकाल भी कम विवादास्पद नहीं है । सूर्यसिद्धान्त का एक श्लोक है –

''ग्रहर्क्षदैवदैत्यादिसृजतोऽस्य चराचरम् ।

कृताद्रिवेदाः दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः ।।'' १.२४

कृत = ४, अद्रि = ७ तथा वेद = ४, ''अंकानां वामतो गतिः'' के अनुसार लें या न लें, बात एक जैसी है । ४७४ को सौ गुणा किया और फलागम मिला–४७४००; इसे दिव्य संख्या मानते हुए ३६० से गुणित किया–**४७४००X३६० = १.७०,६४,००० सौर वर्ष।**

अतः सूर्यसिद्धान्त के अनुसार –

१. कल्पसंवत्[1] – १,६७,२६,४६,०६४
२. सृष्टिसंवत्[2]– १,६५,५८,८५,०६४ (१६६३ ई०)
=१,७०,६४,००० सौर वर्षीय अन्तराल।

यहाँ नाम अलग–अलग रख लिए हैं– कल्पसंवत् तथा सृष्टिसंवत्, परन्तु व्यवहारतः सन्धिकाल का विवाद ही यहां उट्टंकित है।

वैदिक गणना –	आसुर गणना –
१,२६,६०,००० त्रियुगगणना	१,२६,६०,००० त्रियुगगणना +
– –	कृत–त्रेता–द्वापर ३८,८८,००० +
– –	कलिकालार्धकाल २,१६,००० +=
१,२६,६०,०००	१,७०,६४,०००

अथ मीमांसा–यह आसुर काल–आकलन दोषपूर्ण है । कल्पारम्भ में ही त्रियुग वर्षगणना (१,२६,६०,०००) का सन्धिकाल उभयत्र मान्य है । परन्तु देवसृष्टि के लिए सूर्यसिद्धान्त के यशस्वी प्रणेता ने बहुत थोड़ा समय न्किाला है–३८,८८,००० +२,१६,०००=**४१,०४,००० सौर वर्ष।** कलिकालार्धकाल २,१६,००० वर्ष को छोड़ दिए हैं। जिस पर गंभीर आपत्तियाँ उठाई गई हैं। **पहली आपत्ति यह** है कि कलिकाल के ठीक मध्य में मनुष्यसृष्टि की स्थापना दोषपूर्ण है, **दूसरी आपत्ति** यह है कि ये २,१६,००० वर्ष किस खाते में डाले जाएंगे ? अगर इन वर्षों को सन्धिकाल में डालें– जैसे कि सूर्यसिद्धान्तकार की मान्यता है–तो इसके पीछे कोई सशक्त तर्क भी नहीं है। **सूर्यसिद्धान्त** के प्रति हम अपनी निष्ठा को डगमगाए बिना, उसका पूर्वोक्त पाठ (१. २४) पूर्णतया अमान्य ठहराते हैं।

हमने देवसृष्टि के पश्चात् १२,०५,३१,१०२ ई. पू. में मानवसृष्टि की स्थापना की[3] है, जिसका विवरण अगले अध्यायों में मिलेगा।

– तृतीय अनुशीलन –

कतिपय निष्कर्ष – पूर्वोक्त अनुशीलन–द्वय के परिणामस्वरूप कुछ ठोस परिणाम सामने आए हैं, यथा –

१. **दो कल्पों के मध्य सन्धिकालः** पूर्वपठित वेदमंत्र (१०.६७.१) का आश्रय लेकर तीन युगों के परिमाणवाला मध्यान्तर (**१,२६,६०,०००**) दो कल्पों के बीचोंबीच स्वीकार्य है। यही इस अध्याय का प्रतिपाद्य है।

---

१. वायुपुराण, ६६/२६;

२. सम्पद्यते कृतं तेषु कलिशिष्टेषु वै तदा।
यथा कृतस्य सन्तानः कलिपूर्व–स्मृतो बुधैः।
ब्रह्माण्ड, १/२/३५/१८२.
टिप्पणी–कलिशिष्टेषु=कलिरहितेषु। सन्तानः=विस्तारः। कलिपूर्वस्मृतः= द्वापरपर्यन्तः इत्यर्थः।

३. सप्त पंच च संख्यया। विष्णु

२. **दो मन्वन्तरों का मध्यवर्ती सन्धिकाल** : जैसा कि धर्मशास्त्रों में तथा पुराणसाहित्य में दिखाया गया है, वैदिक मान्यता के विपरीत होने से अमान्य है।

३. **दो महायुगों का सन्धिकाल** : यद्यपि दो महायुगों (चतुर्युगों) का मध्यवर्ती प्रक्षिप्त संधिकाल अमान्य है, तथापि उभयवर्ती काल–खण्डों को लेकर प्रकल्पित सन्धिकाल का पहले से प्रावधान में है। यथा –

युग	सन्धिवर्ष		मूलवर्ष संख्या	सन्धिवर्ष		योग
कृतयुग	४००	+	४०००	+ ४००	=	४८००
त्रेतायुग	३००	+	३०००	+ ३००	=	३६००
द्वापरयुग	२००	+	२०००	+ २००	=	२४००
कलिकाल	१००	+	१०००	+ १००	=	१२००
–	१०००		१०,०००	१०००		१२,०००

यह दिव्य संख्या है। इसे मानुष कालगणना में परिणत करने के लिए ३६० से गुणा करने की आवश्यकता है:

१२०००×३६० = ४३,२०,००० = महायुग

यह सन्धिकाल का संविधान युग एवं आगन्तुक युग का सहगणित काल–संख्या: १००+४०० = ५००×३६० = १,८०,००० पर निर्भर करता है। जो प्रक्षिप्त वर्ष भी नहीं है। बल्कि उभययुगीन वर्षसंख्या के संकलन से प्रादुर्भूत है।

४. दो युगों के मध्य सन्धिकालः महायुगों की भान्ति चतुर्युग के आगे–पीछे स्थापित वर्षसंख्या के समन्वय से यहाँ का संधिकाल मान्य है। इसका प्रमाण भी उपलब्ध है"कलि–द्वापर सन्धौ तु स्थिताः ते पितृदैवतम्"[१], अर्थात् सप्तर्षिगण कलिद्वापर सन्धिकाल में पितृदैवत (मघा) नक्षत्र पर वर्तमान थे । हम जानते हैं–सप्त ऋषियों का मघासंचार ३१७५ ई.पू. से (–१०० =) ३०७६ ई. पूर्व तक वर्तमान रहा । यही दो युगों के मध्य सन्धिकाल वाँछनीय है।

अथ द्वितीयोध्यायः

''शतं तेऽयुतं हायनान् द्वेयुगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः''

–अथर्व ८.२.२६.

अथर्ववेद का उपर्युक्त मंत्र अर्थाधान की कसौटी पर अपूर्ण है । लगता है–इससे पूर्ववर्ती मंत्र, जो मंत्र की पृष्ठभूमि के तौर पर मान्य रहा होगा, लुप्त हो चुका

१. ऋग्वेद में कुछ–एक स्थलों पर 'पूर्वयुग' पढ़ा गया है।यथा–
ओम। ब्रह्मणस्पतिरेतां सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्वे युगे असतः सदजायत।
ऋग्वेद, चरमाष्टक सू०३/मं २
इसकी व्याख्या निरुक्तशास्त्र में पठित है।

है। यदि साधनान्तर को लेकर इस मंत्र का अर्थाधान प्रकाशित करते हैं तो वेद के स्वतःप्रामाण्य पर आंच आती है। और हम यह भी देख रहे हैं कि इस मंत्रार्थ के प्रकाश में अनाड़ी–से–अनाड़ी लोग तथा विद्वान् से महाविद्वान् तक सभी लोग प्रयासरत हैं।

इससे बेहतर है, हम ज्योतिषशास्त्र का आधार लेकर – ज्योतिषशास्त्र वेदांग होने से वेद ही है, इससे वेदशास्त्र का स्वतःप्रामाण्य भी आहत नहीं होता– उपर्युक्त मंत्रार्थ स्थापित करने का यत्न करते हैं।

प्रथम अनुशीलन

वेद विद्या से सर्वथा असम्पृक्त तथा स्वयंभू पण्डितों ने उपर्युक्त वेदमंत्र की व्याख्या करते हुए, लिखा है :

"(ते) उन अहोरात्रों अर्थात् सृष्टि व प्रलय को {शतम् अयुतं हायनान्} दशसहस्त्रवर्ष गुणा १०० अर्थात् १० लाख तक शून्यों से पूर्व (द्वे त्रीणि चत्वारि युगे) क्रमशः दो तीन चार मिलाने पर ४,३२,००,००,०००,वर्ष की आयुवाले (कृण्मः) करता हूँ । (इन्द्राग्नी) राज्याधिकारी वा ज्ञानी (विश्वे देवाः) निखिल विद्वान् लोग (आह्णीयमानाः) जो शान्तचित्त होकर (ते) सृष्टिप्रलय रूपी अहोरात्रों का (अनुमन्यताम्) मनन करें ।"

—वेदवाणी, बहालगढ़ २५.८,१९७३ ई.

यह प्रपंच गणित विज्ञान के सर्वथा विपरीत है। मंत्र में 'सृष्टि प्रलय' अथवा 'अहोरात्र' का उल्लेख नहीं है। यह बलपूर्वक प्रक्षिप्त अर्थाधान है। अंकों की अनुपस्थिति में केवल शून्यों का प्रयोग भी कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे –

प्रथम आचरण – ००,००,०००, शून्यों की स्थापना,

अन्तिम आचरण – ४,३२,००,००,०००,शून्यों की स्थापना के पश्चात् अग्रस्थ अंक – विधान अवैज्ञानिक है, अतएव अमान्य है ।

इसे यहीं छोड़, वेदविद्या के शिखर–विद्वान् सायणाचार्य की चर्चा करते हैं। वह लिखता है:

''चतुर्णां युगानां सन्धिसंवत्सरान् विहाय युगचतुष्टयस्य मिलित्वा अयुतम् (१००,००) संवत्सराः स्युः । तान् विभज्य द्वे कलिद्वापराख्ये, त्रीणि त्रेतासहितानि, चत्वारि कृतयुगसहितानि कुर्मः इति आशास्यते ।''

श्रीमत्सायाणाचार्य के प्रति हमारे मन में असीम निष्ठा है। परन्तु उनके प्रस्तावित अस्पष्ट अर्थाधान से हम पूर्णतया असहमत हैं। उनके अर्थाधान पर निम्न आपत्तियां चरितार्थ होती हैं। यथा –

१. सन्धिवर्षों की चर्चा क्यों है ? हम समझ नहीं पाए हैं जबकि अत्र सन्धिवर्षों का विसर्जनात्मक उल्लेख अप्रासंगिक है । चतुर्युगों के बीचों – बीच संन्धिवर्ष हैं ही नहीं, उनका विसर्जन कैसा ?

२. दूसरी आपत्ति यह है कि दो मन्वन्तरों के बीच पुराणपंथियों द्वारा सन्धिवर्षों की अनिवार्य ग्राह्यता के परिवेश में उनके विसर्जन में क्या तुक है? उनके विसर्ग के पश्चात् कल्प–संवत् क्या अपूर्ण नहीं रह जाएगा ? सन्धिवर्षों के अभाव में रिक्त स्थान की पूर्ति कैसे होगी– यह दूसरी आपत्ति पूर्व आपत्ति का अनिवार्य अंग है।

३. तीसरी आपत्ति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आचार्यवर्य लिखते हैं ''कलिद्वापराख्ये त्रीणि, त्रीणि त्रेतासहितानि, चत्वारि कृतयुगसहितानि कुर्मः।'' अयुत को ३ + ३ + ४ = १० उपखण्डों में विभाजित किया है। प्रश्न होना स्वाभाविक है–'शतम्' का क्या हुआ ? वह गणना–निरपेक्ष क्यों रह गया है ?

४. चौथी आपत्ति भी बड़ी गंभीर है – आचार्य लिखते हैं, ''द्वे कलिद्वापराख्ये त्रीणि'' । यहां कलियुग का उल्लेख आपत्तिपूर्ण है। वैदिक कालगणना में 'कलिकाल' वर्जित है। आचार्य के कथनानुसार सारिणी इस प्रकार बनती है –

अयुतम्

४०० चत्वारि	४०००	कृतयुग ४००
३०० त्रीणि	३०००	त्रेतायुग ३००
२०० त्रीणि	२०००	द्वापरयुग २००
१००	१०००	कलिकाल १००
शतम्	१०,०००	शतम्

यहां 'शतम्' भी है और 'अयुतम्' भी है। कलिकाल का उल्लेख दोषपूर्ण है। अतः सायणाचार्य का समग्र अर्थ–प्रपंच अमान्य है।

द्वितीय अनुशीलन

वेदार्थ की साधूपलब्धि के लिए एक अन्य यथार्थ परीक्षा–प्रणालि से गुजरना होगा । यदि वेदमंत्र के 'त्रीणि' 'चत्वारि' को प्रतीकात्मक संज्ञा मान लें, तब गणित–विधान का नैसर्गिक मांर्ग मिल जाता है । यथा –

(क) द्वे : २ द्वापर युग का प्रतीक   २–३–४ स्थापित

(ख) त्रीणि : ३ त्रेता युग का प्रतीक   अंकानां वामतो गतिः

(ग) चत्वारीणि : ४ कृतयुग का प्रतीक ४–३–२ विन्यस्त संख्या

टिप्पणी–वैदिक गणना में 'कलि–गणना' वर्जित है।[१]

इस संख्या को (४३२) अनिवार्य अध्याहार के रूप में स्वीकारना होगा। गणित–विज्ञान का एक नियम है कि 'गुणाङ्क क्रमशः निम्न से उत्तम की ओर प्रयोग में आता है। गुणार्ह संख्या को पहले दस से गुणा करना होगा और तत्पश्चात् सौ तथा हजार आदि उत्तम संख्या से गुणन – प्रक्रिया सफल होती है'। उदाहरण–

(क) ४३२ को १० से गुणित किया = ४३२० फलागम मिला ।

(ख) ४३२० X १०० उत्तम संख्या = ४३२०००;

(ग) X १०,००० उत्तमोत्तम संख्या = ४,३२,००,००,०००

यह विधान है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रक्रिया भी है। ज्योतिष गणना के अनुसार सौर दिवस गणना ३६० निश्चित है। इसे दिव्य संख्या में परिवर्तित करने के लिए १२ से गुणा करना होगा– ३६०X१२ = ४३२०

यह दिव्य वर्ष संख्या का प्रादुर्भाव है । इसके पश्चात् पूर्वोक्त वेदमंत्र चरितार्थ होगा–

४३२० X १०० X १०,००० = ४,३२,००,००,०००

आर्यभट्ट का प्रस्ताव इससे भिन्न है। आर्यभट्ट ने गणना की बुलन्दियों को छूकर जो निर्णय लिए हैं, वे न केवल विस्मयबोधक हैं बल्कि वे निर्णय युगों तक विश्व को प्रभावित करते रहेंगे। आर्यभट्ट ने एक गीतिका में लिखा है–''काहो मनवो ढ मनुयुग श्ख गतास्ते च'' ।।१०।।

कः = ब्रह्मा, (अथवा एक) अहः = दिन, ढः = १४, मानवः = मन्वन्तर और मनुयुग श्ख = ७० + २ = ७२, गताः, गुणित किया, ते च = और उन अंकों (को जमा किया) अर्थात् मन्वन्तर संख्या (१४) को ७२ से गुणित किया और प्राप्त फलागम में पुनः ७२ जमा किये –

१४ X ७२ = १००८ पुनः + ७२ = १०८० फलागम रहा।

विदित हो, आर्यभट्ट समस्त काल – विधान को चार चरणों में विभक्त रखता है। उक्त काल–आकलन के पिण्डीकरण के लिए चार (४) से गुणित करने की अनिवार्यता है, सो–

१०८० = ४ = ४३२० स्थापित हुआ ।[२]

---

१. ओम्। देवानां तु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्चादुत्तरे युगे।।

ऋग्वेद, चरमाष्टक, सू. ३/मं. १,

२. यह वाक्य ब्रह्माण्ड पुराण के अतिरिक्त विष्णुपुराण तथा वायुपुराण में भी पढा गया है। इसका संकेत प्रायः सभी पुराणों में है।

तत्पश्चात् वेदमंत्र चरितार्थ हुआ ।

अथ मीमांसा—यह घाटी बड़ी दुर्लङ्घ्य है । मंत्रार्थ भी स्पष्ट नहीं है । श्रीमत्सायणाचार्य भी मंत्र के अर्थाधान में डगमगा गए हैं । एक अप्रासंगिक मुद्दा (सन्धिसंवत्सरों की वर्जनीयता) उठा कर उसका निर्वाह नहीं कर सके। वैदिक काल गणना पर सन्धिसंवत्सरों का पुराण—प्रतिपादित संविधान लागू ही नहीं होता । वेद जिस ढंग से संधिकाल स्थापित करता है, उसका विस्तृत विश्लेषण प्रथम अध्याय में हम लिख चुके हैं । मंत्रार्थ की तलाश में हमने ज्योतिषशास्त्र का अवलम्बन लिया है।

वेद स्वतः प्रमाण है। यह श्रद्धारत समाज की प्रतिज्ञा है । हम इस प्रतिज्ञा—परिधि से बाहर नहीं हैं। परन्तु ज्योतिषशास्त्र का अवलंबन लेना वेद के स्वतः प्रामाण्य को आहत नहीं करता । वेदांग होने से ज्योतिषशास्त्र भी वेद ही है। जैसे निरुक्त शास्त्र वेदांग होने से वेद है। अतः आर्यभट्ट ने जिस गणित प्रहेलिका द्वारा '४३२०' वर्षों की वैदिक 'इकाई' प्रतिष्ठित की है, और उसे उजागर किया है, उससे वेदमंत्र के अस्पष्ट अर्थाधान का द्वार खुल गया है ।

तृतीय अनुशीलन

अथर्ववेद के प्रशस्त एवं कालनिर्णायक मंत्र के निम्न फलितार्थों को संदर्भ में लेकर उसका अर्थाधान इस प्रकार प्रख्यापित करते हैं –

ते = हायनाः, ४३२० एकांशरूपेण स्वीकृता हायनाः, = यूनिट (एकांश)

शतम् = शतेन गुणिताः ४३२० X १०० = ४३२००० अंकेषु फलीभूता हायनाः

अयुतम् = दस सहस्रेण गुणिताः ४,३२,००० X १०,००० = ४,३२,००,००,०००,

वर्षेषु विस्तीर्णाः हायनाः सन्ति। इमे हायना ब्राह्मदिवसं प्रतिपादयन्ति; तान् हायनान् –

टिप्पणी— वैदिक कालगणना में 'कलिकाल' विचाराधीन नहीं है, जैसा कि हम इसी अनुशीलन में पढ़ने वाले हैं, 'कलिकाल' एक पड़ाव के रूप में वेदमंत्र में स्थान बनाए हुए है, यथा –

४३२० X १०० = ४,३२,००० कलिकाल–

४,३२,००० X १०,००० = ४,३२,००,००,००० ब्राह्म दिवस ।

इस जटिल ग्रन्थि पर अनुसंधान होना चाहिए ।

द्वे युगे = द्वापरयुगात्मकानि (८,६४,०००) वर्षाणि;

त्रीणि (युगानि) = त्रेतायुगात्मकानि (१२,९६,०००) मिलित्वा वर्षाणि

चत्वारि (युगानि) = कृतयुगात्मकानि (१७,२८,०००) वर्षाणि ।

कृण्मः = स्वीकुर्मः । कालाकलनाय स्थापयामः ।

हे ! इन्द्राग्नी = देवस्तुत उभे देवते !

विश्वे देवाः = अन्ये चाखिला देवयोनिजा;,

अह्रणीयमानाः = त्यक्तलज्जाः, निःसंकोच भावेन–

अनुमन्यताम् = स्वीकुर्वन्तु। इति।

हम इस अर्थाधान के अन्तरंग में छिपे रहस्य को प्रकाशित करते हैं। वैदिक कालविज्ञान तथा वैदिक इतिहास के लिए पूरे महायुग को अंशांशतः विभक्त करते हैं। यथा–

द्वे	त्रीणि	चत्वारि	योग	शिष्ट
२/१०	३/१०	४/१०	९/१०	१/१०
द्वापरयुग	त्रेतायुग	कृतयुग	परिवर्तयुग	कलिकाल

अर्थात् कृतयुग+त्रेतायुग+द्वापरयुग का पिण्डीभूत आकलन स्थिर मानते हैं और उसका ढांचा इस प्रकार होगा–

–प्रथम परिवर्तयुग[1]–

[वर्ष संख्या ३८,८८,००० सौर]

मनुसंवत्०० [+] से ३८,८८,००० तक

ईसवीपूर्व १२,०५,३१,१०२ [–] से ११,६६,४३,१०२ ई. पू. तक ।

-कलिकालवर्जित-

अथर्ववेद के उपर्युक्त मंत्र {८.२.२६.} का प्रस्तावित अर्थाधान स्पष्टतः वैदिक काल–विज्ञान का 'सूत्र' बनकर सामने आया है ।

---

१. वेदशाखाप्रणयिनः ततस्ते ऋषयः स्मृताः।
ईश्वरा मंत्रकर्तारः।

ब्रह्माण्ड १/२/३३/२१.

(ख) ऋषिपुत्राः प्रवक्तारः कल्पानां ब्राह्मणस्य तु।
ईश्वराणामृषीणां ऋषीकाणां सहात्मजः।

ब्रह्माण्ड १/२/३३/२२.

टिप्पणी–मंत्रकर्ता तथा मंत्रवक्ता में मौलिक अन्तर है। ईश्वर, ऋषि तथा ऋषीक जनों का परिचय, अधिकार तथा तारतम्य (अर्थात् कौन बड़ा है ? कौन छोटा है,) शास्त्रों द्वारा ही समझना चाहिए।

तृतीयोऽध्यायः

''पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्[१] ।''

—आचार्य यास्क

वैदिक इतिहास दो प्रकार का है— (१) वेदेषु इतिहासः; (२) वेदानां वेतिहासः; उभयविध इतिहास में आस्था रखने वाला विद्वत्समाज भगवान् यास्काचार्य का चिर ऋणी रहेगा, जिसने वेद में उपस्थित 'देवयुग' को परिभाषित किया है और समूचे काल—विज्ञान को त्रिधा विभक्त करने की पृष्ठभूमि तैयार की है। वेदशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र के समन्वित परिणामस्वरूप त्रिधा विभक्त युग — विधान इस प्रकार सीमाबद्ध किया गया है । यथा—

१ : कल्पसंवत्—

आज कल्पसंवत् का १,६७,२६,४६,०६५ अतीत वर्ष है । [ईसवी सन् १९६४,११ अप्रैल]। वेद मंत्रानुसार कल्पसंवत् के प्रथम तीन महायुग अर्थात् १,२६,६०,००० सौर वर्ष वृक्ष—वीरूध आदि वनस्पति जगत् के लिए अलग से रख दिए हैं:

''याः औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'' ।[२]

तत्पश्चात् देवयुग आरम्भ होता है। यह सृष्टि—विकास नैसर्गिक है।

२ : देवसृष्टि संवत् -

देवसृष्टि की सूचना भगवान् यास्काचार्य ने दी है – ''पूर्वं देवयुगम्'' वेद और निरुक्त के समन्वित निर्देशानुसार आज देवसृष्टि—सवंत् इस प्रकार है— १,६५,८६,०६५ वां अतीत वर्ष है। [ईसवी सन् १९६४, ११ अप्रैल] इस देवसृष्टि के बृहत्खण्ड में स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस,रैवत और चाक्षुष— छह मन्वन्तर समाहित हैं। देवसृष्टि का इतिहास महारोचक है। १२ – देवासुर संग्राम इस देवयुग की प्रमुख घटनाएं हैं। 'अमृतमंथन' जैसी अद्भुत घटनाएं देवसृष्टि की पहचान बन गई हैं। मत्स्यावतार तथा कूर्मावतार भी देवसृष्टि की परिधि में आते हैं। जिस वेदशास्त्र

---

१. मनु संवत्=०० स्थापित। १२,०५,३१,१०२ ई. पूर्व में मनुष्य अस्तित्व में आया। इससे पहले देवयोनियां ही भूतल पर निवास करती थीं।

२. द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयंभुवा।
विष्णुपुराण ३/३/११

(ख) युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वम्, अनुज्ञाताः स्वयंभुवा।।
वेदान्त, शां. भा. १/३/३०.

अत्र 'स्वयंभू' ऋषि का नाम अभिप्रेत है; आदि मनु राजा का नहीं।

ने देवयुग का अस्तित्व स्थापित किया है, उसी देवयुग में वेदों की अस्मिता संकट–ग्रस्त हो गई थी। भगवान् का प्रथम अवतार वेदोद्धार के लिए विख्यात है – ''वेदानुद्धरते. ....'' (जयदेव महाप्रभु)

यह देवसृष्टि का संक्षिप्त परिचयात्मक इतिहास है ।

३. मनुसृष्टि-संवत्-

''पूर्वं देवयुगम्''का अर्थापत्तिजन्य अर्थान्तर स्थापित किया जा सकता है– उत्तरं मनु (ष्य) युगमिति। सचमुच 'मनुष्य–सृष्टि' देव–सृष्टि का अवशेष है। शतपथ ब्राह्मण में आगत मनु + इड़ा की कथा देवसृष्टि और मनुसृष्टि में निश्चित विभाजक रेखा देकर अलगाती है। मनुसृष्टि मात्र वैवस्वत मन्वन्तर तक सीमित है। मनु सृष्टि में वाराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुराम, दाशरथि राम और कृष्णावतार–छह अवतार आते हैं। नौवें बुद्धावतार की स्थापना बाद की है।

आज मनुसंवत् का १२,०५,३१,०६५ (११ अप्रैल १९९४) अतीत वर्ष है। संक्षेपतः–

१. कल्पसंवत्– १,९७,२९,४१,०१५ अतीतवर्ष से आरम्भ है ।

२. देवसंवत्– १,९५,९६,८९,०९५ अतीत वर्ष आरम्भ है ।

३. मनुसंवत्– १२,०५,३१,०६५ अतीत वर्ष आरम्भ है।

अथ मीमांसा–हमारे इस नए अनुसंधान से आसुर महाग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' की स्थापना निरस्त हो जाती है। महनीय एवं अत्युपयोगी होने पर भी 'सूर्यसिद्धान्त' को वेद मान्यता की उल्लंघना की अनुमति नहीं दी जा सकती। अतः पंचांग समूह में, अस्तित्व में आए सृष्टिसंवत् में ३८,८८,००० + २,१६,००० = ४१,०४,००० वर्षों का संशोधन हो गया है। इस नामकरण की पृष्ठभूमि पर उतरते हुए हम निर्बन्ध होकर कह सकते हैं कि परमात्मा की अद्भुत रचना में पहला स्थान 'देवयोनि' का है, तत्पश्चात् 'मनुष्ययोनि' का स्थान है। मानो मनुष्य देवसृष्टि का अवशेष हैं। भाषा भी मनुष्यों को देवताओं से विरासत में मिली है। यही कारण है कि संस्कृत को 'देवभाषा' कहा जाता है ।

'देवो भूत्वा देवं यजेत्' । यह हमारा सांस्कृतिक सूत्र है। 'देवत्व' हमारा उपास्य लक्ष्य है; देवत्व की उपधारणा (ओढ़ना) हमारा परम ध्येय अथवा आचरणीय है। हम निरन्तर विचार, संस्कार और स्वाध्याय से अपने में देवत्व की परिकल्पना करते हैं। हम अपनी बात को समझाने के लिए रहीम का यह दोहा उपस्थित करते हैं –

'अच्युतचरणतरंगिणी' शिवसिरमालतिमाल' हे गंगे !
हरि न बनाओ सुरसरि ! कीजव 'इन्दवभाल' ।

अथ युगविभाजन

-:सृष्टिः-

देवयुग–
४,६५,६६,०६,०६५
से आरम्भ, अद्य यावत्
मनु
स्वायंभुव–स्वारोचिष–उत्तम
तामस–रैवत–चाक्षुष।
अवतार
मत्स्य और कूर्म

विभाजक रेखा

मनु तथा इड़ा की प्रणयगाथा

मनुयुग–
ई० पू० १२,०५,३१,०६५ से आरम्भ
–अद्य यावत्–
मनु
वैवस्वत मन्वन्तर
[अभी प्रवर्तमान है]
अवतार
वाराह–नृसिंह–वामन–परशुराम–राम–कृष्ण–बुद्ध।

चतुर्थोऽध्यायः

''अष्टाविंशतिकृत्वा वै वेदा व्यस्ता महर्षिभिः।''

–ब्रह्माण्ड १.२.३५.११६

विगत अध्याय में हमने दो बातें लिखी है – १. मनुष्यों का अस्तित्व वैवस्वत मन्वन्तर के आदि में हुआ; दूसरा–२. वेद मनुष्यों को देवताओं से विरासत में मिला है। हम अपने इस प्रस्ताव को वैदिक इतिहास से सिद्ध करते हैं। वेदशास्त्रों का अपना: निश्चित इतिहास है। देवयुग में वेदशास्त्रों पर क्या–क्या बीती, विस्तार भय से हम उसे नहीं लिख रहे। हमारी वेदविषयक गाथा १२,०५,३१,१०२ ई० पूर्व से आरम्भ होती है। हम यह भी लिख चुके हैं कि वैदिक इतिहास 'परिवर्तयुग' के माध्यम से लिखा गया है। परिवर्तयुग का अर्थ है– कलिविहीन 'त्रियुग' और उसकी वर्ष संख्या है ३८.८८.००० सौरवर्ष। इस ढांचे में अवतरित वैदिक इतिहास की अवधारणा ब्रह्माण्ड–पुराण से मिली है–

''ये श्रूयन्ते दिवं प्राप्ताः ऋषयो ह्यूर्ध्वरेतसः।
मंत्र-ब्राह्मण-कर्तारः जायन्ते च युगक्षयात् ।।

एवमावर्तमानास्ते द्वापरेषु पुनः पुनः ।
कल्पानामार्षविद्यानां नाना शास्त्रकृतश्च ये ।।
वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन् द्वापरेषु पुनः पुनः ।
अष्टाविंशतिकृत्वा वै वेदा व्यस्ता महर्षिभिः ।।

–उपोद्घात २.३४.११३–११६

इस पुराण–पाठ में आगत कुछ–एक शब्द व्याख्या–सापेक्ष हैं। यथा– 'युगक्षयात्' अर्थात् 'देवयुगक्षयात्' अर्थात् देवयुग की समाप्ति पर; मंत्र ब्राह्मण– कर्ता हुए हम सुनते आए हैं–मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। इस पुराण पाठ से दोनों की ग्राह्यता अभीष्ट है। कर्तारः 'वक्तार': ये पर्यायवाचक शब्द हैं। ब्रह्माण्डपुराण में ही अन्यत्र पढ़ा गया है–"ईश्वरा मंत्रवक्तारः"[१]। पुराण पाठ से यह भी सिद्ध है कि समय–समय पर मंत्रकर्ता [वक्ता वा] हुए जिनकी आविष्कृत रचनाएं वेद में 'संहित' होनी अनिवार्य थी, सो प्राक्कलि अर्थात् द्वापरान्त में नवागन्तुक वेद व्यासों ने अपने धर्म का पालन करते हुए नवाविष्कृत मंत्रों को संहिताबद्ध किया। यह परम्परा बार–बार दुहराई गई। वैवस्वतेऽन्तरे = वैवस्वत मन्वन्तर के बीचों बीच वेदों का संस्कार किया गया। 'वैवस्वत' मन्वन्तर के उल्लेख मात्र से तत्पूर्ववर्ती समय निरस्त हो जाता है। यह संस्कार–श्रृंखला २८ बार दुहराई गई है। यथा–

व्यासः द्वापरान्तयुगः मनुसंवत्/ईसवीपूर्व

संख्या	व्यास	मनुसंवत	ईसवीपुर्व
*	**	०० स्थापित	१२,०५,३१,१०२ ई. पू.
१.	स्वायंभुव [२]	३८,८८,००	११,६६,४३,१०२ ई. पू.
२.	प्रजापति [३]	८२,०८,०००	११,२३,२३,१०२ ई. पू.
३.	उशनाः [४]	१,२५,२८,०००	१०,८०,०३,१०२ ई. पू.

१. द्वितीये द्वापरे प्राप्ते शौनहोत्रो प्रकाशिराट्।
पुत्रकामः तपस्तेपे नृपो दीर्घतपस्तथा। वायु ६२/१०

२. बलिसंस्थेषु लोकेषु त्रेतायां सप्तमे युगे
देत्यैस्त्रैलोक्यमापन्ने तृतीयो वामनोऽभवत्।

३. सारस्वत व्यास से प्राक्काल में वेद बुरी तरह से अस्त व्यस्त हो चुके थे। सारस्वत व्यास को इस के लिए कडा श्रम करना पड़ा। जिस की गूंज बौद्धसाहित्य में भी सुनाई पडती है। यथा– "तथाङ्गिरा रागपरीतचेतः सरस्वती ब्रह्मसुताः सिषेवे।
सरस्वतीं यत्र सुतोऽस्य जज्ञे नष्टस्य वेदस्य पुनः प्रवक्ता। बुद्धचरितम्

४. (क) त्रेतायुगे तु दशमे दत्तात्रेयो बभूव ह।
(ख) दीर्घतमा मामतेयो जुगुर्वान् दशमे युगे। ऋग्वेद १/१५८/६

४.	बृहस्पति [१]	१,६८,४८,०००	१०,३६,८३,१०२ ई. पू.
५.	सविता	२,१२,६८,०००	६,६३,६३,१०२ ई. पू.
६.	मृत्यु	२,५५,८८,०००	६,५०,४३,१०२ ई. पू.
७.	इन्द्र	२,६६,०८,०००	६,०७,२३,१०२ ई. पू.
८.	वसिष्ठ	३,४२,२८,०००	६,६४,०३,१०२ ई. पू.
६.	सारस्वत	३,८५,४८,०००	८,२०,८३,१०२ ई. पू.
१०.	त्रिधामा	४,२७,२८,०००	७,७७,६३,१०२ ई. पू.
११.	त्रिवृषा	४,७०,४८,०००	७,३४,४३,१०२ ई. पू.
१२.	सनद्वाज	५,१४,०८,०००	६,६१,२३,१०२ ई. पू.
१३.	अन्तरिक्ष	५,५७,२८,०००	६,४८,०३,१०२ ई. पू.
१४.	धर्म	६.००४८,०००	६,०४,८३,१०२ ई.पू.
१५.	त्रय्यारूणि	६.४३,६८,०००	५,६१,६३,१०२ ई. पू.
१६.	धनञ्जय	६,८६,८८,०००	५,१८,४३,१०२ ई. पू.
१७.	कृतञ्जय	७,३०,०८,०००	४,७५,२३,१०२ ई. पू.
१८.	ऋणञ्जय	७,७३,२८,०००	४,३२,०३,१०२ ई. पू.

---

१. प्रथमे द्वापरे व्यस्ता स्वयं वेदा स्वयंभुवा।।११६।
द्वितीये द्वापरे चैव वेदव्यासः प्रजापतिः।।
तृतीये चोशना व्यासः चतुर्थे च बृहस्पतिः।।११७।।
सविता पंचमो व्यासः, मृत्युः षष्ठे स्मृतः प्रभुः।
सप्तमे च तथैवेन्द्रः वसिष्ठश्चाष्टमे स्मृतः।।११८।
सारस्वतस्तु नवमे त्रिधामा दशमे स्मृतः।
एकादशे तु त्रिवृषः सनद्वाजः ततः परम्।।११६।
त्रयोदशे चान्तरिक्षो धर्मश्चापि चतुर्युगे।
त्रय्यारुणिः पंचदशे षोडशे तु धनञ्जयः।।१२०।
कृतञ्जयः सप्तदशे ऋषीजोऽष्टदशे स्मृतः।
ऋषीजात्तु भरद्वाजः भरद्वाजात्तु गौतमः। १२१।।
गौमादुत्तमश्चैव ततो हर्यवनः स्मृतः।
हर्यवनात् परो वेनः स्मृतो वाचश्रवस्तवः।। १२२ ।
अर्वाक् च वाचश्रवसः सोममुख्यायनस्ततः।
तृणबिन्दुस्ततः तस्मात्, ततजस्तृण बिन्दुतः।। १२३
ततजाच्च स्मृतः शक्तिः, शक्तेश्चापि पराशरः।
जातूकर्णोऽभवत्तस्मात्, तस्माद्वैपायनः स्मृतः।।१२४।।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः।

ब्रह्माण्डपुराण, १/२/३५/११६-१२५

टिप्पणी–लम्बे हस्तलेखीय संरक्षण के कारण यत्र – तत्र कालचक्र के सबूत सामने हैं। हमने यह नामावलि ब्रह्माण्ड+विष्णुपुराण+वायुपुराण को सामने रखकर तैयार की है।

१६.	भरद्वाज	८,१६,४८,०००	३,८८,८३,१०२ ई. पू.
२०.	वाचश्रवाः	८,५६,६८,०००	३,४५,६३,१०२ ई. पू.
२१.	वाचस्पति	६,०२,८८,०००	३,०२,४३,१०२ ई. पू.
२२.	शुक्लायन	६,४६,०८,०००	२,५६,२३,१०२ ई. पू.
२३.	तृणबिन्दु	६,८६,२८,०००	२,१६,०३,१०२ ई. पू.
२४.	ऋक्ष.	१०,३२,४८,०००	१,७२,८३,१०२ ई. पू.
२५.	शक्ति	१०,७५,६८,०००	१,२६,६३,१०२ ई. पू.
२६.	सहिष्णु	११,१८,८८,००००,	०,८६,४३,१०२ ई. पू.
२७.	जातूकर्ण	११,६२,०८,००००,	०,४३,२३,१०२ ई. पू.
२८.	कृष्ण द्वैपायन व्यास	१२,०५,२८,०००	०,००,३,१०२ ई. पू.

–भविष्य–

२६. द्रौणी द्वैपायन मनु[1] १२,४८,४८,००० ईसवी ४३,१६,८६८ [भ.]

[द्वापरान्त : कलिपूर्व]

अथ मीमांसा–ईसवी ३१०२वें वर्ष में कृष्ण द्वैपायन व्यास जीवित थे। परन्तु उनका वेदसंस्कार–काल प्रायः निश्चित है। यथा–सप्तर्षि संवत् ६१७ = ३२४८ ई. पूर्व में वेदों का २८वां संहिता–संस्कार सम्पन्न हुआ[2]।

उपर्युक्त वेदव्यास सूचि के साथ–साथ मनुसंवत् के समकक्ष ईसवी पूर्व की कालश्रृंखला भी दी है। यह आंकड़ों का खेल है। भूलों की संभावनाएं अनल्प हैं। तथापि [–] [+] को ध्यान में रखते हुए ऊपर से नीचे के आंकड़ों में ४३,२०,००० वर्षों का अन्तराल है। किसी भी समय संशोधन किया जा सकता है।

६. वेदव्यास 'सारस्वत' से पूर्व वेदों का पर्याप्त भाग या तो विलुप्त हो गया अथवा अस्त–व्यस्त हो गया। सारस्वत व्यास ने पर्याप्त परिश्रम करके वेदसंहिता को पुनः सुस्थापित किया। वेद के अपने इतिहास में यह घटना अभूतपूर्व है और उल्लेखनीय है। यह वेदों का अपना इतिहास है।

प्रथम वेदव्यास का नाम स्वायंभुव है। यहां मनु का नाम वांछनीय नहीं है। सर्वप्रथम स्वायंभुव व्यास ने वेद–संकलन किया–यह आद्य शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है–

''युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाताः स्वयंभुवा ।।''

युगान्त से तात्पर्य देवयुगान्त से है। अन्तर्हितान् लेभिरे = विलुप्त वेदमंत्रों को खोज निकाला। शेष प्रसंग स्पष्ट है।

---

१. भविष्ये द्वापरे चैव द्रोणि द्वैपायनोऽपि च।।

वही, १/२/३५/१२५,

२. ततः सप्तदशे वर्षे जातः सत्यवतीसुतः।
चक्रे वेदतरोःशाखाः ज्ञात्वा पुंसोऽल्पमेधसः ।।

पञ्चमोऽध्यायः

'कृत्तिकास्वादधीत'

वैदिक–काल गणना में कृत्तिका नक्षत्र का बहुधा उल्लेख मिलता है। यज्ञ–प्रधान भारतीय संस्कृति में अनेक विधि–विधानों के प्रसंग में प्रमुख प्रश्न यह होता है कि 'अग्न्याधान' का ठीक–ठीक समय क्या है ? इस प्रश्न का आर्ष समाधान यह है कि जब कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा हो, तभी अग्न्याधान करना चाहिए।

इस समाधान के साथ दो अन्य प्रश्न भी जुड़े हुए हैं–

१. कृत्तिका नक्षत्र की पहचान क्या है ?

२. सत्ताईस नक्षत्रों में से कृत्तिका का ही चुनाव क्यों किया है ?

इन प्रश्नों के समाधान में आर्षग्रन्थों ने यह संकेत दिया है कि **''ताः प्राच्या दिशो न च्यवन्ते''।**

ताः = वह कृत्तिका नक्षत्र; प्राच्या दिशाः = पूर्व दिशा से; न च्यवन्ते = टस–से–मस नहीं होते। वह अपने स्थान पर स्थिर रहता है। यह कृत्तिका नक्षत्र की पहचान है। दूसरे शब्दों में यह पूर्वदिशा विवादशील है कि पृथ्वी सूर्य के इतस्ततः घूमती है ? अथवा सूर्य–मंडल पृथ्वी के भिन्न–भिन्न कोणों को दर्शाते हुए अवस्थित हैं। कृत्तिका को छोड़ शेष नक्षत्र दिशाबोधक नहीं है, केवल कोण–ज्ञापक हैं। केवल कृत्तिका नक्षत्र ही पूर्वदिशा का परिचायक है। भू–भ्रमण से अनिवार्यतः घटित क्षितिज–संपर्क–जिसे ज्योतिष भाषा में लग्न कहते हैं– प्रति दो घंटों के {लगभग} अन्तराल पर बदलता रहता है। इस गणित से प्रत्येक चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सूर्योदय से प्राक् कृत्तिका नक्षत्रोदय होता है। ठीक यही समय अग्न्याधान का प्रशस्त समय है। वसन्त ऋतु में, नित्य यज्ञशील आचार्यगण कृत्तिका नक्षत्र पर अपनी नज़र टिकाए रहते थे। सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन की नियति और नियुक्ति भी कृत्तिका नक्षत्र से हाती है।

पूर्वदिशा का निश्चयन कृत्तिका नक्षत्र की पहचान है।

दूसरे प्रश्न का समाधान है कि कृत्तिका का अधिष्ठातृ–देवता अग्निदेव है। अतः यज्ञाग्नि–प्रज्वलन कृत्तिका नक्षत्रोदय में ही प्रशस्त है।

इन दो प्रश्न–समाधानों के अतिरिक्त भी कृत्तिका नक्षत्र का महत्त्व संवत्सर काल–विज्ञान से भी जुड़ा हुआ है। सभी जानते हैं– भारतीय काल गणना 'सूर्य' और 'चन्द्र' के अतिरिक्त सप्तर्षि–संवत् पर भी अवलंबित है।

इस पर प्रश्न किया जाता है कि सप्तर्षि संचार किस नाक्षत्र–बिन्दु से आरम्भ होता है ? इसके समाधान में एक पक्ष का कहना है कि सप्तर्षि–गणना श्रवण–श्रविष्ठा से आरम्भ होती है। इस पक्षधर का नाम प्रसिद्ध है– 'पटना–सम्प्रदाय'। इसके विपरीत अन्य पक्ष का कथन है कि सप्तर्षिगणना कृत्तिका नक्षत्र से गणनाधीन है। इस पक्षधर का नाम है– 'काश्मीर–सम्प्रदाय'। पूर्वपक्ष के अनुसार आज सप्तर्षि उत्तरभाद्रपद–अतीत रेवती नक्षत्र से भगण आरम्भ करते है; अन्यपक्ष के अनुसार आज सप्तर्षि कृत्तिका अतीत रोहिणी नक्षत्र से भगण आरम्भ करते हैं[1]।

यदि दोनों पक्षों को सरलतापूर्वक हृदयंगम करना हो तो, भारत–संग्राम को मध्य में लेकर आमने–सामने रखना होगा–

काश्मीर–सम्प्रदाय	भारत संग्राम	पटना सम्प्रदाय
सप्तर्षि संवत् ६१०	३१४८ ई. पू.	१०१५–सप्तर्षि संवत्

पूर्वदिशा का परिचायक कृत्तिका नक्षत्र 'काल–गणना' का भी मुख्य बिन्दु बन गया है– यह उसका गरिमापूर्ण प्रसंग है।

यज्ञ–सिद्धि के लिए 'काल–गणना' की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है और 'काल–गणना' के लिए 'कृत्तिका' की पहचान बहुत जरूरी है।

षष्ठोऽध्यायः

''सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्''

–नाना पुराण पाठ

विगत अध्याय में 'कृत्तिका' नक्षत्र का मूल्यांकन करते समय 'सप्तर्षि' संवत्', का ज़िक्र आया है। वैदिक काल–विज्ञान की अन्तिम कड़ी के रूप में उसका परिभाषायी परिचय प्रासंगिक है।

---

१. सप्तर्षि संवत् की काश्मीर–सम्प्रदायानुसार गणना कृत्तिका अतीत 'रोहिणी' नक्षत्र पर अवलम्बित है।

—अथ परिभाषा—

भारत द्वारा आविष्कृत नवविध काल—गणना (संवत् परम्परा) में 'सप्तर्षि संवत् का अनन्त स्थान है। जिस प्रकार वैदिक काल गणना में 'परिवर्तयुग' का प्रमुख स्थान है, तथैव पौराणिक काल गणना में 'सप्तर्षि संवत् का प्रमुख स्थान है। अतः दोनों काल—गणनाओं में तालमेल की तलाश इस निबन्ध का प्रमुख विषय है।

१. सप्तर्षिगण एक—एक नक्षत्र में सौ—सौ साल ठहरते हैं। नक्षत्र सत्ताईस हैं। अतः सप्तर्षियों का भगण {नक्षत्र श्रृंखला में अतिक्रान्त भ्रमण} २७०० वर्षीय है।

२. सौर—गणना में तथा सप्तर्षि गणना में वैज्ञानिक अन्तराल रह जाना स्वाभाविक है। सप्तर्षि प्रति शतक {१००} के पीछे ८ मास का अतिरिक्त समय व्यय करते हैं। कुल मिलाकर २७०० वर्षों में १८ वर्ष घटत—बढ़त में गणनाधीन रहते हैं।

३.सप्तर्षि—संवत् के दो स्कूल हम पहले बता आए हैं। उनमें ४०५ वर्षों का पार्थक्य है। परन्तु द्विविध काल गणना तथा ईसवीपूर्व पश्चात् गणना में तालमेल कहीं भी शिथिल नहीं है। यह हम भारत—संग्राम ३१४८ ई. पू. = सं. संवत् ६१० = सप्तर्षि सं. १०१५ के तालमेल में देख चुके हैं।

४. राजतरंगिणी पर विशेष। राजतरंगिणी के यशस्वी लेखक कल्हण पंडित ने काश्मीर—सम्प्रदायानुसार—ग्राह्य संवत् ६१० में १८ अतिरिक्त जमा करके ६२८ = ३१४८ ई. पू. में भारत—संग्राम का होना लिखा है। यह विशेष परिभाषायी नियम सर्वत्र लागू होता है।

—अथ प्रक्रिया

सप्तर्षि—गणना का तकनीकी विस्तार यहां अभिप्रेत नहीं है। यहां केवल सप्तर्षि—संवत् को ईसवीपूर्व पश्चात् में परिवर्तित करने की प्रक्रिया सरल—से—सरल तरीके से बता रहे हैं। यथा—

१. पटल पर लिखित संख्या में ७ वर्ष अतिरिक्त जमा करने होते हैं; सप्तर्षि—संवत् के परिवर्तन बिन्दु से उसे घटाना होता है। परिणाम यथार्थ ही मिलेगा।

२. राजतरंगिणी में उपर्युक्त नियम चरितार्थ करने के पश्चात् १८ वर्ष अतिरिक्त जमा करने होंगे। तभी सुष्ठु परिणाम मिलेगा।

३. [क] आज पटनासम्प्रदायी गणना का कौन–सा वर्ष है ? यह जानने के लिए– [१] ईसवी सन् में ७ वर्ष शून्य कर दें; अवशिष्ट संख्या से परिवर्तन–बिन्दु को घटा दें; परिणाम ठीक मिलेगा।

४. {ख} आज काश्मीर–सम्प्रदायी गणना का कौन–सा वर्ष है ? यह जानने के लिए युगाब्द लिया; [१] २५ वर्ष कम किए; [२] ४७०० पुनः कम किए; [३] ५४ पुनः घटाए; तत्पश्चात् परिवर्तन–बिन्दु से उपलब्ध अंक घटा दें; परिणाम ठीक मिलेगा।

–उदाहरण–

६४८३	उत्तर भाद्रपद अतीत=००	६८८८

एक पुराण–पाठ है–''महादेवाभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः। एतत् वर्ष–सहस्त्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्।'' यहां 'महादेव' से अभिप्राय शकुन्तलापुत्र भरत से है। गणना इस प्रकार है–१०१५ + ७=१०२२; घटाया ६८८८–१०२२ = ५८६६ ई. पूर्व में शकुन्तलापुत्र भरत का जन्म यथार्थ है ।

३७६५	उत्तर भाद्रपद अतीत=००	४१७०

अन्य पुराणपाठ है–''यावत् परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्। एतत् वर्षसहस्त्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्।।'' यहां परीक्षित् का जन्म सप्तर्षि–संवत् १०१५ में हुआ। गणना इस प्रकार है–१०१५+७=१०२२; घटाया ४१७०–१०२२=३१४८ ई. पू. में परीक्षित् का जन्म हुआ। हमने यही समय भारत–संग्राम का स्थिर किया है।

एक उदाहरण राजतरंगिणी से भी। कल्हण पंडित के कथनानुसार सप्तर्षि–संवत् ६२८ में भारत–संग्राम हुआ। गणना इस प्रकार है–६२८+७=६३५; घटाया ३७६५–६३५=३१३०; अतिरिक्त जमा किए + १८ = ३१४८ ई. पूर्व का परिणाम ठीक है ।

१०४७	उत्तर भाद्रपद अतीत=००	१४५२

पूर्व पठित पुराण–पाठ का उत्तरार्ध है–''यावन्नन्दाभिषेचनम्। एतद्वर्ष सहस्त्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम् ।। अतः नन्द का अभिषेक स. संवत् १०१५ में हुआ। गणना इस

प्रकार है–१०१५+७=१०२२, घटाया– १४५२–१०२२=४३० ई. पूर्व का फलागम यथार्थ है।

स्कन्द पुराणानुसार सप्तर्षि संवत् ६१० में नन्द का अभिषेक हुआ । गणना इस प्रकार है– ६१० + ७ = ६१७; घटाता १०४७ = ६१७ = ४३० ई. पूर्व का फलागम पूर्ववत् है ।

१६७१	उत्तर भाद्रपद अतीत= ००	१२६६

कोई हमसे प्रश्न करे कि आज सप्तर्षि–संवत् का कौन–सा वर्ष है ? तब हमारा उत्तर होगा–

[१] आज ईसवी सन् १९९४ है; इसमें नियमानुसार ७ वर्ष न्यून किए; गणना इस प्रकार होगी–१९९४–७=१९८७ से घटाया–१२६६=७२१ सप्तर्षि संवत् है, आज।

[२] आज कलिसंवत् ५०९५ है। इसमें से ४७२५ वर्ष घटाए। यथा–५०९५ –४७२५=३७०; एतत् पश्चात् गणना इस प्रकार होगी–१८x३=५४; मूल संख्या से ५४ वर्ष घटाना अपेक्षित है यथा ३७०–५४=३१६ सप्तर्षि–संवत् यथार्थ है।

[३] पूर्व प्रतिपादित ७२१ में से ४०५ घटने पर = ३१६ सप्तर्षि संवत् काश्मीर सम्प्रदायानुसार उपलब्ध है।

अथ मीमांसा–हमारा मुख्य प्रतिपाद्य है–वैदिक कालविज्ञान। वेद में लौकिक इतिहास है और वेदशास्त्रों का अपना इतिहास भी है, यह उभयविध इतिहास 'परिवर्तयुग' के माध्यम से लिखा गया है। परन्तु यह इतिहास–श्रृंखला देवापि–शान्तनु तक पहुंचकर अपना मार्ग बदलती है; अर्थात् परिवर्तयुग का स्थान सप्तर्षि संवत् ले–लेता है; यहां उसकी यही प्रासंगिकता है।

सप्तमोऽध्यायः

''विश्वामित्र-त्रयी किमु ?''

विद्वत्समाज का कहना है– जब वेद अपौरुषेय है, तब 'वेदानामितिहासः' अथवा 'वेदेष्वितिहासः' इन मिथ्या प्रयोगों की क्या आवश्यकता है ? इसी ढंग से निष्ठा–वशंवद विद्वत्समाज के प्रति मेरी उद्धत घोषणा है–''तान् प्रति नैष यत्नः।'' में उन जागरूक शोधार्थियों के लिए यत्नशील हूं, जो निम्न श्लोक से पीड़ित है–

''एको न चीयते हन्त ! विश्वामित्रो न केनचित्।
मंत्र-ब्राह्मणयोर्व्याप्ता विश्वामित्र-त्रयी किमु ?''

–अज्ञात

हमारा अन्वेषणीय श्लोक यही है ।

वैदिक साहित्य में दो नामों की अधिक चर्चा है। वे हैं–[१] देवताओं में इन्द्र और [२] ऋषियों में विश्वामित्र। हमने मंत्र–वक्ता या कर्ता ऋषियों की जो परिभाषाएं पुराण–शास्त्रों में पढ़ी हैं, ऋषि विश्वामित्र उस कसौटी पर खरे उतरते हैं। जहां तक मात्र गायत्रीमंत्र का प्रश्न है, उसकी स्थापना का समग्र श्रेय ऋषि सत्तम विश्वामित्र को प्राप्त है। यह बात स्वीकारने में कोई दोष नहीं कि गायत्री मंत्र 'आदिमन्त्र' नहीं है, जबकि उसकी सर्वश्रेष्ठता अथवा विश्व–व्यापकता निर्विवाद है। अतः विश्वामित्र महर्षि का परिचय खोजना निहायत ज़रूरी है।

शोध–जगत् के सामने कठिनाई तब खड़ी होती है, जब तीन–तीन विश्वामित्रों का चेहरा–मोहरा उनके सामने आता है। अपरिपक्व शोधकर्ता तीन–तीन शरीरों की पहचान खो बैठते हैं; परिणामतः तीनों के समीकरण से उनके चरित्र में गडमड कर देते हैं और इनकी ऐतिह्यता को नष्ट–भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसे ही अनाड़ी लेखकों ने भगवान् राम के शास्त्र–दीक्षागुरु विश्वामित्र को मेनका अप्सरा से सहवास का दोषी कहा है। मैं उनका दोष नहीं मनता। यहां सारा दोष वैदिक इतिहास से आंख चुराकर अनुसंधान करनेवालों का है।

तीन–तीन विश्वामित्रों की पहचान इस प्रकार है–

–अथ विश्लेषणात्मक सारिणी–

क्रमः	पितृनाम	समयानुबन्धः	भूमिका
१	चित्ररथ	ईसवी पूर्व ४,१०,४३,१०२ से [–] ३,६७,४७,१०२ के मध्य	गायत्रीमंत्र की सृष्टि
२	गाधिः	ईसवी पूर्व १,६४,४३,१०२ से [–] १,८१,४७,१०२ के मध्य	भगवान् राम को शास्त्रदीक्षा
३	कुशिकः	ईसवी पूर्व ६८८८से भी २०० वर्ष पूर्व तक का समय विचारणीय है।	मेनका से सहवास [शकुन्तलाजन्म]

प्रथमो विश्वामित्रः

पौराणिक आख्यानानुसार सर्वक्षत्रान्तकारी जमदग्निपुत्र परशुराम तथा प्रथम विश्वामित्र परस्पर मौसेरे भाई थे। इनका मातामह और्णव ऋषि था। उसकी दो कन्याएं थीं, जो भिन्न वर्णों में विवाहित थीं। और्णव ऋषि ने दो अलग–अलग चरुपात्र तैयार किए। उन पात्रों को वरदान था कि उनमें रखे अभिमंत्रित चरु के भक्षण से उत्तम ब्राह्मण–सन्तान तथा उत्तम क्षत्रिय–सन्तान होगी। दुर्भाग्यवश दो भिन्न वर्णों में विवाहित

कन्याओं को देय चरुपात्र अदल–बदल हो गए। क्षत्रिय–पत्नी ने उत्तम ब्राह्मण–सन्तानदायी चरु खालिया; परिणामतः ब्राह्मणप्रकृति विश्वामित्र हुआ; ब्राह्मण–पत्नी ने उत्तम क्षत्रिय सन्तानदायी चरु खा लिया; परिणामतः क्षत्रिय प्रकृति परशुराम का जन्म हुआ। अवतारक्रमावली में परशुराम का छठा स्थान है, जबकि वैवस्वत मन्वन्तरीय अवतारों में उनका स्थान चौथा है।

इन समकालीन महापुरुषों का समय मत्स्यपुराणानुसार इस प्रकार है–

''एकोनविंश्यां त्रेतायां सर्वक्षत्रान्तको विभुः।
जामदग्न्यस्तथा षष्ठो, विश्वामित्र-पुरस्सरः।।''

–मत्स्यपुराण ३.४७.२२३

जिसका समय निर्धारण इस प्रकार है–

मनुसंवत् ७,६४,८८,००० **		ईसवी पूर्व ४,१०,४३,१०२
[+] से	त्रेतायुग	१२,९६,००० सौरवर्ष से [–]
८,०७,८४,००० पर्यन्त		३,६७,४७,१०२ तक

अर्थात् इस कालावधि में गायत्रीमंत्रसंस्थापक विश्वामित्र का आविर्भाव मान्य है। निश्चित वर्षसंख्या के लिए अनुसंधान किया जा सकता है।

द्वितीयो विश्वामित्रः

अवतार–श्रृंखला में दाशरथि राम का स्थान सातवां है। उनका समय चौबीसवें पर्याययुग[1] का त्रेतायुग है। जो इस प्रकार है–

मनुसंवत् १०,१०,२८,००० **		ईसवी पूर्व १,६४,४३,१०२
[+] से	त्रेतायुग	१२,९६,०००, सौर से [–]
१०,२३,२४,००० तक		१,८१,४७,१०२ के मध्य

सन्तोष की बात है, दाशरथि राम से जुड़े पात्रों का उल्लेख भी चौबीसवें पर्याययुग के रूप में दर्ज है। और वे उल्लेख भिन्न–भिन्न संदर्भग्रंथों से आए हैं। यथा–

१.रावण– **''त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणः तपसः क्षयात्।**
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमीयीवान्।।''–वायु ७०–८८

२.राम– **''संधौ तु समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च।।**
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः।।''–शा.प. ३४८.१९

---

१. कालः पर्यायधर्मेण। पर्यायः=क्रमः।

३.विश्वामित्र– **''चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्र पुरःसरः।**

लोके राम इति ख्यातः तेजसा भास्करोपमः।।'' –हरिवंश २२.१०४

४.राम– **''चतुर्विंशे युगे वत्स ! त्रेतायां रघुवंशजः।**

रामो नाम भविष्यामि चतुर्व्यूहः सनातनः।।'' –ब्रह्माण्ड २.२.३६.३०

इन सभी पुराणीय संदर्भों में 'चतुर्विंश' पर्याययुग का उल्लेख सर्वत्र है। हरिवंश में विश्वामित्र का उल्लेख है। प्रस्तावित विश्वामित्र राम के शस्त्र–दीक्षादायी हैं।

इस कालखण्ड में राम का जन्म अनुसंधान–सापेक्ष है, उक्त विषय प्रासंगिक नहीं था, नहीं लिखा।

तृतीयो विश्वामित्रः।

महर्षि कण्व की पोष्य पुत्री शकुन्तला का जनक विश्वामित्र पूर्वलिखित विश्वामित्रों से भिन्न है। चूंकि विश्वामित्र–दौहित्र महाराजा भरत की वंशावली पुराणों में उपलब्ध है, और उसी के परिवेश में भरत का समय भी निश्चित है। यथा–

१. भरत का अभिषेक : सप्तर्षि संवत् १०१५ = ५८६६ ई. पू. है;

२. भरत का निधन : सप्तर्षि संवत् १०९३ = ५७८८ ई. पू. है ।

भरत का निधनवर्ष भागवत–पुराण में इस प्रकार वर्णित है–

''सर्वकामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोधसि।

समाः त्रिनवसाहस्त्री दिक्षु चक्रमवर्तयत्।।'' ९.२०.३१

एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि तृतीय विश्वामित्र क्षत्रिय था। उसका पिता 'कुशिक' राजा था, जिसका उल्लेख वेदों में है– ''कुशिको राजा बभूव''[1]। परन्तु मेनका के सहवास से जन्मी शकुन्तला की सन्तान 'ब्रह्मक्षत्र' कहलाई। जैसा कि भागवत का पाठ है–

''यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ।।'' ९.२०.१

इस वंश में अनेक मंत्रद्रष्टा ऋषि हुए। इनमें अन्तिम राजर्षि देवापि हुआ, जिसने 'वर्षाकाम सूक्त' का आविर्भाव करके अपने कनिष्ठ भ्राता शान्तनु को वर्षेष्टि यज्ञ कराया था। अतः वैदिक साहित्य में 'ब्रह्मक्षत्रवंश' की रक्षा के लिए भूयोभूयः प्रार्थना की गई है। यथा–

''ब्रह्मक्षत्रं पातु''

---

१. रमध्वं मे वचसे सौम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्रसिन्धुमच्छा बृहती मनीषाऽवस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।
वेदशास्त्र संग्रहः, डॉ विश्वबन्धुः पृष्ठ ७८

जहां तक वैदिक इतिहास [उभयविध] का प्रश्न है, वहां यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रथम विश्वामित्र तथा तृतीय विश्वामित्र की चर्चा बहुत्र है । दोनों मंत्रकर्ता भी थे और मंत्रद्रष्टा भी। परन्तु द्वितीय विश्वामित्र के लिए कोई निर्णीत अभिमत प्रकाश में नहीं आया है। उसके लिए 'अनुसंधान'' प्रगति पर है। ''आगे–आगे देखिए, होता है क्या ?''

अष्टमोऽध्यायः

''मानुषेण प्रमाणतः''

पुराण–शास्त्रों में यत्र–तत्र काल–नियामक संदर्भ उपस्थित किये गये है, वहाँ–वहाँ यह ठप्पा भी लगा दिया है **''मानुषेण प्रमाणतः''।** इससे साफ़ झलकता है कि काल गणनाएँ द्विविध हैं। एक–दैवत काल गणना है, दूसरी **मानव काल गणना।** दोनों गणना–विधानों के दरम्यान ३६० वर्षों की दीवार है। दीवार की पारवर्ती गणना दैवत गणना है और उक्त दीवार के अवारवर्ती गणना मानवगणना है।

यहां प्रश्न पैदा होता है कि ऐसा क्यों किया गया है ? एक अस्पष्ट से समाधान के पीछे छिपा रहस्य क्या है ? इन प्रश्नों के समाधायक निबन्ध में यह लिखना जरूरी है कि समग्र सृष्टि दो युगों में विभक्त है– दैवयुग और मनुयुग। देवसृष्टि से मनुसृष्टि को मिलने वाली विरासतों में वेद–पुराणशास्त्रों के अतिरिक्त काल–विज्ञान की विरासत का स्थान प्रमुख है। द्विविध काल– गणनाओं का गणना–विधान अलग–अलग था ही। गणना–विधान का नामान्तरण के साथ–साथ रूपान्तर का प्रयोग भी विरासत में मिल गया, जिसका संकेत है–'मानुषेण प्रमाणतः'।

एक और खास बात। काल–विज्ञान की ६ विधाएं हैं। सभी की सभी गणनाविधाएं पार्थिव जगत् के लिए हैं । दिव्यजगत् में ये गणना–विधाएँ नहीं हैं। सूर्य और चन्द्र का प्रकाश और नियंत्रण केवल भौमिक संसार के लिए है। जैसा कि कठोपनिषद् का वचन है ।

यथा-

> **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ।**
> **नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।**
> **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं**
> **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।** अ२/व३/मं१५

जब दिव्यजगत् में काल–विभाजक साधन ही नहीं हैं, तब वहाँ के लिए भी

मानुष काल–विधान ही लागू होते हैं। अपार्थिव जगत् के लिए काल–विधान स्थापित करते हुए, पदे–पदे यह स्मरण कराया गया है–**मानुषेण प्रमाणतः।**

भारत में प्रचलित नवविध गणनाओं की पृष्ठभूमि मानवी कालगणना पर टिकी हुई है–यह सदा गौरतलब ही रहेगा।

नवमोऽध्यायः

–कालगणना की विविध प्रणालियाँ–

भारत के विभिन्न शास्त्रों में काल–गणना की प्रणाली एक–सी नहीं हैं, हर शास्त्र ने अलग राग अलापा है। प्रसन्नता की बात यह है कि प्रणाली–भिन्नता होने पर भी फलागम में अभिन्नता है।

(१) गणनाशैली–

कृष्ण द्वैपायन ने महाभारतसंहिता में दिव्य संवत्सर गणना का उल्लेख इस प्रकार किया है–

''त्रयस्त्रिंशत्सहस्त्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा।''

अर्थात् ३३३३३ दिव्यवर्षों में सृष्टि का कालबोध संक्षिप्तरूपेण सुरक्षित है। इस संख्या को प्रथम बार ३६०$\frac{१}{३}$ वर्षों से तथा द्वितीयबार ३६० वर्षों से गुणा करने की अपेक्षा है। यथा–

(क) ३३३३ X ३६०–१०,६६,६८८०

+ १२० =

१,२०,००,०००

(ख) X ३६०

४,३२,००,००,०००–ब्राह्मदिवस।

(२) गणना शैली–

विनोद स्वभावी कृष्णद्वैपायन व्यास ने एक अलग ढंग से गणना शैली का प्रस्ताव भी किया है । यथा–

''षड्विंशति सहस्त्राणि वर्षाणि मानुषाणि तु।
वर्षाणां तु शतं ज्ञेयं दिव्यो ह्येष विधिः स्मृतः।।'' ब्रह्माण्ड १/२/२६/१६.

अर्थात् ६ X २० = १२० सहस्त्र संख्या को १०० से गुणा करने पर प्राप्त फलागम को ३६० से गुणा करने की आवश्यकता है। यथा–

(क) ६ X २०, = १२०,००० X १०० = १२०,००,००० का फलागम मिला। यहां गौरतलब है कि यह फलागम प्रथम गणना के 'क' अनुभाग के अनुरूप है।

(ख) १२०,००,००० X ३६० = ४,३२,००,००,०००–ब्राह्मदिवस।

(३) गणनाशैली–

भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने विष्णुपुराण में विचित्र शैली का अवलम्बन लिया है। यद्यपि उसमें अनुष्टुप की एक अर्द्धाली लुप्त है, तथापि हमने संभाव्य पाठान्तर को कोष्ठ में लिख दिया है यथा–

''त्रीणि लक्षाणि वर्षाणां द्विजमानुषसंख्यया।
षष्टिश्चैव सहस्त्राणि (युगं प्राहुः पुराविदः)।।
षड्त्रिंशच्च सहस्त्राणि भविष्यत्येष वै कलिः।
शतानि तानि दिव्यानि सप्त पंच च संख्यया।।''

यहाँ 'युग' से तात्पर्य महायुग अथवा चतुर्युग से है। गणनाविधान

(क) ३६०,००० X १२ = ४३,२०,०००-चतुर्युग।

(ख) ३६००० X १२ = ४,३२,००० कलिकाल का वयोमान।

(ग) ३०० X १२ = ३६०० दिवस अर्थात दशवर्ष कलिप्राक् श्रीकृष्ण के मरणोरान्त स्थापनार्ह हैं।

(४) गणनाशैली–

हमने षष्ठ अध्याय में सप्तर्षि–संवत् का विस्तृत परिचय दिया है । इस प्रसंग में ज्ञातव्य है कि–

७।। सौरवर्ष-१ सप्तर्षिदिवस ।

इस संख्या को भी ३६० से गुणा करने की आवश्यकता है–

७ X ३६० = २५२० + १८० = २७०० सौरवर्ष

सप्तविंशति वर्षाणि चरन्ति ते शतं शतम् ।

–अथ सिंहावलोकन–

दिव्य अथवा लौकिक (वैदिक तथा पौराणिक) गणना–शैलियों में भिन्नता की विद्यमानता में लक्ष्यस्वरूप ब्राह्मदिवस का वर्षफलागम–४,३२,००,००,०००– समान है, यही इस गणना–विधान की विश्वसनीयता का आधार है।

ऋग्वेद में काल-बोध

प्रो० एम० आई० खान

ऋग्वेद में मूर्त एवं अमूर्त रूप से अनेक वस्तुओं एवं भावों का वर्णन प्राप्त होता है। अमूर्त भावों मे काल एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके प्रभाव से सभी प्रभावित हैं चाहे वे जड़ हों अथवा चेतन। यह एक सर्वव्यापी तत्त्व है। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि काल सर्वप्रथम एक सूक्ष्म तत्त्व था, परन्तु शनैः–शनैः इसका अवबोधन बाह्य स्थूल वस्तुओं से होने लगा। इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि मृत्यु काल का एक रूप है, जो सूक्ष्म है, परन्तु इस का एक बाह्य रूप सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, ऋतुएँ आदि हैं, जो भौतिक रूप में वर्तमान काल–स्वरूप हैं तथा काल–प्रवर्तिनी शक्तियाँ भी हैं। इस काल को एक महती शक्ति के रूप में ऋषियों ने स्वीकार किया है '**कालो ह सर्वस्येश्वरः**'[१]। प्राचीन काल में इस का ज्ञान न केवल ऋषियों को था, अपितु साधारण मनुष्य को भी था। एक कृषक को भी ज्ञात था कि किस समय उसे किस फसल को बोना चाहिए। कब पानी बरसेगा और कब गर्मी पड़ेगी। ऋग्वैदिक काल में ज्योतिष अस्तित्व में आ चुका था, जिसमें समय का महत्त्वपूर्ण योग होता है। जंगली जातियों को भी ज्योतिष का थोड़ा बहुत ज्ञान था, क्योंकि इस की आवश्यकता प्रतिदिन उन्हें पड़ा करती थी। उस समय भी ज्योतिष का अध्ययन होता था। इस का एक प्रबल प्रमाण यह है कि यजुर्वेद में नक्षत्रदर्श (ज्योतिषी) की चर्चा है[२]। छान्दोग्य उपनिषद् में नक्षत्र–विद्या का उल्लेख है[३] तथा ज्योतिष अति प्राचीन काल से वेद के छः अंगों में गिना जाता रहा है।[४]

काल को नापने अथवा बताने के संदर्भों में ऋग्वेद में कई शब्द आये हैं, जिन में सूर्य, चन्द्रमा, अदिति, अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू आदि हैं। सूर्य एवं चन्द्रमा काल–निर्माण के बहुत बड़े यन्त्र हैं। सूर्य द्युलोक में घूमता हुआ दिन तथा रात्रि को बनाता है। इंस सन्दर्भ में **अथर्ववेद** का एक मंत्र इस प्रकार है–

> मा त्वां दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गां अति याहि शोभम्।
> दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि।।[५]

इस मंत्र में कहा गया है कि हे सूर्य । तुम आकाश और दिव्य गुणों वाली भूमि तथा दिन–रात को नापते हुए गमन करते हो । इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा

---

१. अथर्ववेद १९/५३/८
२. यजु० ३०/१०
३. छां. उप. ७/१/२, ७/१/४, ७/२/१, ७/७/१
४. आप० ध. सू. ४/२/८/१०
५. अथर्व० १३/२५

गया है कि सूर्य समय–निर्माता के रूप में ३६० दिन का वर्ष बना है[१] जो वैदिक जीवन का सामान्य संवत्सर है। इस सौर वर्ष को दो भागों में बांटा जा सकता है– उत्तरायण, जब सूर्य उत्तर की ओर जाता है और दक्षिणायन, जब सूर्य दक्षिण की ओर जाता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर अयनों का वर्णन है[२]। यही सूर्य मासों का निर्माण करता है तथा इन्द्र ने एतदर्थ इसे द्युलोक में स्थापित कर रखा है[३] ऋग्वेद में प्रदर्शित है कि सूर्य एवं चन्द्रमा मिलकर रात–दिन का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार सूर्य सौर वर्ष को बनाता है , उसी प्रकार चन्द्रमा चान्द्र वर्ष का निर्माण करता है–"चान्द्रं मानमस्येति वा"[४]।

मास दो पक्षों का होता है, जो पूर्वपक्ष एवं अपर पक्ष कहलाते हैं। ये चन्द्रमा द्वारा बनते हैं तथा शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के नाम से जाने जाते हैं, ये दोनों १५ – १५ दिन के होते हैं। कलाएँ चन्द्रमा के पर्व हैं। इन से प्रतिपदा आदि तिथियाँ बनती हैं। मास के पूर्णिमा एवं अमावस्या दो आधे–आधे भाग हैं। इस प्रकार सूर्य एवं चन्द्रमा मिल कर काल के छोटे–छोटे भाग भी बनाते हैं–

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामत्यग्रम्।
भागं देवभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः।।[५]

इस चन्द्रमा को संवत्सर तथा मास का निर्माता कहा गया है –

वायुः[६] सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः।

अदिति प्रातः संध्या एवं सायं संध्या को बनाती है तथा रात एवं दिन की सेवा करती है।[७] देवों ने चतुर्दशी से मिले हुए पूर्णमासी के पूर्व भाग को अनुमति माना है।[८] पूर्णमासी के अन्तिम भाग को राका कहा है।[९] इसी प्रकार अमावस्या का पूर्व भाग सिनीवाली[१०] तथा अन्तिम भाग कुहू कहलाते हैं।[११]

यहां काल के छोटे – छोटे अंगों की गणना की गई है। इसी प्रकार स्वतः काल, ऋतु, सम्वत्सर, युग का आदि का वर्णन भी ऋग्वेद में स्थान – स्थान पर मिलता है। इसके अतिरिक्त भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् इस वेद की परिधि से बाहर

---

१. ऋ० ५/८१/१
२. वही, १/६५/५, ५/२६/५, १०/१७७/४, १०/१७२/२
३. अथर्व० १३/१२
४. निरु० ११/३
५. ऋ० १०/८५/१६
६. वही, १०/८५/५
७. वही, १०/६४/५
८. यजुर्वे० ३४/८
६. ऋ० २/३२/४
१०. वही, २/३२/६
११. अथर्व. ७/४७/१

नहीं हैं। 'काल' का वर्णन ऋग्वेद के दशम मण्डल में केवल एक बार हुआ है।[१] साल में छः ऋतुएँ होती हैं, जो दो–दो मास की होती हैं तथा ये क्रमशः ग्रीष्म, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, शरद तथा वर्षा हैं । अथर्ववेद के एक मन्त्र में इन का क्रमिक वर्णन है।[२] ऋतु शब्द ऋग्वेद १/४६/३ ; ८४/१४ इत्यादि में आया है। ऋग्वेद –१०/९०/६ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद का उल्लेख है। अन्य स्थल पर प्रावृष् और हिमा या हेमन्त का भी उल्लेख है।

वैदिक संवत्सर (वर्ष) शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[३] एवं परवर्ती साहित्य में आया है। संहिताओं और ब्राह्मणों के आधार पर सवंत्सर में ३६० दिन बनते हैं, जो बारह महीनों में बँटते हैं। निःसन्देह यह चान्द्र वर्ष का विभाजन है, जिससे संवत्सर ६ दिन अधिक का बनता है तथा पाँच या छः वर्षों में अधिमास की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।[४] इसे ही सामान्यतः मलमास कहा जाता है । ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में युग शब्द आया है।[५] तथा यह शब्द प्रायः वंश – परम्परा या पीढ़ी का अर्थ देता है, किन्तु दीर्घतमा के लिए प्रयुक्त 'दशमे युगे' का अर्थ जीवन का दशम वर्ष – दशक किया जा सकता है।[६] दीर्घतमा ऋषि को वैदिक युग का अन्वेषक माना गया है तथा यह सर्वप्रथम वैदिक ज्योतिषी ऋषि हैं, जिन्होंने वैदिक युग का अन्वेषण किया था। इस वैदिक युग को प्रायः विद्वानों ने ४ या ५ वर्ष का माना है।[७] इसी मत को एक अन्य वैदिक प्रणाली के अनुसार चान्द्रगणना–प्रधान प्रभवादि पाँच – पाँच वर्षों का एक युग माना जाता है और इस में होने वाले वर्षों के नाम क्रमशः संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर तथा इद्वत्सर हैं। इनके अधिष्ठाता अग्नि आदि भिन्न–भिन्न देवता हैं–

चान्द्राणां प्रभवादीनां पञ्चके पञ्चके युगे।
सन्परीदान्विदित्येतच्छब्दपूर्वास्तु वत्सराः।।[८]

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन इस सम्बन्ध में इस प्रकार है :

अग्निर्वाव संवत्सरः। आदित्य परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वायुरनुवत्सरः।[९]

---

१. ऋ० १०/६२/६
२. अथर्व० ६/५५/२
३. ऋ० १/११०/४, १/१४०/२, १/१६१/१३, ७/१०३/१७ इत्यादि
४. डा० सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृ० ५३३
५. ऋ० १/१३६/८, ३/२६/२; ६/८/५; ६/१५/८ ; ६/३६/५; ६/६४/१२
६. वही, १/१५८/६
७. तुलनीय --- Antiquity of the Vedas, p.74.
८. श्री नीलकण्ठ शास्त्री, अथर्ववेद संहिता सनातन भाष्य सहित, भाग २, पृ.० २८७
९. तै० ब्रा० १/४/१०/१

वर्तमान, भूत एवं भविष्यत् रूप से काल का वर्णन ऋग्वेद में पाया जाता है । **पुरुषसूक्त** में इनका वर्णन इस प्रकार है;

पुरुष एवेदं सर्वं
यद्भूतं यच्च भव्यम्
उतामृतत्वस्येशानो
यदन्नेनातिरोहति।।[१]

जो सत्ता में है, जो सत्ता में था और जो सत्ता में आयेगा, वह सब पुरुष ही है। इस प्रतिपादन से स्पष्ट है कि काल से पुरुष परिवेष्ठित है। तदनुसार सृष्टि होती है। काल जब सूर्य से सम्बद्ध होकर रचना करता है, तब उसकी महत्ता अद्वितीय होती है, क्योंकि सूर्य ब्रह्म का प्रतीक है और उपनिषदों में इसी सूर्य को हंस कहा गया है, जो **'अहं सो हंसः'** से जीवात्मा एवं परमात्मा के ऐक्य को बोधित करता है। अभी ऊपर उत्तरायण और दक्षिणायन जो सूर्य के दो पक्ष प्रदर्शित किये गये हैं, उपनिषदों में उन्हें ब्रह्म–रूप माना गया है। इस काल का यज्ञों से भी सम्बन्ध वेदों में उपलब्ध होता है, जो यज्ञ स्वर्ग प्राप्ति के साधन हैं तथा उनके प्रतिपादन से भिन्न–भिन्न लोकों की प्राप्ति होती है। कहीं–कहीं लोकों में रहने की अवधि भी निश्चित है। इस प्रकार काल का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है तथा यह नित्य एवं अमृत है। अथर्ववेद में इसे दो सूक्तों का देवता माना गया है तथा यह सब का ईश्वर कहा गया है।

---

१ ऋ० १०/९०/२

वैदिक संहिताओं में आदित्य एवं काल

डॉ० प्रवेश सक्सेना

यूनानी दार्शनिक हेराक्लाइटस ने कहा है कि 'एक ही नदी में दो बार उतरना संभव नहीं है, कैसे उतरेंगे एक ही नदी में हम दो बार ? जब हम दूसरी बार उतरने जायेंगे नदी बह चुकी होती है, इस चिन्तन को और आगे बढ़ाएँ तो कहा जा सकता है कि हम नदी में एक बार भी उतर नहीं सकते, क्योंकि जब हमारा पैर नदी की ऊपरी सतह को स्पर्श करता है तब तक नीचे का पानी बह चुका होता है। वास्तव में नदी बहती रहती है। बहने का ही नाम नदी है। जीवन की नदी भी सतत प्रवाहित रहती है। उसमें भी वैसा ही बहाव है । जीवन में भी दोबारा उसी स्थान पर खड़ा होना असंभव है और दोबारा वही देखना भी असंभव है, जो देखा था । हमें भ्रांति होती है, हम सोचते हैं कि रोज प्रातः वही आदित्य निकलता है, पर वही आदित्य रोज नहीं निकल सकता वह नित्य रूपांतरित होता रहता है, प्रतिपल उसमें परिवर्तन होता रहता है। संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक कण में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है, कोई वस्तु ठहरी नहीं है। हम भी तो हर क्षण बदल रहे हैं, हम भी कहाँ ठहरे हैं । बराबर हर क्षण बदलते जा रहे हैं। हर क्षण एक घटना है। घटना का अर्थ है प्रक्रिया। इस प्रक्रिया, प्रवाह के मध्य अगर कुछ अक्षय है तो वह है काल या समय । इस प्रक्रिया में अगर कोई चीज स्थिर है तो वह स्वयं परिवर्तन है। सुनने में यह बड़ा 'पैराडॉक्सिकल' विरोधाभास लगता है पर जीवन के सभी गहरे सत्य 'पैराडाक्सिकल' यानि उल्टे ही हैं, विरोधाभास हैं। यदि कोई चीज नहीं मरती तो वह मृत्यु है। एक मात्र चीज जो क्षीण नहीं होती वह समय है। मृत्यु को भी इसीलिए 'काल' कहते है और अनहोनी को अकाल। गीता में इसे ही श्रीकृष्ण ने 'मैं अक्षयकाल हूं' कहा है।

जब हम आदित्य एवं काल की बात करते हैं, तो आदित्य सूर्य का बोधक शब्द है तथा काल, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन और रात आदि के नाम से कहे जाने वाले 'समय' का वाचक है। इसे व्यक्त या स्थूल 'काल' भी कहा जा सकता है। यह प्रकृति का कार्य है, प्रलयकाल में वह नहीं रहता तब जो होता है वह 'अक्षय' और अनन्त काल होता है। निरुक्त[1] के अनुसार 'काल' गति अर्थ वाली कल् धातु से निष्पन्न शब्द है जिसका अर्थ है नित्य चलते रहने वाला, प्रवाहित होने वाला। काल की सबसे छोटी इकाई है क्षण या मुहूर्त जिसे यास्क ने इस प्रकार से वर्णित किया है –

---

१. निरुक्त २/२५

'मुहूर्तम् एवैः अयनैः अवनैः वा। मुहूर्तो मुहुर्ऋतुः ऋतुः ऋतेः गतिकर्मणः मुहुः मूह्रः इव कालः।[१]'

अर्थात् एक क्षण के लिए अपनी गति को, रोक दो अपनी यात्राओं या त्राणों को। बार–बार आने वाली समय की इकाई मुहूर्त का अर्थ हुआ मानो काल एक क्षण के लिए मूढ, निश्चेष्ट हो गया था। इसी प्रकार 'क्षणः क्षणोते :' क्षणु क्षीण करने से बना है क्षण। 'प्रक्ष्णुतः कालः' – क्षतिग्रस्त समय ही क्षण है। यास्क के विवेचन से स्पष्ट है कि काल परिवर्तन का ही नाम है । काल के परिवर्तन रहट के समान हैं क्योंकि वसन्तादि ऋतुओं की पुनः–पुनः आवृत्ति नियमित रूप से देखने में आती है। कालचक्र निरन्तर प्रवर्तित रहता है। अथर्ववेद में इसीलिए काल को अश्व कहा है। व्यवहार में काल की गणना सूर्य के आधार पर ही की जाती है। वैदिक संहिताओं में सूर्य के विभिन्न रूप और विभिन्न कार्यों के कारण विभिन्न नाम एवं विशेषण मिलते हैं। कुछ विद्वानों का तो मत है कि संपूर्ण वैदिक–देव शास्त्र को सौरदेव शास्त्र (Solar Mythology) के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। परन्तु यहाँ हमें अपने अध्ययन को 'आदित्य' से संबद्ध उदाहरणों तक ही सीमित रखना है। आदित्य (एकवचनान्त) का प्रयोग ऋग्वेद में कई देवों के विशेषण के रूप हुआ है। आदित्य अदिति का पुत्र है जो स्वातन्त्र्य, पवित्रता एवं प्रकाश की देवी है। वरुण, मित्र, अर्यमन्, भग, अंश, दक्ष, इन्द्र, सूर्य आदि सभी को आदित्य कहा गया है। जहाँ तक काल शब्द का प्रश्न है यह शब्द ऋग्वेद में आदित्य के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ ही नहीं है।[२] परन्तु काल के कई अवयवों का प्रयोग अवश्य हुआ है।

ऋग्वेद[३] के एक मन्त्र की व्याख्या में सायण ने कहा है कि देवता आदित्य के मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते क्योंकि अपने अस्तित्व के लिए वे उस सूर्य पर निर्भर हैं जो ऋतुओं का नियामक है क्योंकि यज्ञ ऋतुओं के आधार पर ही होते हैं जिनमें देवों को आहुतियाँ दी जाती है। ऋग्वेद में आदित्य संबधी मन्त्र गिने– चुने हैं, आदित्यगण या आदित्यों का वर्णन ही विस्तार से यहाँ प्राप्त होता है। इनकी संख्या ६,७ या आठ और ६ बताई गई है। ऋग्वेद (१०/११४/३) में सप्त अश्व का संबध आदित्य से जोड़ा गया है। 'सप्त' संख्या का यहाँ विशेष महत्त्व है। मैक्समूलर ने इस मन्त्र के संदर्भ में कहा है —

---

१. वही

२. वैसे भी ऋग्वेद (१०/४२/६) में केवल एक बार काल शब्द आया है जहाँ उसका अर्थ ऋतु ही जान पड़ता है।

३. असौ य पन्था आदित्यो दिवि प्रवाच्यं कृतः। न स देवा अतिक्रमे तं मा। ऋ. १/१०५/१०

'I can only suggest the seven days or, four parvans of the lunar month as a possible prototype of Adityas. This might even explain the destruction of the eighth Aditya considering that the eighth day of each parvan, owing to its uncertainty, might be represented as exposed to decay and destruction[1].

अतः मैक्समूलर के अनुसार सात की संख्या सप्ताह के सात दिन अथवा चान्द्रमास के चार पर्वों की ओर संकेत करती है। परन्तु वैदिक संहिताओं में काल के अवयव 'सप्ताह' का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। यह अवधारणा काफी समय बाद प्रचलित हुई थी। यहाँ सात की संख्या सूर्य की सात रश्मियों या Seven prismatic. rays सात रंगों की बोधक ही जान पड़ती हैं, ये सात स्त्रोत हैं – Violet, Indigo, Blue, Green, Yellow, Orange and Red बाल गगांधर तिलक ने अपने ग्रन्थ 'The Arctic Home in the Vedas[2] में आर्यों का आदि प्रदेश उत्तरी ध्रुव को प्रतिपादित किया है। उत्तरी ध्रुव पर सूर्य छः, सात या आठ महीने दिखाई देता है। उत्तरी ध्रुव से आर्य जब धीरे–धीरे इधर आए तो ऐसे स्थानों पर पहुँचे जहाँ सूर्य १२ मास चमकता है। पूर्व युग की स्मृति के रूप में ही आर्यों के ग्रन्थ में ६, ७, ८, मासों की संख्या भी सुरक्षित रही। साथ–साथ ही बाद में तैत्तिरीय संहिता[३] में तथा ब्राह्मणग्रन्थों में 'द्वादशमासाः आदित्याः' – १२ महीनों के १२ आदित्य कहे जाने लगे। वास्तव में मानव सुविधा की दृष्टि से काल की गणना संवत्सर या वर्ष, मास, दिन रात, घण्टे, मिनट और सैकेण्ड में कर लेता है। भूत, वर्तमान और भविष्य भी काल के ही रूप हैं, परन्तु केवल मात्र मानवीय दृष्टिकोण से। काल–पुरुष की दृष्टि से तो ऐसा कोई भेद है ही नहीं। काल की नदी तो निरन्तर प्रवाहित रहती है, काल–चक्र निरन्तर प्रवर्तित रहता है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से दिक्काल की गणना का आधार आदित्य ही है, सूरज ही है ! सूर्य के उदयास्त एवं उसके प्रकाश तथा उसकी ऊर्जा के संदर्भ में हम काल को अलग–अलग विभाजित कर लेते हैं। सूर्य के उदित होने की दिशा प्राची है तो अस्त होने की प्रतीची । इसी प्रकार सूर्य के उदय से प्रातःकाल तो अस्त होने से सायंकाल होता है, अन्य समय के अवयव भी आदित्य पर ही आधारित हैं। मास, वर्ष तथा ऋतुओं के संदर्भ में भी सूर्य की गति या प्रकाश का ही

1. Quoted by A.A Macdonell in Vedic Mythology P. 44.
2. pp.157-58
३. तै० संहिता ३/४/६/७; ३/५/२/३

कार्य होता है। तै० संहिता[1] में आदित्य के तीन तेजों का उल्लेख है —

'त्रीणि वा आदित्यस्य तेजाँसि वसन्ता प्रातर्ग्रीष्मे, मध्यन्दिने शरदपराह्णे यावन्त्येव तेजाँसि तान्येव'—अर्थात् आदित्य के तीन तेज प्रातः में वसन्त, मध्याह्न में ग्रीष्म तथा अपराह्न में शरद होते हैं!

ऋग्वेद के एक मंत्र में आदित्यों को वर्ष, मास, दिन,रात बनाने वाला बताया गया है —

वि ये दधुः शरदं मासमादहर्यज्ञमक्तुं चादृचम्
अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत[2] ।।

आदित्य एवं आदित्यों के संदर्भ में 'काल' शब्द का प्रयोग भले ही ऋग्यजुसाम में न हो परन्तु उपर्युक्त (काल के) विभिन्न अवयवों का प्रयोग व उल्लेख तो मिलता ही है। काल की परिभाषा के संबंध में प्रारम्भ में बताया गया है कि कल् धातु गत्यर्थक है । वेदों में अदिति, आदित्य एवं आदित्यगण सभी अनेकों बार 'ऋत' से संबद्ध बताए गए है। 'ऋत' एवं ऋतु दोनों ही शब्द 'ऋ' गतौ से बने हैं। ऋत के अनेकों अर्थ वैदिक वाङ्मय में मिलते है । परन्तु एक व्यवस्था या Order के रूप में इसे काल का बोधक शब्द भी माना जा सकता है । आदित्य, सूर्य या आदित्यगण ऋतु के बंधन में काल के बंधन में बंधे होकर गति करते हैं। अथर्ववेद में आदित्य सूक्त में कहा गया है —

ऋतेन ऋतुभिश्च सर्वभूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्[3]।

अर्थात् मैं ऋतु के द्वारा और ऋतुओं के द्वारा रचित होकर भूत और भविष्य के द्वारा रक्षित होकर विचरूँ। ऋत का पालक एवं ऋतुओं का नियामक सूर्य ही मानव की रक्षा करने में समर्थ होता है, उसी से यह प्रार्थना की गई है।

तै० संहिता में १२ मास, ५ ऋतुएं, ३ लोक तथा २१ वां आदित्य कहा गया है[4]। तीन ऋतुओं का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। अथर्ववेद में छह ऋतुओं का भी उल्लेख है। हर ऋतु में सूर्य का ताप अलग प्रकार का होता है।[5]

ऋग्वेद में आदित्य (वरुण) को बारह महीनों तथा एक अधिमास का ज्ञाता

---

१. तै० संहिता २/१/४/२

२. ऋ. ७/६६/११

३. अथर्ववेद १७/२६

४ द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः।। तै० संहिता ७/३/१०/५

५. ताण्ड्य महाब्राह्मण में कहा गया है — 'तस्माद् यथर्तु आदित्यस्तपति' ।

कहा गया है।[१] एक और मन्त्र की व्याख्या में सायण ने कहा है **'उत्तरायण-दक्षिणायनमार्गस्य विस्तारः प्रसिद्ध;** ।[२] सूर्य की इन दोनों गतियों का उल्लेख तै० संहिता में तो स्पष्ट रूप से किया गया है – **'तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनेति षडुत्तरेण'**[३] अर्थात् आदित्य उत्तर दिशा में छह महीनों के लिए तथा दक्षिण दिशा में भी छह महीनों के लिए जाता है।

आदित्यों के जन्म की कथा के संबध में एक बार ऋग्वेद में 'पूर्व्यं युगम्'[४] का प्रयोग आया है जिसके संबध में बाल गङ्गाधर का मत है – "All this occured not in this age, but in the previous age. The word युग is evidently used to denote a period of time in the first and second verse of Xè72. which refer to the former age of the gods and also of the late age."[५]

यहाँ 'पूर्व्यं युगम्' आदित्य के (या आदित्यों के) अस्तित्व से पहले समय की ओर तथा 'उत्तर युग' बाद के समय का भी बोधक हो सकता है। तै० संहिता में कई स्थल हैं जहाँ कहा गया है कि यह आदित्य पहले नहीं चमकता था —

असावादित्यो न व्यरोचत तस्मै देवा प्रायश्चितिमैच्छन्[६] ।

बाद में देवों ने अनेको प्रायश्चित्तियों से इसे 'रोचन' बनाया। सूर्य जिस रूप में आज है, पहले इस रूप में नहीं था, भविष्य में इस रूप में नहीं रहेगा। भाव हुआ कि आदित्य काल का नियामक है, पर काल उससे भी परे था, परे है और परे रहेगा। यहाँ एक प्रकार से काल की 'अनन्तता', 'अक्षयता' का बोध होता है। काल का नियन्ता सूरज स्वयं कालचक्र के अधीन है। काल ही पृथिवी को सूर्य के चारों ओर घुमाकर रात, दिन, मास, ऋतु, संवत्सर की कल्पना करता है। दूसरी ओर कालचक्र में पड़ते हुए आदित्य बदलता जा रहा है, क्षीण होता जा रहा है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार आदित्य या सूरज धीरे–धीरे ठंडा हो रहा है भले ही पूरा ठंडा होने की स्थिति आने में अभी ५ बिलियन वर्ष लग जाएँ।

वैदिक संहिताओं में आदित्य एवं काल के संबंध को व्यापक दृष्टि से समझने

---

१. ऋग्वेद १/२५/८ – वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदा या उपजायते।

२. ऋग्वेद १/२४/८

३ तै. सं. ६/५/३/४

४. ऋग्वेद १०/७२/१–२

५. The Arctic Home In The Vedas pp. 157-58

६. तै० संहिता २/१/४/१

के लिए हमें अथर्ववेद का अध्ययन करना होगा। यहाँ त्रयोदश काण्ड (संपूर्ण) रोहितादित्य (अथवा अध्यात्म) को समर्पित है। रोहित का अर्थ है लाल, आदित्य है सूर्य – रोहितादित्य हुआ अरुणिम सूरज (Ruddy Sun) इस काण्ड के सूक्तों और मन्त्रों में सूर्य का प्राकृतिक या भौतिक रूप जिससे दिनरात या ऋतुओं का निर्माण होता है, विस्तार से वर्णित है। साथ ही 'अध्यात्म' को समर्पित इस काण्ड में उस भौतिक या स्थूल रूप के भीतर छिपे सूक्ष्म रूप का भी विवेचन सुन्दर रूप में किया गया है।

स्थूल रूप में रोहितादित्य अनेकों बार[1] 'अहोरात्र' का निर्माता कहा गया है। दिनरातों से समर्थ होता हुआ रोहितादित्य जाता है ! एक मन्त्र में इस दिनरात की प्रक्रिया के संबंध में बड़ा वैज्ञानिक चिंतन अभिव्यक्त हुआ है ––

अभ्यन्यदेति पर्यन्यदस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।

सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः[2] ।।

अर्थात् एक कोई (उजाला) सन्मुख चलता है, दूसरा (अंधेरा) सब ओर फेंका जाता है। महान् (सूर्य) दिनरात बनाने में समर्थ होता हुआ (वर्तमान है)। सब लोक में रहते हुए, मार्ग जानने वाले सूर्य को, प्रार्थना करते हुए हम बुलाते हैं। इस मन्त्र में स्पष्ट है कि सूर्य के सर्वथा प्रकाशमान गोले के साथ घूमते हुए पृथिवी आदि लोक एक ही समय दो काम करते हैं – प्रकाश को आगे बढ़ाना और अंधकार को पीछे की ओर बढ़ाना और आगे को हटाना, अर्थात् 'सूर्य न कभी अस्त होता है, न कभी उदय होता है'। पृथिवी के आधे गोले पर प्रत्येक समय प्रकाश और दूसरे आधे पर अंधकार रहता है, ध्रुव के समीप भी सूर्य और पृथिवी के घुमाव से दिन और रात्रि अधिक बड़े होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पृथिवी के परिभ्रमण से दिन और रात तथा परिक्रमण से ऋतु, मास संवत्सर बनते हैं। व्यावहारिक रूप में प्रायः कहा जाता है कि सूर्य उदित होता है, अस्ताचल को जाता है अथवा 'सूर्य एकाकी चरति' आदि जिससे प्रतीत होता है मानों सूर्य गतिशील है। पर वास्तविकता में पृथिवी गतिशील है, सूर्य नहीं। इसी सत्य को ऐतरेय ब्राह्मण में बड़े स्पष्ट रूप में कहा है –

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति[3] ।

बालगङ्गाधर तिलक ने आर्यों के आदि प्रदेश 'उत्तरी ध्रुव' की मान्यता के संदर्भ

---

१. अथर्ववेद १३/२/५, १३/२/३२, १३/३/२

२. वही १३/२/१

३. ऐतरेय ३/४४

में वसंत–संपात तथा शरद–संपात को ही ध्यान में रखा है। जब सूर्य विषुवत् रेखा से सबसे दूर होता है तब लगता है पीछे जाने से या परावृत्त होने से पहले रुक गया है। उत्तरायण वसंत–संपात कर्क संक्रान्ति में होता है तो दक्षिणायन शरदसंपात मकरसंक्रान्ति में।

अहोरात्र के बाद मास बनाने की प्रक्रिया भी रोहितादित्य सूक्तों में उल्लिखित है – 'मास बनाने के लिए अत्रि ने सूर्य को द्युलोक में धारण किया।'[१] एक और आश्चर्यजनक तथ्य है मास के संबंध में और वह है उसे 'त्रिंशदङ्ग' करना। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है –

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते।[२]

जो तीस दिन रातों से मास (तेरहवां मास) बनाता है (तीस दिन के मासों की गणना से ही वर्ष की या संवत्सर की गणना की जाती है) जो बारह मास का समूह है। अथर्ववेद में ही एक स्थान पर आदित्यों की संख्या ३ X ८० अर्थात् २४० बताई गई है।[३] वर्ष के ३६० दिनों में सूर्य के चमकने के दिन २४० होते हैं शेष १२० (चातुर्मास्य) वर्षा के दिन हैं जब सूरज नहीं चमकता। संहिताओं के समय काल की यह गणनाएँ सिद्ध करती हैं कि आदित्य एवं काल के संबंध का चिन्तन निरन्तर जारी था। शतपथ–ब्राह्मण[४] में तो हमें वर्ष के ३६० दिनों का उल्लेख भी मिलता है जहाँ आदित्य का संवत्सर से समीकरण भी प्राप्त होता है।[५]

अथर्ववेद के एक और मन्त्र में दिन के संबंध में 'सहस्त्र' की संख्या का प्रयोग भी हुआ है ——

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्सर्वानुरस्यपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ।।[६]

अर्थात हरणशील हंस के समान गतिशील, हजार दिन के मार्ग पर स्थित द्युलोक पर चलने वाले इस सूर्य के दोनों ओर किरण फैले हैं। वह सब देवों को अपनी छाती पर धारण करता हुआ, सब भुवनों को देखता हुआ चलता है। 'सहस्र' की संख्या

---

१. दिवित्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे। अथर्ववेद १३/२/१२
२. अथर्व. १३/३/८
३. वही, २/१२/४
४. शतपथब्राह्मण १०/५/४–५
५. वही, १०/२/४/३, १४/१/१/२७
६. अथर्ववेद १३/२/३८

यहाँ उपलक्षण मात्र प्रतीत होती है। सहस्र 'अनन्त' का बोधक शब्द है। ऋग्वेद में इन अनन्त दिनों को गुप्तचर कहा गया है – 'इस लोक में जो सब लोगों के द्रष्टा गुप्तचर के समान ये दिन बोल रहे हैं वे न तो किसी के लिए कभी रुकते हैं न कभी पलक मारते हैं।'[१] काल का, दिन–रात का चक्र निरन्तर चलता रहता है, इसके आदि–अन्त को कौन जान सकता है ? सृष्टि के चिरन्तन रहस्यों में एक रहस्य, एक प्रश्न यह भी है कि यह काल क्या है ? यदि सूर्य काल का नियामक है, तो दूसरी ओर अथर्ववेद में उसे प्रथम बार साक्षात् 'काल' भी कह दिया गया है ––

रोहितः कालो अभवत्[२]।

और इस काल तत्त्व का वर्णन करते हुए एक और सूक्त में उसे दिन–रात से उत्पन्न बताया गया है तो दिन–रात की उत्पत्ति का कारण भी उसे बताया गया है ![३] रोहितादित्य का परमात्मा या 'परमतत्त्व' के रूप में बहुत विस्तार से वर्णन अथर्ववेद में मिलता है। एक मन्त्र में रोहितादित्य को वरुण कहा है, सांयकाल को वह अग्नि होता है, सुबह उदित होते हुए मित्र, सविता बनकर अन्तरिक्ष में संचार करता है तथा इन्द्र होकर द्युलोक में तपता है।[४] उस एक रोहित में सब देवता वर्तमान रहते हैं –

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।[५]

तथा वह आप एक अकेला ही है–'य एतं देवमेकवृतं वेद'।[६] एवं रोहितादित्य सूक्तों में आदित्य एक ओर तो सूर्य है जो दिन–रात ऋतु–संवत्सर चक्र का प्रवर्तन करता है तो दूसरी ओर वह 'एक परम तत्त्व' है जो साक्षात् परमात्मा है; इन्द्र, मित्र, वरुण, धाता,, अर्यमा, यम है। 'अनेक में एक' की भावना का प्रतीक वह परमतत्त्व 'काल' है; वह 'काल' जो अक्षय है जिसके विषय में काल सूक्त में कहा गया है–

कालेनोदेति सूर्यः निविशते पुनः।[७]

अर्थात् काल से सूर्य उदित होता है, पुनः काल में ही प्रविष्ट होता है। काल अर्थात्

---

१. नितिष्ठन्ति न निमिषंत्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। ऋग्वेद

२. अथर्व १३/२/३६

३. स वा अह्नोऽजायत, तस्मादहरजायत।
स वा रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ।। वही

४. स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्।। वही, १३/३/२

५. वही, १३/४/१३

६. वही, १३/४/१५–२३

७. वही, १९/५४/१

'समय' ही सबका नियामक है। इसी दृष्टि से काल (काल सूक्त) तथा रोहितादित्य (रोहितादित्य सूक्तों) दोनों को परमात्मा के रूप में चित्रित किया गया है। अनेकों मन्त्रों में आदित्य को द्यावापृथिवी को बनाने वाला, अन्तरिक्ष को बनाने वाला बताया गया है।[१] वह विश्व के सभी रूपों की सृष्टि करता है,[२] सृष्टि के अस्तित्व का कारण भी वही है।[३] इसी प्रकार से ब्रह्म की सभी उपाधियों से 'काल' को भी विभूषित किया गया है। रोहितादित्य व काल दोनों का एक व्यक्त रूप है जिसे सूर्य एवं उससे होने वाले दिन–रात आदि अवयवों के रूप में हम देखते, सुनते, व्यवहार करते हैं तथा एक 'अव्यक्त' रूप है जो भूत–भविष्य में छिपा है[४]।

यह अनवच्छिन्न काल ही जगत्कारणत्व इत्यादि से अनुभव में आता है। वह सर्वव्यापी है। काल की सर्वव्यापकता का बोधक शब्द अश्व है।[५] आदित्य को भी संहिताओं में अनेकों बार 'सप्ताश्वों' से जोड़ा गया है। यजुर्वेद में भी आदित्य और अश्व का समीकरण प्राप्त होता है। सायण ने **'अश्नुते व्याप्नोति भूतभविष्यद्वर्तमान–कालवर्तीनि वस्तूनीति अश्वः'** कहकर आदित्य को भूत, भविष्य, वर्तमान से जोड़ा है। मनुष्य अपने जीवन में ही काल के इन तीनों आयामों को देखता है। भूत से आक्रान्त, भविष्य से आंशकित मनुष्य वर्तमान में, केवल वर्तमान में तो कभी भी आनन्द ले ही नहीं पाता। हर वर्तमान क्षण भूत में समाता जाता है और भविष्य वर्तमान बनता जाता है। व्यतीत, वर्तमान और आगत के त्रिकोण में फंसा मानव विवश रहता है। परन्तु यह विवशता साधारणजन के लिए है। असाधारण व्यक्ति अथवा अथर्ववेद की भाषा में कहें तो 'कवि' और 'विद्वान्' इस काल रूपी घोड़े के पैरों तले रौंदे नहीं जाते, कालचक्र में पिसते नहीं। वरन् वे तो काल के अश्व पर आरोहण करते हैं **'तम् आरोहन्ति कवयो विपश्चितः'**।

यह तो हुई व्यावहारिक जीवन की बात, जहाँ काल की गति को पहचान कर, उसे अपने अनुकूल ढाल कर, हम उस पर आरोहण कर सकते हैं।

'अश्व' का एक अर्थ है 'न श्वः' जो कल नहीं है। इस अर्थ में यह संवत्सरात्मक काल का बोधक है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील इस काल की चक्र के रूप में परिकल्पना

---

१. वही १३/१/६–७

२. विश्वरूपाणि जनयन्। वही, १३/३/७

३. वही, १३/१/८

४. काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वितिष्ठते। वही, १९/५३/४
तथा–काले ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा। वही, १९/५४/३

५. वही

संहिताओं में खूब मिलती है, सूर्यचक्र भी इसी कालचक्र का प्रतीक है ——

सप्त चक्रान् वहति काल एषः।[१]

यह संवत्सर चक्र भी दो प्रकार का है — एक चक्रात्मक दूसरा यज्ञात्मक। चक्रात्मक जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है जहाँ सूर्य के चारों ओर पृथिवी परिक्रमण करती है। यज्ञात्मक संवत्सर समस्त सृष्टि का बीज कारण है। इसे ही 'प्रजापति' कहा गया है। रोहितादित्य इसी अर्थ में 'प्रजापति'[२] है सूर्य, नक्षत्र, पृथिवी सबकी चक्रात्मक गति ही संवत्सर चक्र की कल्पना का आधार जान पड़ती है।

अव्यक्त काल की सूक्ष्मता अद्भुत है। इस सूक्ष्मता से ही काल निरन्तर प्रवाहित रहता है। काल रूपी रथ की धुरी दिखाई नहीं देती, पर वही समस्त गति का कारण है। भारतीय प्रज्ञा ने 'मृत्यु' और 'काल' को एक ही माना है। कारण कि मृत्यु भी एक शाश्वतता है। ध्यान से देखें तो यह समझ में आ जाएगा कि मृत्यु एक शब्द मात्र है, यथार्थ में हम समय के द्वारा काट दिए जाते हैं। जब हम पूरी तरह काट दिए जाते हैं तो उस घटना को हम 'मृत्यु' कहते हैं, इसके अतिरिक्त मृत्यु कुछ नहीं है। यही कारण है कि रोहितादित्य काल दोनों को, सबको मारने वाला और जीवन देने वाला एक साथ बताया गया है — एक नहीं अनेकों बार[३]। वह 'मृत्यु' मरण करने वाला भी है 'अमृत' अमरपन का भी कारण है।[४] उसी की गति से जीवन को गति या 'आयुष्य' मिलती है। रोहितादित्य एवं काल देवता दोनों से लम्बी आयु पाने की कामनाएँ, प्रार्थनाएँ अनेकों बार की गई हैं। दिन रात की समष्टि, अहोरात्र का समूह ही आयुष्य है। दिन–रात के नियामक आदित्य — काल से दीर्घ जीवन पाने की कामना बहुत सार्थक है। अमृतत्व या दीर्घ जीवन देने के साथ–साथ काल 'मृत्यु' भी, संहारक भी है; गीता में **'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो'**[५] कहकर उसका उल्लेख किया गया है। सृजन–विध्वंस, जीवन–मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बिना नाश किए सृजन हो ही नहीं सकता। अतः जीवन–मरण, सृष्टि के विनाश की प्रक्रिया, प्रकृति में, जीवन में, व्यष्टि–समष्टि में चलती ही रहती है।

काल की नदी में हम बह रहे हैं, पर आगे बढ़ रहे हैं या नहीं इसकी परख समय की कसौटी पर ही संभव है। यह कसौटी ही जीवन के मूल्यों का निर्माण करती

---

१. वही, १९/५३/१
२. वही, १३/२/३९
३. यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा। वही १३/३/३–४
४. स एव मृत्युः सोऽमृतम्। वही १३/३ /२५
५. गीता, ११/३२

है। इन्हीं मूल्यों को परिपोषित करने के लिए समाज परम्पराएँ सिरजता है। समय की धार में प्रतिपल बहते जा रहे हैं हम । रूकना चाहें तो भी कोई उपाय नहीं है। यही नियति है । आदित्य को, काल–तत्त्व को, समय के तत्त्व को समझने का अर्थ है – परमात्मा के साथ 'एकता' साधना। काल व्यक्त है आदित्य के रूप में, अहोरात्र, मास, वर्ष, ऋतुओं के रूप में, पर अव्यक्त काल आवरण से ढका है –

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्[१]।

'ज्योति स्वरूप पात्र से अविनाशी तत्त्व आच्छादित है'।

वह जो आदित्य में पूर्ण परमात्मा है, वह मैं हूँ। आकाश के तुल्य व्यापक ब्रह्म हूँ।[२]

व्यक्त और अव्यक्त के मध्य सूर्य विभाजक रेखा है, सीमा रेखा है। सूर्य के, आदित्य के पीछे छिपे रहस्य को जान लेना ही मनुष्य के जीवन का चरम उद्देश्य है। यही काल के रहस्य को समझना है। चरम सत्य के साथ एक हो जाना काल के रहस्य को जान लेना है, तब ही आदित्य=काल=खम् = ब्रह्म का रहस्य उजागर होता है। ऊपर हमने कहा है कि सब बदलता रहता है, समय की वजह से, शाश्वत केवल समय है। आइंस्टाइन ने कहा था 'समय और आकाश एक ही चीज है'। यजुर्वेद भी यहाँ कहता है 'खम् ब्रह्म'। एच. जी. वेल्स ने भी अपनी पुस्तक 'The Time Machine' में माना है कि समय और आकाश दोनों ही अनन्त हैं। आइंस्टाइन और एच. जी. वेल्स दोनों ही मानते हैं कि समय किसी चीज का चौथा आयाम है, लंबाई, चौड़ाई और गहराई बाकी तीन आयाम हैं, वैदिक संहिताओं ने भी रोहितादित्य काल को अनन्त माना है, साथ ही रोहितादित्य का द्यौ के साथ समीकृत रूप भी वहाँ प्राप्त होता है। वह द्यौ से उत्पन्न हुआ, उसने 'द्यौ' को बनाया।[३] समय या काल आइंस्टाइन एवं एच. जी. वेल्स के अनुसार 'चौथा आयाम' है तो ऋग्वेद में भी एक स्थान पर 'तुरीयादित्य'[४] आया है जिसका, अर्थ सायण नें 'सर्वोत्तम' लिया है तथा ग्रिफिथ ने Fourth । उसके अनुसार मित्र, वरुण, अर्यमन् तीन आदित्य हैं 'चौथा' आदित्य है इन्द्र। परन्तु 'तुरीय' चौथे आयाम का द्योतक भी हो सकता है।

इस 'तुरीयादित्य' का साक्षात्कार करना वैदिक ऋषि, वैदिक कवि का

---

१. यजुर्वेद ४०/१७

२. योऽसावादित्ये पुरुष : सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म। वही

३. अथर्ववेद १३/४/३

४. ऋग्वेद ८/५२/७

अभीप्सित रहा है। यह अक्षय तत्त्व है जो कभी नहीं चुकता। वह समय–चक्र के नियन्ता आदित्य से भी परे है, यह वह धाम है 'जहाँ न सूर्य चमकता है, न चन्द्र, तारे।'[1] इसका ज्ञान पाने के पश्चात् ही वैदिक कवि घोषणा करता है —

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[2]

अर्थात् मैं इस महान् आदित्य के तुल्य चमकने वाले प्रकाशस्वरूप परमात्मा को अन्धकार से परे जानता हूँ। उसी को जानकर तू भी मृत्यु के पार जाता है, इससे भिन्न कोई मार्ग अभीष्ट (मोक्ष) के लिए नहीं है।'

यह जानना है, काल में, समय में प्रविष्ट हो जाना। आत्मा में लीन हो जाना है। महावीर ने आत्मा का नाम ही 'समय' रख दिया है। आत्मा में लीन हो जाना, डूब जाना मानो अनन्त–काल में तद्रूप हो जाना है। यही काल के क्षणों का सच्चा उपयोग है, जीवन का, आयुष्य का उपयोग है। बात इसकी नहीं है कि हमें कितना दीर्घ जीवन मिला, कितने क्षण मिले। एक बार में हमें एक ही क्षण मिलता है। जब वह क्षण निकल जाता है तब दूसरा क्षण मिलता है। हमारे साथ में दो क्षण एक साथ कभी नहीं होते, कोई इसमें धोखा नहीं कर सकता; समय को, काल को कोई धोखा नहीं दे सकता। तो क्या हम काल की बिसात पर एक मोहरा मात्र हैं, नहीं, अपने कार्यों से ही हम काल के वेग में, प्रवाह में फंस जाते हैं, समय मारता नहीं है, आगे बहा ले जाता हे। प्रवाह में बहते रहने की क्षमता अर्जित कर ही हम काल के साथ चलते रहकर भी कालातीत हो सकते हैं। नरेश मेहता ने अपनी एक कविता में सही कहा है –

उस अजन्मे
अमर्त्य महाकाल को
न जन्म से
न मृत्यु से
न संबंधों से
योजित या विभाजित किया जा सकता है.
उस महानियम के निकट
हम केवल कर्म के क्षण हैं !

---

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१४

२. यजुर्वेद ३१/१८

ऋग्वैदिक कालदर्श

डॉ. रमनरानी पाल

वैदिक समय में 'कालदर्श' का निर्धारण अत्यन्त कठिन है क्योंकि किसी भी प्रकार का स्पष्ट विवरण वेद में समग्र रूप से प्राप्त नहीं होता। यहाँ तक कि ब्राह्मणों में भी कालदर्श के संदर्भ में इतने प्रमाण नहीं मिलते कि उनसे यह निर्धारित किया जा सके कि उस समय प्रचलित तिथिपत्र का स्वरूप क्या रहा होगा? किंतु सूत्रों तक जाते–जाते तिथि–निर्धारण के विविध प्रकारों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। संभवतः सूत्र–काल के कालदर्श को ही वैदिक कालदर्श कहा जाता रहा है। प्राप्त प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समय में तिथि–निर्धारण मात्र खगोल तत्त्वों को देखकर निकाला गया परिणाम नहीं है, अपितु ऋषियों के दीर्घकालीन अनुभव, गणनाओं और उनके अनन्तर किए गए निर्धारण और सामञ्जस्य का ही स्वरूप है।

सूर्य कालदर्श की गणना का प्रमुख आधार है। तिथि – गणना कब और कैसे आरम्भ हुई ? यह कहना बहुत कठिन है। पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर घूमना वर्ष–गणना और ऋतु–परिवर्तन को प्रभावित करता है और चन्द्रमा का पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाना मास–गणना को प्रभावित करता है, साथ ही पृथ्वी का अपनी कीली पर घूमना दिन और रात को इंगित करता है। ऋग्वेद में मास[१] शब्द अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का परिक्रमा–चक्र दीर्घवृत्ताकार (अण्डाकार) है, इसलिए सौर माह २६ से ३२ दिन के बीच का होता है। जब एक सौर माह में दो चान्द्र माह आरम्भ हो जाते हैं तो उसे 'अधिक' कहा जाता है, इस प्रकार मास दो प्रकार के होते हैं – सौर और चान्द्र। सौर मास वह समय है जिसमें पृथ्वी एक राशि से दूसरी राशि तक पहुचँती है और चान्द्र मास दो पूर्ण–चन्द्रमाओं के मध्य का काल है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २५ वें सूक्त की ८ वीं ऋचा में कहा गया है–

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदा य उपजायते

"नियमानुसार चलने वाला देव प्रजा की वृद्धि करने वाले बारह महीनों को जानता है, और जो तेरहवाँ महीना बीच में उत्पन्न होता है, उसको भी जानता है।" वेदा य उपजायते'' का अर्थ प्रो० विलसन ने किया है – "Who knows what is 'upa' additionally or subordinately produced" इनका आशय बहुत स्पष्ट नहीं है किंतु बारह मासों के संदर्भ में यह सर्वथा उचित है कि यह अधिमास

---

१. ऋ. १/२५/८; ३/३२/६; ४/१८/४; ५/४५/७ ११ ; ६/२४/७; ३४/४; ३८/४; ७/६१/४; ६६/११; ६१/२; १०/८५/५; ६/१३; १३८/४

धर्मशास्त्रियों के सौर और चान्द्र वर्ष के गणना–सामञ्जस्य में स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है।

सायण ने प्रस्तुत ऋचा पर अपने भाष्य में कहा है – **यः त्रयोदशोऽधिकमासः उपजायते संवत्सरसमीपे स्वयमेवोत्पद्यते।**

यह पंक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह तत्कालीन सौर और चान्द्र दोनों वर्ष गणनाओं के युगपत् प्रचलन का स्पष्ट निर्देश करती है और दोनों में सामञ्जस्य उपस्थापित करने के लिये इस अन्तर्विश मास (Intercalary Month) का औचित्य प्रदर्शित करती है।

'उपजायते' पद पर टिप्पणी करते हुए सायण ने इसे 'अधिकमास' माना है परन्तु यह संदिग्ध है कि इस शब्द से तात्पर्य एक पूरे मास से है या एक मास से कम समय से, परन्तु यह कहा जा सकता है कि अन्तर्निविष्ट समय का कोई भी प्रकार तत्कालीन दो प्रकार की वर्ष–गणना में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए प्रचलित था।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल की[१] दो ऋचाओं में कहा गया है – "सूर्य का बारह अरों वाला चक्र द्युलोक के चारों ओर घूमता है, वह कभी जीर्ण नहीं होता। हे अग्ने! ७२० जोड़े पुत्र सदैव यहाँ रहते हैं। पाँच पैरों वाला, बारह आकृतियों वाला और जल से युक्त पिता द्युलोक के दूसरे आधे भाग में रहता है, ऐसा कहते हैं और ये दूसरे जन इस बुद्धिमान् को छह अरों वाले और सात चक्रों वाले रथपर चढ़ा हुआ कहते हैं।"

अर्थात् इस सूर्य का बारह मास वाला चक्र इस विश्व के चारों ओर निरन्तर घूमता रहता है। सूर्य के दिन–रात रूपी ७२० जोड़े पुत्र अर्थात् ३६० दिन और ३६० रात ये सदैव कार्यरत रहते हैं। अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन और रात ये पाँच पैरों वाला, बारह महीने रूप बारह आकृतियों वाला तथा जल को बरसाने वाला सूर्य द्युलोक के आधे भाग में रहता है। यह सूर्य संवत्सर रूपी रथ पर चढ़ा हुआ है। इस संवत्सर रूप रथ के ६ ऋतुरूपी अरे हैं और यह अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन, रात और मुहूर्त इन सात चक्रों वाला है। सूर्य ही अयन, मास आदि विभागों को बनाता हुआ अपना एक परिभ्रमण एक संवत्सर अर्थात् एक वर्ष में पूरा करता है।

आपस्तम्ब और अन्य सूत्रकारों ने वेदों में प्राप्त 'एकाष्टक' शब्द का अर्थ किया है – 'माघ मास के कृष्णपक्ष का आठवाँ दिन'। यदि हम इस विशिष्ट अर्थ को न मानकर मात्र एक दिन–विशेष के रूप में ग्रहण करें तो यह पाते हैं कि इसे साल

---

१. ऋ. १/१६४/१०,११

का प्रथम दिन माना जा सकता है जिसे वैदिक ऋषियों ने सूर्या के विवाह के रूप में मनाया है। ऋग्वेद के विवाह–सूक्त[1] में नववर्ष के प्रभात का अर्थात् सूर्या का विवाह सोम के साथ प्रदर्शित किया गया है जो आज भी दक्षिण अयनान्त (मकर संक्रान्ति के बाद और उत्तर अयनान्त कर्क–संक्रान्ति) से पहले विवाह संस्कार के अवसर पर पर्याप्त प्रचलित है। इसमें प्रभातकाल का विवाह सूर्या के साथ ७२० बच्चों को प्राप्त करने के लिए दिखाया गया है। सूर्या की संयति तीन ज्योतियों से दिखाई गई है – सर्वप्रथम सोम से, पश्चात् गन्धर्व से, ततः अग्नि से और अन्त में मनुष्य से। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्या की प्रथम संयति ३५४ दिवसीय चान्द्र वर्ष से होती है। (यह परिगणना तत्कालीन धर्मशास्त्री चन्द्रमा को आधार मानकर करते थे) इसके बाद ३५१ दिन वाले १३ मासीय (प्रत्येक २६ दिवसीय) वर्ष से होती है (ये ३५१ दिन नक्षत्रों और चन्द्रमा दोनों के अनुसार मापे जाते थे।) इसके अनन्तर सूर्या की संयति ३६० दिन वाले सवन वर्ष से अर्थात् अग्नि देव से संभावित है और अन्त में आजकल प्रचलित ३६५$^1/_4$ दिन का जूनियन सौर वर्ष अभिव्यञ्जित है।

इस प्रकार जो विवरण वेदों से प्राप्त होता हैं वह मात्र ग्रहों और उपग्रहों के दर्शन पर आधृत नहीं है, उनमें प्राप्त काल–सूची का आधार उनके अनुभव, गणनायें, उनके निर्धारण और पुनर्निर्धारण हैं। प्रस्तुत प्रपत्र का प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है कि ऋग्वैदिक साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में ऋषियों ने वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर कैसे काल–सूची की पद्धति को प्रस्तुत किया है। ऋषियों की तकनीकी अभिव्यक्ति में अन्तर्विश ज्ञान भी निहित था।

यद्यपि पाश्चात्य तिथिपत्र ही हमारे दैनिक प्रयोग में व्यवहृत है तथापि अभी भी धार्मिक गणनाओं में पुरातन तिथिपत्रों का सहारा लिया जाता है। विगत वर्षों भी १ जनवरी १९९०को विश्व भर की सभी घड़ियाँ समय में समुचित सामञ्जस्य लाने के लिए पल भर को रोक दी गईं थीं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक काल में भी अन्तर्विश काल से सामञ्जस्य का यह प्रकार स्पष्ट लक्षित है।

---

१. ऋ० १०/८५

ऋक्संहिता में कालविभाजन

डॉ. शशि तिवारी

समय के लिए सामान्य शब्द 'काल' सर्वप्रथम ऋग्वेद की संहिता में प्राप्त होता है। यहां इस शब्द का प्रयोग केवल एक बार हुआ है, और वह भी दशम मण्डल में।[1] ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार, सम्पूर्ण संहिता में एक मन्त्र का देवता 'संवत्सरात्मा काल' है; यद्यपि इस मन्त्र में काल शब्द अप्रयुक्त है।[2] अनन्तर् अथर्ववेद संहिता में दो काल सूक्तों द्वारा सर्गप्रवर्तनी शक्ति और सर्वनियामक तत्त्व के रूप में काल की प्रशस्ति की गयी है।[3] उत्तरोत्तर ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग बढ़ता गया है। काल की अमूर्त अवधारणा को ऋग्वेद – संहिता में प्रायः ऋतु शब्द के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।[4] इसीलिए साधारणतया ऋतुओं की संख्या और नाम अलग–अलग प्रकार से कहे गये हैं। परन्तु ऋतुओं के विभाग से काल के विभाजन की वैचारिक दृष्टि सूचित होती है। काल से सम्बद्ध 'युग' शब्द संहिता में बहुशः प्राप्त होता है। यहां युग से जुड़ी परवर्ती धारणाओं का आशय कदापि ग्राह्य नहीं है, पर ये प्रयोग काल के विस्तार, परिवर्तन, गति, क्रम आदि के अभिप्राय से अवश्य ही समवेत हैं।

काल सम्बन्धी समस्त व्यवहार सूर्य की गति के अधीन हैं। अतएव कालतत्त्व का प्रमुख नियामक सूर्य है। इस तथ्य से अवगत होने के कारण वैदिक ऋषियों की प्रार्थनाओं में सूर्य को काल के विधायक होने के साथ–साथ समस्त कालनिर्धारण और कालविभाजन का आधार माना गया है। ऋक्संहिता में साङ्केतिक रूप में काल के स्वरूप को संवत्सरात्मक कहा गया है और संवत्सर के मुख्य अवयवों के रूप में ऋतु, मास, अहन्, रात्रि आदि के वर्णन किये गये हैं। इस विशेष कालविभाजन के अतिरिक्त ऋतुओं में काल का सामान्य विभाजन अतीत (भूत), वर्तमान (भवत्) और भविष्य (भविष्यत्) के रूप में यत्र–तत्र उपलब्ध होता है –

पुरुष एव इदंसर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। ऋ. १०/९०/२
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । ऋ. १/१/२
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते। ऋ.१/८१/५
इत्यादि।

---

१. ऋ. १०/४२/९
२. ऋ. १/१६४/४८.
३. अथर्व. १९/५३.५४.
४. ऋ. १/४६/३ ; १/८४/१८ इत्यादि।

काल के विशेष विभाजन के अन्तर्गत संवत्सर, ऋतु, मास, अहन्, रात्रि आदि के जो विवरण यहाँ प्राप्त हैं, वे कालविभाजन से सम्बद्ध परवर्ती धारणाओं के मूलस्रोत प्रतीत होते हैं।

१. संवत्सर

वर्ष के लिए 'संवत्सर' शब्द का प्रयोग ऋक्संहिता में पर्याप्त हुआ है।[१] **'संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः'**। (ऋ. १/१४०/२) अर्थात् 'अग्नि द्वारा भक्षण किया गया अन्न वर्ष भर में बढ़ जाता है' जैसे मन्त्रांशों से संवत्सर में विद्यमान कालावधि का अभिप्राय प्रकट होता है। ऋग्वेद में सामान्य रूप से 'समा' शब्द भी वर्ष का द्योतक दिखलाई देता है[२], यद्यपि ऋग्वेदतेर वैदिक ग्रन्थों में यह ग्रीष्म, ऋतु, मास आदि अर्थों में अधिक प्रयुक्त हुआ है।[३]

भारतीय पारम्परिक चिन्तन में संवत्सर के मुख्यतः दो रूप हैं[क] चान्द्र वर्ष जिसमें मोटे तौर पर ३६० दिन होते हैं और जो ६ दिन अधिक होते हैं वे पाँच वर्ष के चक्र में एक मलमास उत्पन्न करते हैं।[ख] सौर वर्ष – जिसमें लगभग ३६५ दिन होते हैं, और जिसका निर्माण सूर्यगति से सम्बद्ध है। ऋक्संहिता में इन दोनों वर्षों और मलमास के संकेत प्रतीक रूप में उपलब्ध होते हैं।

विष्णु की एक ऋचा में कहा गया है – 'यह विष्णु बीतने वाले चार सहित नब्बे अवयवों को अपनी प्रेरणा से गोल चक्र के समान घुमाता है।[४] सायण और सातवलेकर ने यहाँ काल के चौरान्नवें अवयवों का अधिग्रहण किया है – १ संवत्सर, २ अयन, ५ ऋतुएँ, १२ मास, २४ पक्ष, ३० अहोरात्र, ८ याम, १२ मेषवृश्चिकादि राशियाँ = ६४ अवयव। वेङ्कटमाधव के अनुसार इनका कोई संकेत मन्त्र में नहीं है। विष्णु के सौरदेवत्व और सूर्य के काल–नियन्त्रक स्वरूप को ध्यान में रखकर इस मन्त्र से 'विष्णु' ने अपने ६० घोड़ों को ४ नामों के साथ गति दी' – अर्थ लेकर ६० दिन वाली ४ ऋतुओं से ३६० दिनों के वर्ष का सङ्केत ग्रहण करना[५] अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

ऋचाओं में सूर्य के एक चक्र वाले रथ का उल्लेख है, सूर्यदेव का रथ यदि

---

१. ऋ. १/११०/४ ; १/१४०/२ ; १/१६१/१३ ; ७/१०३/१ इत्यादि

२. समानां मास आकृतिः। ऋ. १०/८५/५; १०/१२४/४

३. Keith and Macdonell, Vedic Index, II, pp. 429-30.

४. चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीरँवीविपत्। ऋ.१/१५५/६.

५. Macdonell, Vedic Mythlogy, pp.38-9; Keith, Religion and Philosophy of Veda and Upanishads, I, p. 109; Ghate's Lectures on Rigveda, pp. 154-5.

सूर्यमण्डल हो तो उसका चक्र है – 'संवत्सर'। इस में सात रंग की किरण रूपी सात घोड़े जुते रहते हैं। इस चक्र की तीन नाभियां है जिन्हें तीन ऋतुएं या भूत, वर्तमान और भविष्य तीन काल के रूप में समझा जा सकता है। सूर्य का उक्त 'अजर' चक्र विश्व में चारों ओर निरन्तर घूमता रहता है।[१] ऋषि का कथन है कि ऋतु चक्र पर सात सौ बीस जोड़े पुत्र हमेशा रहते हैं।[२] ऐतरेय आरण्यक की व्याख्या के अनुसार संवत्सर में ७२० (३६० दिन + ३६० रात्रि) अहोरात्र निवास करते हैं।[३] ३६० अहोरात्र का संवत्सर निस्सन्देह चान्द्र वर्ष ही है। काल के चान्द्र वर्षानुसार विभाजन में पांच वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाले मलमास को क्या ऋग्वैदिक आर्य जानते थे ? इसके उत्तर में वरुण का एक मन्त्र उदधृत किया जा सकता है जिसमें कहा गया है – वरुण को बारह महीनों का यथार्थ ज्ञान है और बीच–बीच में उत्पन्न होने वाले अर्थात् मलमासों का भी ज्ञान है।[४] हरि दामोदर वेलणकर के अनुसार यहां अधिक मास का स्पष्ट उल्लेख है।[५]

इसी प्रकार सौर वर्ष के सङ्केत भी ऋचाओं में ढूंढ़े जा सकते है। सूर्य को 'द्वादशाकृतिं पितरम्' अर्थात् 'बारह आकृतियों वाला पिता' कहना और उनके चक्र को 'द्वादशारम्' अर्थात् बारह अरों वाला बताना एक ओर उनके द्वादशात्मा स्वरूप को प्रकट करता है, तो दूसरी ओर उनके बारह मासों में घूमकर अपना चक्र पूरा करने का द्योतक है।[६] स्पष्टतः मेषादि राशियों के चक्र का वर्णन न होने पर भी 'द्वादशाकृति' में उसका बीज अवश्यमेव देखा जा सकता है। विद्वानों ने इस मन्त्र की विविधतया व्याख्या की है और 'पञ्चपादम्' से पाँच ऋतुओं के रूप में पाँच पैरों वाला (सायण) अथवा अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन–रात के रूप में पाँच पैरों वाला (सातवलेकर) मानकर, सूर्य के काल नियामक स्वरूप को स्वीकार किया है। स्पष्टतः सौर वर्ष का प्रथम उल्लेख सामवेद के निदान सूत्र में माना जाता है[७] जहां कथन है कि २६ नक्षत्रों में से प्रत्येक में सूर्य १३.५ दिन व्यतीत करता है।

---

१. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्रमजर–
मनर्वसं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः। ऋ. १/१६४/२
२. आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः। ऋ १/१६४/११
३. संवत्सरस्याहोरात्राः। ऐ. आ. ३/२/१
४. वेद मासा धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदा य उपजायते। ऋ. १/२५/८
५. वेलणकर, ऋक्सूक्त वैजयन्ती, पृ. ६
६. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिम्। ऋ. १/१६४/१२ ;
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रम्। ऋ. १/१६४/११
७. निदान सूत्र ५/१२/२/५

२. ऋतु

ऋग्वेद के अनुसार सर्वप्रेरक सविता देव ऋतुओं के नियामक हैं।[१] उनसे सभी ऋतुओं में सुख बढ़ाने की प्रार्थना है।[२] प्रायः वर्ष की तीन ऋतुओं को ही लक्षित किया गया है और उनको प्रतीक रूप में सूर्य के 'एकचक्र' की तीन नाभियाँ कहा गया है।[३] तीन ऋतुनामों का पुरुषसूक्त में उल्लेख हुआ है–वसन्त, ग्रीष्म और शरद्।[४] ऋग्वेद प्रावृष् (ऋ ७/१०३/३) अर्थात्, वर्षा और हिमा (ऋ. ५/५४/१५) या हेमन्त (ऋ. १०/१६१/४) से परिचित है। शिशिर का नामतः उल्लेख नहीं हुआ है। कुछ भाष्यकारों ने सूर्यचक्र की छह अराओं (षळरे) की व्याख्या 'छह ऋतुओं से सम्पन्न' अर्थ में की है।[५] यद्यपि यह सत्य है कि ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से छह ऋतुओं में वर्ष का सामान्य विभाजन नहीं किया गया है, तद्यापि 'षळिद् यमाः ऋषयो देवजा इति' मन्त्रांश में 'छह जोड़ी वाली' (दो–दो महीनों की) देवज ऋतुओं का संङ्केत अवश्य मिलता है।[६]

३. मास

वर्ष के द्वादश विभाजन के रूप में 'मास' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में अनेकशः हुआ है। मासों की द्वादश संख्या का अधिग्रहण प्रतीक रूप में सूर्य के द्वादश अराओं वाले चक्र से ही किया जा सकता है।[७] अन्यत्र एक चक्र को द्वादश घेरे रहते हैं **'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्'** (ऋ. १/६४/४६) कहकर यही तथ्य स्पष्ट किया गया है। मासों के नामों का वर्णन ऋग्वेद में नहीं है। सम्भवतः सर्वप्रथम यजुर्वेद में अग्निचयन के प्रसंग में ही उन्हें ठीक–ठीक गिनाया गया है।[८] मास के विशिष्ट दिन अथवा रात्रि अमावस्या या पूर्णमासी माने जाते हैं। अथर्ववेद में दो सूक्तों में इनकी प्रशस्ति की गई है। परन्तु ऋग्वेद में ये शब्द अप्रयुक्त हैं। 'सिनीवाली' जो अमावस्या से एक दिन पूर्व की रात्रि की संज्ञा है, ऋक्संहिता में मिलती है।[९]

---

१. व्यृतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात्। ऋ. २/३८/४.

२. आगन् देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयम्। ऋ. ४/५३/७.

३. त्रिनाभि। ऋ. १/१६४/२ ; त्रीणि नभ्यानि। ऋ. १/१६४/४८.

४. वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः। ऋ. १०/६०/६.

५ ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, प्रथम भाग, सातवलेकर ऋ. १/१६४/१२, सायणभाष्य, पृ. ४३३

६. ऋ. १/१६४/१५; ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पं. विश्वेश्वर नाथ रेउ, वाराणसी, १९६७, पृ. १५०.

७. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रम्। ऋ. १/१६४/११

८. वैदिक कोश, डा. सूर्यकान्त, पृ. ३८०

९. ऋ. २/३२/६

एक दूसरी संज्ञा 'गुङ्गू' मिलती है[1] जिसे सायण ने अमावस्या की रात्रि के वाचक 'कुहू' नाम से स्वीकृत किया है। तिथिवाचक एक और नाम 'राका' भी ऋचाओं में आया है[2], जिसे पूर्णमासी का वाचक माना जाता है। अनन्तर संहिताओं और ब्राह्मणों में इनके प्रयोगों के साथ पूर्णिमा से पहले के दिन के वाचक 'अनुमति' नाम के अतिरिक्त दूसरे कई नाम भी प्रचलित हुए। अतः कह सकते हैं कि मास के विशिष्ट दिनों के नामकरण की परम्परा का सूत्रपात इसी संहिता से हो गया है।

यदि वर्ष को १२ मासों और ३६० दिनों में विभाजित किया गया है, तो परोक्षरूप में मास के तीस दिनों का अभिप्राय अन्तर्निहित रहा ही है। तथापि इस सन्दर्भ में भी कुछ सङ्केत उल्लेखनीय हैं –

(१) **त्रिंशद् धाम वस्तोः द्युभिः विराजति।** (ऋ. १०/१८४/३) अर्थात् सूर्य के तीस स्थान (दिन) उसकी कान्तियों से विशेष रूप से शोभित होते हैं।

(२) **अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः।** (ऋ. १/१२३/८) अर्थात् एक–एक उषा तीस योजन तत्काल ही कर्म प्रवर्तक सूर्य के आगे चलती है।

(३) **त्रिंशत् पदा व्यक्रमीत्।** (ऋ. ६/५६/६)

अर्थात् उषा तीस पाँव चलती है। उषा के तीस योजन चलने का अभिप्राय भले ही उषा की गति से रहा हो, परन्तु तीस संख्या से तीस दिनों का संकेत भी लिया ही जा सकता है। निस्सन्देह 'तीस योजन' व्याहृति सन्दिग्ध और अस्पष्ट है, अतः इसके आधार पर कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता है।

४. अहन्/रात्रि/अहोरात्र

मास के बाद समय के अपेक्षाकृत छोटे विभाग को 'अहोरात्र' कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार जल से भरे समुद्र के बाद संवत्सर उत्पन्न हुआ, फिर जगत् को वश में रखने वाली परम सत्ता ने 'अहोरात्राणि' बनाए।[3] दिन के लिए 'अहन्' और रात के लिए 'रात्रि' और दोनों के संयुक्त बोध के लिए 'अहोरात्र' पदों का नियमित प्रयोग संहिता में प्राप्त होता है। संवत्सर के बाद अहोरात्र के कर्त्ता के रूप में सूर्य का स्तवन अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। कहा गया है कि वे दिनों के साथ रात्रियों को उत्पन्न करते हुए आकाश से जाते हैं।[4] जब सूर्य अपनी रसहरणशील रश्मियों अथवा हरितवर्ण अश्वों

---

१. या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती। ऋ. २/३२/८

२. राकामहं सुहवाम्। ऋ. २/३२/४,५; ४२/१२.

३. समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।। ऋ. १०/१९०/२

४. ऋ. १/५०/७

को इस लोक से ले जाकर अन्यत्र संयुक्त करते हैं, तब रात्रि अपने आच्छादन रूपी अन्धकार को समस्त विश्व में विस्तृत कर देती है।[१] सूर्य तो तम से विलक्षण तेज को अपने आगमन द्वारा दिन में धारण करते हैं और कृष्णवर्ण के तम को अपने अपगमन द्वारा रात्रि में निष्पादित करते हैं।[२] रात और दिन को नाना रूपों को प्रकट करने वाली दो बहनें कहा गया है (ऋ. ३/५५/११)। ऋग्वेद के रात्रि सूक्त (१०/१२७) में रात्रि का देवीरूप में वर्णन है। एक ऋचा की सूर्यपक्षीय व्याख्या में सायण ने रात और दिन को सूर्य के दो सिर कहा है।[३] 'अहन्' कृष्ण है और 'अहन्' शुक्ल है[४] विवरण रात्रि और दिन के ही वाचक हैं। दिन के प्रारम्भिक भाग को जब अन्धकार खत्म हो रहा हो 'अपि–शर्वर',[५] पक्षियों के जागने के समय को 'स्वसर'[६] या प्रपित्व[७] सन्ध्या को 'अभि–पित्व'[८] और मध्यान्ह को 'मध्यम् अह्नाम्', 'मध्ये'[९] आदि नामों से कहा गया है।[१०] दिन के इस प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त उसके मुहूर्त आदि छोटे विभागों का उल्लेख कदाचित् ऋग्वेद में नहीं हुआ है। द्रष्टव्य है कि सात दिनों के नाम या सप्ताह का उल्लेख इस संहिता में अनुपलब्ध हैं। सूर्य के 'एक चक्र' में सप्त (अश्वों) के जुड़ने के वर्णन[११] में सप्ताह की अवधारणा के उद्भव को नहीं ढूंढ़ा जा सकता है क्योंकि इस प्रतीकार्थ की व्याख्या की संगति सूर्य की संवाहक किरणों के सप्त वर्णों से अधिक बैठती है।

इस प्रकार काल और उसके विभाजन के विषय में ऋक्संहिता में जो तथ्य मिलते हैं, उनसे स्पष्ट है कि संवत्सर काल का बड़ा विभाग था और अहोरात्र या दिन और रात छोटा विभाग था। ऋतुओं की अवधारणा स्पष्ट थी और मासों की संख्या – पर इनके नाम अनिश्चित थे। वैदिक वाङ्मय के दूसरे ग्रन्थों में उत्तरोत्तर कालतत्त्व के सूक्ष्म विभाग चिन्तन का विषय बने। परन्तु उनका मूल या प्रारम्भिक स्वरूप उपन्यस्त करने के कारण ऋक्संहिता निश्चय ही वैदिक कालतत्त्व–विवेचन के प्रथम साहित्यिक प्रमाण के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

---

१. यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। ऋ. १/११५/४
२. अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्हरितः सं भरन्ति। ऋ. १/११५/५,
३. द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। ऋ. ४/५८/३
४. अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च। ऋ. ६/६/१
५. ऋ. ३/६/७
६. ऋ. २/३४/८; २/१६/२, २/३४/५
७. ऋ. ७/४१/४; ८/१/२६
८. ऋ. १/१२६/३; ४/३४/५
९. ऋ. ७/४१/४, ८/२७/२०
१०. Keith and Macdonell, Vedic Index. I. pp.48-50.
११. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति। ऋ. १/५०/८
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्। ऋ. १/१६४/२

वैदिक संहिताओं में काल-विवेचन

डॉ. सरस्वती बाली

वैदिक संहिताओं में 'काल' शब्द अनेक बार (लगभग ५४ बार) प्रयुक्त हुआ है। वैसे तो काल के सामान्य वाच्य 'समय' का अर्थ रखने वाले अनेक शब्द जैसे अहन्, रात्रि, वर्ष, संवत्सर, युग इत्यादि जो स्वयं काल के अंश हैं, संहिताओं में मिलते हैं और काल के तीनों रूपों – भूत, भविष्य और वर्तमान – का भी उल्लेख ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में मिलता है, परन्तु स्वयं 'काल' शब्द कहां और किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, इसी का विवेचन यहां किया गया है।

ऋग्वद में 'काल' शब्द का प्रयोग केवल एक ही बार हुआ है। ऋग्वेद के दसवें मंडल का बयालीसवां सूक्त इन्द्र की स्तुति में कहा गया है। इसके नौवें मन्त्र में काल शब्द का प्रयोग 'समय' के अर्थ में ही किया गया है। प्रसंग है युद्धकाल का और तुलना की गई है द्यूतकाल से[1]। यह इन्द्र (युद्ध) काल में प्रहन्ता पर उसी प्रकार अत्यन्त जय प्राप्त करता है जैसे श्वघ्नी अर्थात् कितव द्यूतकाल में प्रतिकितव को जीतता है। जो मनुष्य देवकाम है (देवों के लिये यजन करने का इच्छुक है) उसके लिये इन्द्र धनों को नहीं रोकता। यह स्वधावान् इन्द्र उसके लिये धन का सृजन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में द्यूत का पर्याप्त महत्त्व रहा होगा क्योंकि ऋग्वेद में प्राप्त उपर्युक्त मन्त्र थोड़े से पाठभेद के साथ अथर्ववेद में भी मिलता है[2]। यद्यपि ऋग्वेद का कितवसूक्त द्यूतसम्बन्धी एकमात्र सम्पूर्ण सूक्त है परन्तु द्यूतविषयक छिटपुट मन्त्र भी द्यूतक्रीड़ा की स्थिति से अवगत कराते हैं।

ऋग्वेद के बाद अथर्ववेद में काल सम्बन्धी अनेक प्रसंग हैं जिनमें अलग–अलग अर्थों में कालशब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद का एक सूक्त सवितृदेवता की स्तुति में कहा गया है जिसमें रोहितदेव अथवा सूर्य को काल के रूप में अथवा समय के नियामक के रूप में चित्रित किया गया है[3]।

अथर्ववेद के दो सूक्तों (१६/५३ तथा १६/५४) में काल का विविध रूपों

---

१. उत प्रहामति दीव्या जयाति कृतं न श्वघ्नी विचिनोति काले।
यो देवकामो न धना रुणद्धि समित्तं राया सृजति स्वधावान्।। ऋ.१०/ ४२/ ६.

२. अथर्व. ७/५२/६

३. रोहितः कालो अभवत् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
रोहितः यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराऽभरत् ।।
वही, १३/२/३६

में विवेचन किया गया है। काल की तुलना एक अश्व से की गई है जो अपनी सवारी को अभिमत स्थल की ओर ले जाता है। 'कालरूपी अश्व, जो सप्तरश्मि, सहस्राक्ष, अजर और भूरिरेता है, अपने आरोहकों को अभिमत स्थल की ओर ले जाता है। विपश्चित कवि लोग उस पर आरोहण करते हैं, उसके चक्र सभी भुवनों में जाते हैं'[१]।

सायण के अनुसार अश्व का अर्थ है –

'अश्नुते व्याप्नोति वस्तूनि इति अश्वः' अर्थात् जो भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी वस्तुओं को व्याप्त करता है (अर्थात् काल), जो सप्तरश्मि अर्थात् सप्तर्तु है (छः ऋतुएँ तथा त्रयोदश मास), सहस्राक्ष अर्थात् सहस्त्रों अहोरात्र वाला है, जरारहित अर्थात् एकरूप है, भूरिरेता अर्थात् सर्जनशक्तिसम्पन्न है। ऐसे काल को क्रान्तदर्शी कवि लोग अपने अधीन करके आरोहण करते हैं। सायण के अनुसार अश्व का अर्थ सूर्य भी हो सकता है। एक अन्य मन्त्र में काल को प्रथम देव अर्थात् परमात्मरूप कहा गया है। 'यह काल सप्तचक्रों को वहन करता है, इसकी सात नाभियां हैं, यह अमृत है, अबाध्य है, वह काल, प्रथम देव, इन सभी भुवनों को व्यक्त करते हुए तथा संहरण करते हुए जाता है।'[२]

इस मन्त्र में सप्तचक्र से तात्पर्य इससे पूर्व मन्त्र में बताई गई छः ऋतुओं और अधिक मास से है। सात नाभियों का अर्थ उन ऋतुओं के सन्धिकाल से है जिससे वैदिक ऋषि द्वारा प्रकृति के गाढावलोकन का पता चलता है। काल का जैसा विस्तृत वर्णन अथर्ववेद में है वैसा शायद किसी और संहिता में नहीं है। अथर्ववेद में काल और परमात्मा को एकरूप बताया गया है। जैसे कार्य सदा कारण में रहता है वैसे ही अहोरात्रमासर्तुसंवत्सरादि पूर्णकुम्भ रूपी काल भी परमात्मरूपी काल में रहता है[३]। वह काल इन सभी परिदृश्यमान लोकों पर व्याप्त रहता है। कालरूपी उस परमात्मा ने ही इस द्युलोक व पृथिवीलोक का सृजन किया, काल के अनुसार ही सूर्य तपता है, काल में ही सभी प्राणी विद्यमान हैं, काल में ही सभी इन्द्रियां, मन, प्राण तथा सभी

---

१. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।।

वही, १६/५३/१

२. सप्तचक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः।।

वही, १६/५३/२

३. वही, १६/५३/३

वस्तुएँ समाहित हैं[1]। काल में ही तप, ज्येष्ठ (हिरण्यगर्भ नामक तत्त्व) तथा ब्रह्म समाहित हैं। काल ही सबका ईश्वर है, काल ही प्रजापति का भी पिता था[2]।

उस काल के द्वारा ही सारा जगत् इषित, उत्पादित व प्रतिष्ठित है। काल ही ब्रह्म होकर परमेष्ठी अर्थात् ब्रह्मा को धारण करता है काल ने ही प्रजा तथा प्रजापति को उत्पन्न किया। स्वयंभू कश्यप तथा तप काल से उत्पन्न हुए[3]।

अथर्ववेद का ही अगला सूक्त भी काल को सबकी उत्पत्ति तथा निवेश का कारण बताता है। काल का यह रूप भी परमात्मा का ही रूप है। काल से ही जल उत्पन्न हुए, काल से ही ब्रह्म, तप, व दिशाएँ उत्पन्न हुईं। काल से ही सूर्य उदय व अस्त होता है। काल से ही वायु बहती है। काल में ही द्यौ और पृथिवी आहित हैं। काल से ही ऋचाएँ, यजुः तथा देवों के लिये भागरूप में क्षय रहित यज्ञ उत्पन्न हुए। काल में ही गन्धर्व, अप्सराएँ, सभी लोक, अङ्गिरा तथा अथर्वा प्रतिष्ठित हैं। इस लोक को , परमलोक को तथा पुण्यलोकों को बह्म से जीतकर परमदेव काल संसार में विद्यमान होता है[4]।

अथर्ववेद में कहीं–कहीं काल के भूत, भविष्य, और वर्तमान के रूपों का संकेत भी मिलता है[5]। काल के इन रूपों का ज्ञान ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी दिखाई देता है।[6] काल के एक अन्य रूप का वर्णन भी अथर्ववेद में मिलता है और वह है जन्म–मरण का काल चक्र। 'वह काल ही सब भुवनों को उत्पन्न करता है, वह ही सब लोकों में व्याप्त होता है, वह काल ही पिता होता हुआ फिर पुत्र हो जाता हे।

---

१. अथर्व १९/५३/५, ६, ७

२. काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्यश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः।।
वही, १९/५३/८

३. वही, १९/५३/९–१०

४. वही, १९/५४/१–५

५. कालो ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते।
वही, १९/५३/४
कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
वही, १९/५४/३

६. पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
ऋ. १०/९०/ २

उस काल से बढ़कर और कोई तेज नहीं है'।[१] अथर्ववेद की पैप्पलाद संहिता में, बारहवें काण्ड के दूसरे सूक्त में उन सभी मन्त्रों की लगभग आवृत्ति हुई है जो अथर्ववेद की शौनकीय संहिता के दो कालसूक्तों[२] में मिलते हैं।

अथर्ववेद के बाद यजुर्वेद में भी कुछ स्थानों पर काल शब्द का प्रयोग दिखाई देता है पर वहां काल का सामान्य अर्थ 'समय' ही प्रयुक्त हुआ है। तैत्तिरीय संहिता के दूसरे काण्ड में अनेक प्रकार की काम्येष्टियों का वर्णन है। एक स्थान पर कहा गया है कि गौ के लिये हवि देने के समय मित्र और वरुण के लिये एक कपाल में हवि देनी चाहिये[३]। इसी प्रकार अग्न्याधान के एक प्रसंग में कहा गया है कि अग्नि वैश्वानर ही संवत्सर है क्योंकि जिस प्रकार संसार में एक संवत्सर में पूर्ण गर्भ उचित काल आने पर सुख से उत्पन्न होता है उसी प्रकार उचित काल आने पर इस इष्टि से जो अग्नि स्थापित करता है वह मरता नहीं है।[४] इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता में दो स्थानों पर काल शब्द का प्रयोग हुआ है। एक प्रसंग है पहले काण्ड के ग्यारहवें प्रपाठक में वाजपेय का[५] और दूसरा प्रसंग है तीसरे काण्ड के छठे प्रपाठक में अध्वरों की विधि का[६] – दोनों ही स्थानों पर काल शब्द का प्रयोग 'समय' के अर्थ में हुआ है। काठक संहिता में प्राप्त दो प्रसंग[७] भी लगभग उसी प्रकार के हैं और उनमें भी काल का अर्थ 'समय' ही है। कपिष्ठल–कठ संहिता में काल शब्द का प्रयोग

---

१. स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः।।
अथर्व. १९/५३/४

२. वही, १९/५३, १९/५४

३. तै. सं. २/२/६/७

४. तै. सं. ५/५/१/७

५. आगते काले सोमैरुत्क्रामन्ति
प्रत्यञ्चः सुरोपयामैः पाप्मनैवेनं विपुनन्ति,
तस्मादाहुर्वाजपेययाऽज्येव पूत इति।
मै. सं. १/११/६

६. तं वा एतदागते काले सर्व संस्फीतं यज्ञ देवताभ्यो दुहेत्।
मै. सं. ३/६/७

७. का सं. ६/८, १४/६

एक ही स्थान पर हुआ है और वह भी 'समय' के अर्थ में है।[1]

वैदिक संहिताओं में काल के उपर्युक्त विवेचन से कुछ विचारणीय बातें हमारे सामने आती हैं। एक यह कि ऋग्वेद में काल का बहुत सामान्य अर्थ 'समय' किया गया है। अथर्ववेद में अलग–अलग प्रसंगों में इसके अलग–अलग अर्थ हो गये हैं परन्तु इस वेद में काल का सर्वोपरि रूप है परमात्मरूप जबकि कृष्ण यजुर्वेद में काल का अर्थ यज्ञ के प्रसंग में किसी न किसी समय से ही है। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि संहिताओं में कहीं भी काल का वह भंयकर, विकराल और मार देने वाला रूप नहीं मिलता जो बाद के गन्थों में प्रचलित हो गया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि संहिताओं में दिवस, अहन्, रात्रि, वर्ष, शरद्, संवत्सर, युग आदि अनेक कालांशवाची शब्द मिलते हैं परन्तु काल और इनमें अन्तर केवल यह है कि इन शब्दों में परमात्मा का रूप समाहित नहीं है, जब कि काल में परमात्मा का भी रूप देखा गया है।

---

१. यदि सायमग्निहोत्रस्य कालोऽतिफलेत,
दोषावस्तोः स्वाहेति जुहुयात् । सैव
तत्राहुतिः। तेनास्य तदनतिपन्नं भवति।
कपि. ४/७

अथर्ववेद के काल सूक्त

(सायण–भाष्य के सन्दर्भ में)

डॉ० जितेन्द्र कुमार

अथर्ववेद उन्नीसवें काण्ड के त्रेपनवें तथा चौवनवें दो सूक्तों के पन्द्रह मन्त्रों में काल–विषय का प्रतिपादन होने से इन दोनों सूक्तों को काल सूक्त के नाम से अभिहित किया गया है। वैदिक ऋषियों की यह वर्णनात्मक शैली रही है कि वे नितान्त अपरिहार्य उपयोगी पदार्थो एवं प्राकृतिक वस्तुओं की महत्ता के मूल में एक सत्ता की विद्यमानता को स्वीकार करने के साथ ही तत्तद् वस्तु एवं पदार्थ को सर्वोच्च महत्त्व दे देते हैं। जब सूर्य का वर्णन करते हैं तो मात्र उनके सामने सूर्य ही होता है और जब वे जल का वर्णन करते हैं तो जल ही आधार है आदि द्वारा सर्वोत्कृष्टता का द्योतन दृष्टिगत होता है। यह शैली एक रहस्यात्मक तथ्य का दर्शन कराती है। इसको मैक्सम्युलर आदि तदनुयायी पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों ने हीनोथीज्म का नाम दिया। यही वैशिष्ट्य उपर्युक्त सूक्तद्वय में परिलक्षित होता है।

काल को यदि दो रूपों में देखा जाये तो इसको समझने में प्रत्येक दृष्टि से सरलता आ सकती है।

(१) सर्ग काल में सूर्यादि करणों से विभक्त काल।

(२) प्रलय तथा सर्ग काल रूप समग्र अविच्छिन्न काल।

प्रथम सूर्यादि का निर्माण ईश्वराश्रित होने से तज्जन्य काल ईश्वर द्वारा प्रेरित है अथवा ईश्वर ही है।

द्वितीय में काल और ब्रह्म अथवा ईश्वर में अभेद, अभिन्नत्व दृष्टिगोचर होता है।

परमेश्वर की समस्त क्रियाएं जो संसार के उत्पन्न, पालन और संहार निमित्तक व्यक्ताव्यक्त रूप में हो रही हैं वह भी कालाश्रित ही कही जा सकती हैं।

जब यह कहा जाता है कि यह सृष्टि एक नियम से चल रही है तो स्वाभाविक है कि इसका संचालक भी नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में ईश्वर भी काल में बँधा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसी भ्रान्ति का निवारण करने के लिए वेद में तथा वेदेतर वैदिक वाङ्मय में काल को ही सर्वोच्च सत्ता, ब्रह्म, ईश्वर के रूप में प्रतिस्थापित किया गया प्रतीत होता है तथा यह समाधान अपने आप में समस्त ग्रन्थियों का उच्छेदक तथा यथार्थ का अवभासक भी प्रतीत होता है।

अथर्ववेद में काल को सभी का नियन्ता, स्वामी, ईश्वर कहा गया है।[1] आचार्य सायण ने भी १६/५३/१ में काल शब्द का अर्थ "समस्त जगत् का प्रतिबन्धक अनवच्छिन्न काल रूप होने से परमेश्वर काल है"[2] ऐसा किया है।

अथर्ववेद (१६/५३ सूक्त के प्रथम मन्त्र) में काल के अश्व रूप में वर्णन द्वारा उसे सप्तरश्मि, सहस्राक्ष, अजर तथा भूरिरेतस् आदि विशेषणों से युक्त बताते हुए कहा गया है कि इस काल रूपी अश्व का आरोहण क्रान्तदर्शी धीर मनस्वी जन. ही कर पाते हैं। इसको विद्वान् पुरुष ही स्वाधीन कर पाते हैं।[3] मन्त्र में अश्व शब्द सूर्य का वाचक भी दृष्टिगत होता है क्योंकि सप्तरश्मि शब्द सूर्य की सात प्रकार की किरणों की ओर ध्यानाकर्षित करता हुआ सहस्राक्ष असंख्य आँखों के तुल्य रश्मियों को अभिव्यक्त करता है। यह अजर तथा भूरिरेतस् बहुत शक्ति सामर्थ्य से सम्पन्न है। इसी का उपयोग कर विद्वान् लोग सुखी तथा समृद्धि से युक्त होते हैं। मन्त्र में प्रत्येक काल के सूक्ष्म अवयव तक के उपयोग के महत्त्व का प्रतिपादन अभिप्रेत दृष्टिगत होता है।

आचार्य सायण ने भी इस मन्त्र में सर्वजगत के कारणभूत कालरूप परमात्मा का स्तवन करने के संकेत के साथ ही काल का अश्व रूप में निरूपण किया है। काल रूप अश्व का निर्वचन उनके द्वारा इस प्रकार किया गया है – "जो भूत, भविष्य, वर्तमान कालवर्त्ती वस्तुओं को प्राप्त करता है वह अश्व है"। ऐसे काल रूपी अश्व पर आरोहण क्रान्तदर्शी ही करते हैं।

सप्तरश्मि शब्द की व्याख्या में सायण ने दो–दो मास के क्रम से रहने वाली (अधिमास से युक्त तेरहवें मास पर्य्यन्त) सात ऋतुएं किया है। सहस्राक्ष शब्द से दिन और रात ग्रहण किये गए हैं। इस प्रकार की सहस्रों दिन–रातों से युक्त, अजर, जरारहित, सर्वदा एक रूप रहने वाली, भूरिरेतस्, प्रभूतजगत्सर्जन, समर्थशक्तिसम्पन्न

---

१. कालो ह सर्वस्येश्वरः – – – ।। अथर्व. १६/५३/८

२. कालः कलयिता सर्वस्य जगतः अनवच्छिन्नकालरूपःपरमेश्वरः।। १६/५३/१ सा. भा.

३. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।।
अथर्व. १६/५३/१

रूप काल समस्त प्राणियों को अपने–अपने कार्य में प्रेरित करता है। ऐसे काल को क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष ही स्वाधीन कर पाते हैं। अथवा शब्द से आदित्य को कहा गया है। कालात्मक अश्व सूर्य की सात प्रकार की प्रधानभूत रश्मियां हैं। आँखों के संदर्भ में सहस्रों किरणों से युक्त अविनश्वर नित्य प्रभूत (जल) वाला सूर्य काल चक्र का वहन करता है। उस कालात्मक सूर्य को विद्वान् परमार्थ प्राप्ति हेतु सूर्य मण्डल को भेदन करके प्राप्त करते हैं अथवा स्वात्मभाव से अधिष्ठित रहते हैं।[1]

इस मन्त्रार्थ में काल को अश्व, परमेश्वर तथा आदित्य कहकर इन पर अधिष्ठित होने की ओर संकेत निर्दिष्ट है। मन्त्र में काल को अश्व कहकर व्याप्ति का निर्देश दिया गया है अर्थात् काल से परे इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं है। काल ने सबको अपने में आवृत किया हुआ है अथवा समेटा हुआ है। काल अनन्त है, काल सूक्ष्म विभाज्य इकाई में भी है तथा स्थूल से स्थूल में भी, काल ही सबका कारक एवं कारण है। इसकी गति अति तीव्र है यह अहर्निश स्वयं गतिमान है तथा अन्यों को भी गतिमान कर रहा है।

द्वितीय मन्त्रार्थ में संवत्सर रूप काल चक्र का एवं सम्पूर्ण जगत् के कारण रूप से अनुभूयमान परमात्मा का तथा काल शब्द से जीवात्मा का वर्णन किया गया है। मन्त्रार्थ का वह अंश द्रष्टव्य है जिसमें परमात्मापरक अर्थ किया गया है ''अथवा अध्यात्म परक अर्थ की संगति इस प्रकार जाननी चाहिये–काल कलयिता सभी इन्द्रियों के व्यापारों (क्रियाओं) का कर्त्ता होने से शरीराभिमानी देव जीवात्मा ही अभिप्रेत है।

---

१. सप्तरश्मिः। रश्मि शब्देन ऋतव उच्यन्ते सप्तर्तुः एकैक ऋतुर्मासद्वयात्मकः सप्तमस्तु त्रयोदशो मासः। सहस्राक्षः। अत्र अधि शब्देन दिनादि रात्रयश्च उच्यन्ते। सहस्रसंख्याकाहोरात्रमुक्तः। अजरः। जरारहितः सर्वदा एकरूपः। भूरिरेताः प्रभूतजगत्सर्जनसमर्थशक्तिसंपन्नः। एवं रूपः कालो वहति। प्राणिजातं स्वस्वकर्मसु प्रापयति। तं कालं कवयः क्रान्तदर्शिनो विपश्चितः। विद्वांसः आ रोहन्ति स्वाधीनं कुर्वन्ति। स्वाधीनकाला भवन्तीत्यर्थः। तस्य कालात्मकस्य रथस्य चक्रा, चक्राणि विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतजातानि। लोकान् अभिगच्छन्तीति शेषः।

अथवा अश्व शब्देन आदित्य उच्यते। कालात्मकोऽश्वः सूर्यः सप्तरश्मयः प्रधानभूता यस्य। सहस्राक्षः अक्षिवद् अक्षीणि किरणाः सहस्रकिरणोपेतः अजरः अविनश्वरो नित्यभूरिरेता.। उदकवाची रेतशब्दः। एवंरूप आदित्यो वहति। कालचक्रं धारयति। तं कालात्मकं सूर्य विद्वांसः अधिगतपरमार्थाः आ रोहन्ति सूर्यमण्डलं भित्त्वा उपगच्छन्ति। – उक्त मंत्र पर सा. भा.

रूपादि विषय बन्धक हैं। तनु सूक्ष्म दुर्दर्श है। चैतन्य अमृत है। आँख सभी इन्द्रियों के विषयों के अनुगमन रूप है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणी प्रेरणा प्राप्त करते हैं।''[१]

संवत्सर की चक्र रूप में कल्पना का आधार सूर्य, नक्षत्र, पृथिवी आदि की चक्रात्मक गति ही प्रतीत होती है। काल के विशेषणों से प्रतीत होता है कि काल एक सूक्ष्म तत्त्व है। वह दृष्टिपथ से अतीत है। मन्त्र में प्रयुक्त ''न्वक्ष'' शब्द से उक्त कथन की पुष्टि होती है। काल रूपी रथ की धुरी दुर्दर्श है। सभी लोक इस रथ के पहियों के साथ घूमते हैं जिस प्रकार रथ की धुरी सूक्ष्म होते हुए भी सम्पूर्ण गति का कारण होती है इसी प्रकार सूक्ष्म एवं दुर्दर्श काल तत्त्व सम्पूर्ण गति का मूलभूत कारण है। इसे अमृत भी कहा गया है।

अमृत एवं मृत्यु उसी काल तत्त्व के दो रूप हैं, जहाँ एक ओर जीवन की गति एवं आयुष्य प्रदान करने के कारण इसकी संज्ञा अमृत है वहाँ दूसरी ओर आयुष्य के मुक्तांश की संज्ञा मृत्यु होने के कारण यह इस नाम से भी जाना जाता है। सम्भवतः इसीलिए कालान्तर में इस शब्द का व्यवहार मृत्यु अथवा मृत्यु के अधिष्ठातृ देव के रूप में होने लगा होगा। एक अन्य मन्त्र में काल शब्द से जीवात्मा अर्थ भी सुसंगत होता है। मन्त्र निम्न प्रकार से है –

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः।।[२]

अर्थात् उस काल में ही मन एवं प्राण प्रतिष्ठित हैं। जीवात्मा के रहने पर ही मन आदि सम्पूर्ण इन्द्रिय–व्यापार प्रारभ रहता है तथा प्राण भी अपना कार्य इसी के रहने पर करता है। स्त्री पुरुष आदि संज्ञाओं के व्यवहार में भी काल ही कारक है। आचार्य सायण ने इसका अर्थ परमात्मा ही किया है तथा कहा है कि मन का अर्थ भी मानुष शरीर में विद्यमान मन नहीं है अपितु परमेश्वर की जगन्निर्माणेच्छा के निमित्तभूत

---

१. सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः।।
अथर्व. १६/५३/२

''यद्वा अध्यात्मपरत्वेन योज्यः। कालः कलयिता सर्वेन्द्रिय–व्यापारकर्ता शरीराभिमानी देवः। बन्धका विषयाः रूपादयः। तुन सूक्ष्मं दुर्दर्शम्। अमृतं चैतन्यम्। अक्षः सर्वेन्द्रियेषु विषयेषु च अनुगतः। एवं स प्राणिजातानि अञ्जत् प्रेरयन् ईयते। स उपसंहरंश्च स कालः ईयते तत्त्वज्ञैर्ज्ञायते।। –अथर्व. १६/५३/२ पर सा. भा.

२. अथर्व. १६/५३/७

मन अभिप्रेत है।[1]

अग्रिम मन्त्र[2] में कहा गया है कि काल रूप से सब जगत् के कारणभूत, नित्य, अनवच्छिन्न परमेश्वर के स्वरूप में दिन, रात, मास, ऋतु, वर्ष आदि सर्वत्र निहित हैं, व्याप्त हैं। उस उत्पन्न दिन–रात्रि भेद से काल को विद्वान् लोग अनुभव करते हैं। अथवा कालाधार परमात्मा को श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा बहुत प्रकार से देखते हैं, साक्षात्कार करते हैं। उस उत्कृष्ट सांसारिक सुखदुःखादि द्वन्द्व–दोषों से रहित आकाशवत् निर्लेप सर्वगतरक्षक परमानन्द–प्रदायक स्वरूप में परम काल वर्तमान है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।[3]

आचार्य सायण का मानना है कि काल ही सभी प्राणियों को उत्पन्न करके पोषण करता है और यही काल प्राणियों का जनक होकर उनका पुत्र हो जाता है अर्थात् काल ही पितृरूप से और पुत्ररूप से माना जाता है। जैसे – पूर्वजन्म में पितारूप से व्यवहृत होता है वही पुत्र रूप से इस जन्म में व्यवहृत होता है क्यों कि सभी अवच्छेदक काल के ही अधीन हैं अथवा एक ही जन्म में पिता के पुत्र होने का वर्णन प्राप्त होता है।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे।

आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।।[4]

उस सर्वोत्पादक, सर्वगत पुत्रादि रूप से भविष्यत् काल से श्रेष्ठ और कोई तेज नहीं

---

१. (काले) परमात्मनि (मनः) जगत्सिसृक्षानिमित्तभूतं मनो वर्त्तते। तस्मिन् एव (काले प्राणः) सूत्रात्मा सर्वजगदन्तर्यामी वर्त्तते। अन्तर्यमनोपाधिकत्वेन काले वर्त्तते इति। यद्वा मनः जात्येकवचनम्। सर्वेषां प्राणिनां मनांसि। प्राणः पञ्चवृत्तिकः प्राणा अपि परमात्मन्येव वर्त्तन्ते। तथा (नाम) नामधेयं सर्वेषां वस्तूनां संज्ञा अपि तत्रैव काले समाहितम्। स्त्री पुरुषादिसंज्ञाभिः काल एव उच्यत इत्यर्थः।

अथर्व. १९/५३/७ सा. भा.

२. पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तम्।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन्।।

अथर्व. १९/५३/३

३. उक्त मंत्र पर सा. भा.

४. कौ. उ. २/११

है।[1] इस प्रकार के उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी पदार्थ और अवस्था–भेद काल के द्वारा होने से विकसित अथवा विनष्ट होते हैं। उनका काल ही कारक और निमित्त है। इसके अतिरिक्त काल रूपी परमात्मा ने द्युलोक, पृथिवी लोक तथा भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि के आश्रित को उत्पन्न किया है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों[2] में काल के आश्रित क्या–क्या है, तथा इनसे क्या–क्या उद्‌भूत है – आदि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

---

१. स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनाति पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यद् परमस्तितेजः।
अथर्व. १६/५३/४ पर सा. भा.

२. मन्त्र निम्नलिखित हैं –

(i) कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ।। अथर्व. १६/५३/५

(ii) कालो भूतिमसृजत् काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति।। वही, १६/५३/६

(iii) काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः।। वही, १६/५३/८

(iv) तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम्।। वही, १६/५३/६

(v) कालः प्रजा असृजत्, कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत।। वही, १६/५३/१०

(vi) कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः।। वही, १६/५४/१

(vii) कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता।। वही, १६/५४/२

(viii) कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत।। वही, १६/५४/३

(ix) कालो यज्ञं समैरयद्देवेश्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः।। वही, १६/५४/४

(x) कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्या
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ।।
वही, १६/५४/५

शतपथ ब्राह्मण में कालतत्त्व

डॉ. नरगिस वर्मा

यद्यपि काल शब्द के अनेक अर्थ हैं यथा–अवस्था, दशा, भाग्य, समय, मृत्यु आदि, तथापि अधिक प्रचलितार्थ समय तथा मृत्यु ही हैं। काल शब्द यूं का यूं ही शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त हुआ है। इसके कई पर्यायवाची शब्द भी विभिन्न सन्दभों में वर्णित हैं – **'स एष स्विष्टकृतः कालः[१]'**।

कालवाची अन्य शब्दों में मुख्य मुहूर्त, निमेष, संवत्सर, ऋतु, नक्षत्र, अहोरात्र आदि हैं। यद्यपि वैदिक काल से काल की वार्षिक इकाई के लिये संवत्सर शब्द का प्रयोग यत्र–तत्र बहुलता से किया गया है तथापि काल का विभाजन दिन तथा रात में, मुहूर्तो में, पूर्वाह्न – मध्याह्न तथा अपराह्न में, शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष में, ऋतुओं में एवं मासो में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में समय के लिये प्रयुक्त शब्द इन्हीं अर्थो की अभिव्यक्ति करते हैं। इनमें से कुछ शब्दों का सम्बन्ध देवों तथा कुछ का सम्बन्ध पितरों से दिखाया गया है।[२]

देवों से सम्बद्ध शब्द	पितरों से सम्बद्ध शब्द
दिन	रात
शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
पूर्वाह्न	अपराह्न
पूर्णिमा	अमावस्या (दर्श)
वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा	शरद्–हेमन्त–शिशिर

शतपथ में कालवाची मुहूर्त शब्द का प्रयोग करते हुए निर्वचनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है – **'तद् यन्मुहुः त्रायन्ते-तस्मान्मुहूर्ताः'**।[३] अर्थ दो प्रकार से संभाव्य हैः (i) मुहु+ त्रैङ् पालने से यानि वे क्षण जो जल्दी से व्यतीत हो जाते हैं (ii) मुहु+तृ (प्लवनसंतरणयोः) से। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। Avesta में काल के लिये प्रयुक्त मुहूर्त शब्द का समान शब्द Mers 24 है जिसका अर्थ है Short of time.

---

१. शत० ब्रा० १/७/३/२–३ रुद्राख्यान।

२. वही २/१/३/१

३. वही १०/४/२/१८

दूसरे शब्दों में मुहूर्त शब्द का प्रयोग समय की लघु इकाई के रूप में किया गया है। मुहूर्त का एक अर्थ लगन भी लिया जाता है। शुभ मुहूर्त या अशुभ मुहूर्त आदि वाक्यांश प्रायः जनभाषा में बोले जाते हैं। शतपथ में एक दिन–रात में ३० मुहूर्त कहे गये हैं तथा एक मुहूर्त में ४८ मिनट।[१] एक वर्ष में १०८०० मुहूर्त कहे गये हैं।[२]

संवत्सर–सत्र–निरूपण में मुहूर्त शब्द के साथ–साथ कालवाची अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। लिखा है – एक वर्ष में १०८०० मुहूर्त होते हैं। जितने मुहूर्त हैं उनके १५ गुना क्षिप्र। जितने क्षिप्र हैं उनके पन्द्रह गुना एतर्हि। जितने एतर्हि हैं उनके पन्द्रह गुना इद तथा जितने इद हैं उनके १५ गुना प्राण। जितने प्राण हैं उतने अन, जितने अन हैं उतने निमेष। जितने निमेष हैं उतने लोमगर्त। जितने लोमगर्त हैं उतने स्वेदायन। जितने स्वेदायन हैं उतने स्तोक या बूंदें जो बरसती हैं।[३] इस प्रकार मुहूर्त–क्षिप्र–एतर्हि–इद–अन–निमेषादि शब्द समय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश के प्रतिपादक हैं। इनके अतिरिक्त दिन तथा रात के लिये अहोरात्र शब्द का प्रयोग है। दिन को अहन् तथा रात को नक्तम् कहा गया है।[४] अथर्ववेद में रात्रि के लिये रजनि शब्द आया है।[५] शतपथ में दिन के पूर्व भाग को पूर्वाह्न, मध्यभाग को मध्यन्दिन तथा पिछले भाग को अपराह्न या सायं कहा गया है।[६] वृत्राख्यान के सदर्भ में कहा है कि वृत्र को एक विशालकाय दानव होने के कारण बहुत अधिक भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। सुबह उसे देव खाना देते थे, दोपहर को मानव तथा तीसरे पहर में पितर– **'तस्मै ह स्म पूर्वाह्ने देवाः अशनमभिहरन्ति मध्यन्दिने मनुष्या अपराह्ने पितरः।'**[७]

प्रजापति के एक आख्यानात्मक सन्दर्भ में भी दिन के तीन प्रहरों का वर्णन है किन्तु वहाँ तीसरे पहर के लिये केवल 'तृतीय' शब्द का प्रयोग कर अभिप्राय को अभिव्यक्त किया गया है।[८] आख्यान रोचक है –

---

१. वही

२. वही १०/४/२/२०

३. वही १२/३/२/५

४. वही २/१/४/२

५. अथर्ववेद १/२३/१

६. शत० ब्रा० १/६/३/१२ ; २/१/४/२ ; ३/४/४/२ ; ७/३/२/१८ सायं शब्द

७. वही १/६/३/१–२.

८. वही १२/३/४/१–६

प्रजापति ने एक बार पुरुष नारायण से कहा, यज्ञ कर, यज्ञ कर, उसने उत्तर दिया, 'तू मुझे कहता है कि 'यज्ञ कर'। मैंने तीन बार यज्ञ किया। प्रातः सवन से वसु निकल गये, मध्य सवन से रुद्र निकल गये और तीसरे सवन से आदित्य निकल गये – **'वसवः प्रातः सवनेनागू रुद्रा माध्यन्दिनेन सवनेनादित्यास्तृतीय सवनेनाथ मम यज्ञवास्तु एव'।** अब मेरे पास केवल यज्ञशाला मात्र ही है। प्रजापति बोला, 'यज्ञ कर तो सही। मैं तुझे ऐसी बात बता दूंगा कि तेरे उक्थ सूत्र में मणियों के समान या मणियों में सूत्र के समान पिरो जायेंगे। प्रजापति ने उससे कहा–प्रातः सवन में बहिष्पवमान में उद्‌गाता के पीछे खड़ा होकर कहना, 'तू गायत्री छन्द वाला श्येन है। मैं तुझे पकड़े हूँ। तू मुझे पार लगा दे'।

'माध्यन्दिन पवमान में उद्‌गाता के पीछे खड़ा होकर कहना कि तू त्रिष्टुप् छन्द वाला सुपर्ण है। मै तुझे पकड़े हूँ। तू मुझे पार लगा दे।'

तीसरे सवन में आर्भव पवमान में उद्‌गाता के पीछे खड़ा होकर कहना, 'तू जगती छन्द वाला विष्णु है। मैं तुझे पकड़े हूँ। तू मुझे पार लगा दे।' हर सवन के अन्त में जपना, 'मुझे प्रकाश (भर्ग) मिले। मुझे शक्ति मिले, मुझे यश मिले, मुझे सब कुछ मिले। दार्शनिक दृष्टि से प्रकाश, शक्ति तथा यश से ब्राह्मणकार का अभिप्राय तीन लोक, तीन देव तथा तीन वेद है।

मुहूर्त से मास तथा क्रमशः संवत्सर का चक्र शतपथ में द्रष्टव्य है। सर्वप्रथम मुहूर्त से अहोरात्र, अहोरात्र से पक्ष तथा पक्ष से मास का वर्णन किया गया है। प्रत्येक मास में दो पक्षों का निरूपण है जो शुक्ल तथा कृष्णपक्ष के नाम से व्याख्यात है। वैदिक काल से ही मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से ही माना जाता था। शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों को शतपथ में क्रमशः यव तथा अयव एवं पूर्वपक्ष तथा अपर पक्ष भी कहा गया है – **'पूर्वपक्षा वै यवाऽअपरपक्षाऽ अयवास्ते हीदं सर्वं युवते चायुवते च'।**[१]

इसके अतिरिक्त कृष्णपक्ष के लिये दर्श या अमावस्या शब्दों का भी प्रयोग है तथा शुक्ल पक्ष के लिये पूर्णमास शब्द का। ये दो अग्नि तथा सोम के रूप कहे गये हैं। जो शुक्ल है वह अग्नि का, जो कृष्ण है वह सोम का।[२] शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की कला एक–एक करके बढ़ती है और पूर्णिमा को चांद पूरा दिखाई देता है किन्तु दूसरे ही दिन से अर्थात् कृष्ण पक्ष में कला एक–एक करके अपक्षीण

---

१. वही ८/४/२/११

२. वही १/६/३/४१

होती है तथा कृष्ण पक्ष की अमावस को चाँद बिल्कुल अदृष्ट हो जाता है। इसी आशय को शतपथ में बडे रोचक ढंग से निर्वचनात्मक शैली के द्वारा प्रतिपादित किया है। अमावस्या को अमावस्या इसलिये कहते हैं क्योंकि इस दिन चाँद देवताओं के पास होने के कारण दृष्टिगत नहीं होता – **'ते देवा अब्रुवन् अमा वै नोऽद्य वसुर्वसति'**[1] अर्थात् देव बोले आज चाँद (वसु) हमारे पास रह रहा है। यही कारण है कि इस रात्रि को अमावस्या कहते हैं। इस दिन सूर्य चन्द्रमा को ग्रस कर उदित होता है।

अमावस्या से सम्बद्ध एक लघु आख्यान है। इन्द्र ने कहा, 'जब मैंने वृत्र को वज्र मारा तो मैं डर गया और दुबला हो गया। यह हवि मुझे पर्याप्त नहीं। ऐसी हवि तैय्यार करो जो पर्याप्त हो जाये'। देवों ने कहा –अच्छा। उन देवों ने सोचा–इसको सोम के सिवाय और कुछ पर्याप्त न होगा। अतः इसके लिये सोम को ही तैय्यार करें। उसके लिये सोम को भरा गया। यह सोम जो देवों का अन्न है, चन्द्रमा ही है। जब यह इस अमावस की रात को न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में तो उस समय लोक में आ जाता है तथा जलों और ओषधियों में प्रविष्ट हो जाता है। वह देवों का वसु या अन्न है और चूंकि वह इस रात को यहाँ साथ रहता है (अमा वसति) इसलिये इसका नाम अमावस्या है –

"स वै देवानां वस्वन्नं ह्येषां तद्यदेष एतां रात्रिमि हामा वसति तस्मादामावस्या नाम"।[2]

यहाँ पर चन्द्रमा को ही देवों का वसु या अन्न कहा है क्योंकि तभी वह सूर्य के द्वारा ग्रसित होता है तथा सूर्य प्रातः उदित होता है चाँद दिखाई नहीं देता।

सृष्टि की प्रक्रिया के अन्तर्गत दिन–रात की उत्पत्ति का वर्णन भी शतपथ में दिया गया है। दर्शपूर्णमास–निरूपण में कहा है कि देवों को सृजन कर जो उसके लिये प्रकाश हो गया उससे प्रजापति ने दिन उत्पन्न किया। असुरों को उत्पन्न करके उसे अन्धेरा मिला। उससे उसने रात की। इस प्रकार दिन–रात हुए –

"स यदस्मै देवान्ससृजानाय। दिवेवास तदहरकुरुताथ

---

१. वही, १/६/४/३

२. वही, १/६/४/५

यदस्माऽअसुरान्ससृजानाय तमऽइवास तां रात्रिमकुरुत तेऽअहोरात्रे"।[१]

दिन तथा रात को एक स्थान पर परिवेष्ट्री अर्थात् काल के पहरेदार भी कहा है– **'अहोरात्रे परिवेष्ट्री'** इस प्रकार दिन देवों का तथा रात असुरों से सम्बद्ध मानी गई है।

दिन–रात से पक्ष बने, पक्ष से अर्द्धमास, अर्द्धमास से मास तथा मास से वर्ष–संवत्सर। वास्तव में संवत्सर में सामान्यतया ३६५ दिन से कुछ अधिक समय बताया गया है तथा वैदिक काल से आज तक काल की वार्षिक इकाई को संवत्सर कहा जाता है। यही इस शब्द की भाषावैज्ञानिक विशेषता है। संवत्सर में कहीं १२ मास तो कहीं १३ मास भी कहे गये हैं।

"द्वादश वा त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः।''[३]

शतपथ में जहाँ संवत्सर का अर्थ कालगत लिया गया है वहीं प्रजापति तथा यज्ञ का समीकरण भी उद्धृत किया गया है

"संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमाप्नोति तं प्रत्यक्षमाप्त्वाऽऽत्मन्कुरुते।"[४] जहाँ दिन–रात की उत्पत्ति का मूलभूत कारण दर्शपूर्णमासेष्टि कही गई है वहाँ मास तथा वर्ष या संवत्सर की उपलब्धि भी इसी यज्ञ के द्वारा देवताओं ने की – ऐसा वर्णन भी यहाँ पर इन शब्दों के द्वारा प्रतिपादित है–

"त एवं हविर्यज्ञं ददधुः- यद्दर्शपूर्णमासौ। ताभ्यामयजर्न्त। यज्ञ वा एता उभौ परिप्लवेते अथ मासो भवति। मासशः संवत्सर। सर्वं वै संवत्सरः।"[५]

संवत्सर को सर्वस्व बताया है क्योंकि वर्षभर की अवधि में मानव बहुत कुछ उपलब्धि कर सकता है। यहाँ तक कि संवत्सर के अन्दर ही पुरुष की उत्पत्ति कही गई है – **'ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्।'**[६]

---

१. वही, ११/१/६/११
२. वही, ११/२/७/५
३. वही, ५/४/५/२, ३/६/४/२३
४. वही, ५/४/५/२३
५. वही, १/७/२/२३–२४
६. वही, ११/१/६/१२

संवत्सर शब्द को निर्वचनात्मक शैली के द्वारा शतपथ में दो प्रकार से स्पष्ट किया गया है –

(i) **सर्वं वै संवत्सरः। सर्वमेव तद्देवा असुराणां समवृञ्जत सर्वस्मात् संपत्नानसुरान्निरभजन्त्सर्वम्वेवैष एतत् सपत्नानां संवृक्ते सर्वस्मात्सपत्नान्निर्भजति।**[1]

(ii) **सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतत्च्यत् संवत्सर इति।**[2]

वर्ष को सब कुछ कहा क्योंकि देवों ने वर्षभर में असुरों का सब कुछ (सर्वस्व) जीत लिया तथा जो यह तथ्य जानता है वह भी शत्रुओं को वर्षभर में पराजित करने में समर्थ हो जाता है। दूसरे निर्वचन के अनुसार प्रजापति ने सब कुछ चुरा लिया जो भी देवताओं ने सृजन किया। इसलिये वह सर्वत्सर कहलाया। सर्वत्सर से ही संवत्सर शब्द बना। संवत्सर शब्द जैमिनीय ब्राह्मण में भी व्याख्यात है –

'तद् आहुः किं सम्वत् किं सर किम् अयनमिति। स ब्रूयात् त्रय एव विद्या सम्वत्। तां हि सर्वं देवाः सं का अन्ततः अहोरात्रे एव सरः। ते हीदं सर्व सरतः। आदित्य एवायनम्। स हि एषु लोकेष्वेति इति अधिदेवतम्। अथाध्यात्मम्। अन्नमेव सम्वत् तत् हीदं सर्व संवान्तम्। वागेव सरः। वाचा हि पुरुषः सरति।[3]

इस व्याख्या के आधार पर आदित्य को ही काल का (या दिन–रात का) आधार बताया है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी अन्न तथा वाणी के सामर्थ्य का श्रेय आदित्य को दिखाया गया है। मानव अन्न से ही बोलने की शक्ति प्राप्त करता है। अन्न को उपजाने में भी आदित्य एवं इन्द्र का महत् योगदान है। सूर्य से ही दिन–रात बनते हैं, दिन–रात से पक्ष, पक्षों से मास, मास से संवत्सर। इस प्रकार संवत्सर चक्र शतपथ में व्याख्यात है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान में इस शब्द की तुलना इस प्रकार की जा सकती है –

Indo - Eur.	*	Wet - Wates	– वर्ष के अर्थ में
Greek	-	Etos Fetos	– वर्ष के अर्थ में
Latin	-	Vetus	– वर्ष के अर्थ में
Albanian	-	Vjet	– वर्ष के अर्थ में

१. वही, १/७/२/२४
२. वही, ११/१/६/१२
३. जैमिनीय ब्राह्मण

इसके अतिरिक्त संवत्सर–सत्र–निरूपण के अन्तर्गत संवत्सर को पुरुष के साथ समीकरण की पुष्टि में शतपथकार द्वारा अनेक युक्तियुक्त संगतियाँ दी गई हैं जो इस प्रकार की तालिका द्वारा प्रस्तुत की जा सकती हैं –

पुरुष	**संवत्सर**
पुरुष एक है	संवत्सर एक है
पुरुष में दो प्राण	संवत्सर में भी दो रात और दिन हैं
पुरुष में तीन प्राण	संवत्सर में तीन ऋतु
यजमान में चार अक्षर	संवत्सर में भी चार अक्षर
पुरुष में ५ प्राण	संवत्सर में भी पांच ऋतु
पुरुष में ६ प्राण	संवत्सर में भी छः ऋतु
पुरुष में ७ प्राण	संवत्सर में भी ७ ऋतु
पुरुष में १२ प्राण	संवत्सर में भी १२ मास
पुरुष में १३ वां नाभि	संवत्सर में भी १३ मास
पुरुष में २४ भाग (२० अंगुलियां, दो हाथ, दो पैर)	संवत्सर में भी २४ अर्द्धमास
पुरुष में ३६० हड्डियाँ	संवत्सर में ३६० रात
पुरुष में ३६० मज्जा	संवत्सर में ३६० दिन
पुरुष में ७२० हड्डियाँ + मज्जा	संवत्सर में ७२० रात–दिन

संवत्सर को पुरुष के अतिरिक्त मृत्यु, अन्तक, तथा प्रजापति से भी समीकृत किया गया है –

'एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यां आयुः क्षिणोति। एषऽउऽएवान्तकः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यां मायुषोऽन्तं गच्छति अथ म्रियन्ते तस्मादेषऽ एवान्तकः स यो हैतमन्तकं मृत्युं संवत्सर वेद न हास्यैष पुरा जरसोऽहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छति सर्वं हैवायुरिति'।[1]

देव लोग इस अन्तक, मृत्यु, संवत्सर, प्रजापति से डर गये कि ये हमारी आयु का दिन–रात के द्वारा अन्त न कर दें। उन्होंने उपायरूप इन यज्ञ–क्रतुओं का सम्पादन किया – अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, सोमयाग।[2]

---

१. शत. ब्रा., १०/४/३/१–२

२. वही, १०/४/३/३–१०

संवत्सर में कितने दिन होते हैं, इस सम्बन्ध में शतपथ में एक रोचक आख्यान है जिससे १० से १ दिन तक का प्रस्ताव है। संक्षेप में आख्यान इस प्रकार है –

प्रोति कोशाम्बेय कौसुरबिन्दि उद्दालक आरुणि का ब्रह्मचारी था। आचार्य ने एक बार पूछा, **'कुमार ! कति ते पिता संवत्सरस्य अहानि अहानि अमन्यत इति?'** तुम्हारे पिता ने वर्ष में कितने दिन माने थे?

उसने कहा, 'ठीक है। विराट में दस अक्षर होते हैं। यज्ञ विराट् छन्द से सम्बन्ध रखता है – **'विराड् वै यज्ञः।'**

परन्तु वस्तुतः कितने होते हैं? उसने कहा, 'नौ' ठीक हैं नौ **'नव वै प्राणाः'**।

'ठीक ठीक कितने दिन होते हैं?' उसने कहा 'आठ'। हाँ ठीक है आठ। अष्टाक्षरा गायत्री है।

'यथार्थ में कितने?' उसने कहा, 'सात'।

सात, ठीक है। छन्द सात हैं।

'मुख्यतः कितने?' उसने कहा 'छः'।

हाँ ठीक है। छः। संवत्सर की छः ऋतुएं होती हैं।

'वस्तुतः कितने' उसने कहा 'पांच' हां पांच ही। **'पाङ्क्तो यज्ञः'**।

'ठीक कितने?' उसने कहा 'चार'। चार ठीक हैं। पशुओं के चार पैर होते हैं।

'ठीक कितने?' उसने कहा 'तीन'। हाँ तीन। तीन लोक हैं।

'ठीक कितने?' उसने कहा 'दो' दो ठीक हैं। पुरुष के दो पैर है।

'ठीक–ठीक कितने?' उसने कहा 'एक'। ठीक एक। दिन एक है – संवत्सर दिन, प्रतिदिन एक ही है। संवत्सर सब कुछ है। यही संवत्सर की उपनिषत् (रहस्य) है[1]।

इसके अतिरिक्त ऋषि दीर्घतमस् ने भी ऋग्वेद के 'अस्यवामस्यसूक्त' (१/१६४/४८) में एक ही मन्त्र में संवत्सर के १२ मास तथा ३६० दिन का संकेत एक चक्र की १२ नेमियाँ तथा ३६० शङ्कुओं से उपमा के माध्यम से किया है : **'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।'**[2]

कालवाची शब्दों में शतपथ में १२ वें काण्ड में संवत्सरसत्रनिरूपण में कुछ ऐसे भी नाम हैं जो छोटे–छोटे यज्ञकर्म को प्रतिपादित करते हैं यथा–**षडहः**–छः दिन

---

१. वही, १२/२/२/१३–२३

२. ऋग्वेद, १/१६४/४८

तक चलने वाला सवन कर्म, **द्वादशाह** – १२ दिन तक चलने वाला सवन कर्म, **दशरात्र** – दस रात्रि में सम्पन्न होने वाला यज्ञीय कर्म इत्यादि।[१]

मासों के नाम शतपथ–ब्राह्मण में जिस प्रकार प्रयुक्त हैं वह संक्षेपतः इस प्रकार है– माघ (निर्वचनात्मक शैली में), मधु तथा माधव – चैत्र तथा वैशाख के अर्थ में – वसन्त ऋतु, नभस् तथा नभस्य – श्रावण तथा भाद्रपद के अर्थ में वर्षाऋतु, इष तथा ऊर्जः–आश्विन तथा कार्तिक के अर्थ में जब शरद का आगमन होता था।

माघ शब्द का निर्वचन रोचक है– **'माघे वा मा नोऽघं भूदिति'**[२] माघ को माघ इसलिये कहा जाता था क्योंकि इस मास में यज्ञ करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता था। ये सभी महीने ऋतुओं से सम्बद्ध हैं। माघ का महीना शीत ऋतु से संपृक्त है।

मधु तथा माधव जिन्हें चैत्र तथा वैशाख कहा जाता है, वसन्त ऋतु से जुड़े हुए हैं। कहा है – **'मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू - इति नामनी'**[३]।

नभस् तथा नभस्य जिन्हें श्रावण तथा भाद्रपद की संज्ञा दी जाती है – वर्षा ऋतु से सम्बद्ध हैं– **नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू।'**[४] इषः तथा ऊर्जः जो आश्विन तथा कार्तिक नाम से लोक में प्रसिद्ध हैं, शतपथ में इस प्रकार व्याख्यात हैः **'इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽ इति।**[५]' ये शरद ऋतु से जुड़े हैं।

तैत्तिरीय संहिता में भी ये नाम इन्ही अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं – **'मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्च इषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपस्यश्चोपयाम गृहीतोऽसि संसर्पोऽस्यंहस्पत्याय त्वा'**।[६]

शुक्र तथा शुचि–ग्रीष्म ऋतु के लिये कहे गये हैं जिन्हें ज्येष्ठ तथा आषाढ कहा जाता है– **शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ऽ इति,** (श. ब्रा. ८.२.१.१६)। सहस्– सहस्य मास मृगशीर्ष तथा पौष के महीने हैं जो हेमन्त से सम्बद्ध हैं। इनके लिये 'हेमन्तिकौ' शब्द का प्रयोग है।[७]

---

१. शत. ब्रा. १२/१/२/२

२. वही, १२/८/१/४

३. वही, ७/४/२/२६

४. यजुर्वेद, १४/१५, श. ब्रा., ८/३/२/५

५. श. ब्रा., ८/३/२/६

६. तैत्तिरीय संहिता, १/४/१४

७. एतावेव सहश्च सहस्यश्च हेमन्तिकौ। स यद्धेमन्तः इमाः प्रजाः सहसेव एवं वशमुपनयते तेनो हेतौ सहश्च सहस्यश्च। श. ब्रा., ४/३/१/१८

तपस्–तपस्य माघ तथा फाल्गुन से सम्पृक्त है जो शीत ऋतु या शिशिर के कहे गये हैं। शुक्र तथा शुचि शब्द यजुर्वेद (२२·३१) में भी आये हैं–

'मधवे स्वाहा, माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा - -।'

इस प्रकार ये मास प्रायः छः ऋतुओं में विभक्त हैं। शतपथ में कहीं छः तो कहीं ५ ऋतुओं का उल्लेख है – **'तदाहुः। षडेवर्त्तवः संवत्सरस्य'**[१] । ५ ऋतुओं के भी अनेक सन्दर्भ हैं– **पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य** ।[२]

शतपथ में एक स्थान पर सात ऋतुओं का भी उल्लेख है।[३] संवत्सर को सातवीं ऋतु कहा गया है **'संवत्सर एव सप्तमी विद्या'**।[४]

प्रायः सभी ऋतुयें दो–दो मास की अवधि की कही गई हैं। निदाघ एवं समा शब्द भी ग्रीष्म ऋतु व मास अर्थ से सम्बद्ध किये गये हैं– **'निदाघे वा नि नोऽघ धीयाता ऽ इति'**।[५] गर्मी में हमारे पाप दूर हों।

समास्त्वाग्नऽत्रसवो वर्धयन्तु (यजु. २७/१)[६]

हे अग्नि ! तुझे महीने और ऋतुयें बढ़ायें।

'समाः' का अर्थ ईशोपनिषद् के प्रारम्भ में 'वर्ष' लिया गया है – **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'**।

वर्षा ऋतु के लिये 'प्रावृष' शब्द का भी प्रयोग हुआ है – **'आ प्रावृषं षडर्तून्युङ्क्ते - - - आप्रावृषं वहन्ति प्रावृषमनुचरति**।[७] वर्षा ऋतु बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी गई है–**'वर्षा ह त्वेव सर्वेषां ऋतूनां रूपम्'**।[८] वर्षा की निरुक्ति **'वर्षाद्विवर्षा'**[९] पानी बरसने के आधार पर अर्थप्रधान है। वर्षा ऋतु हर्षोल्लास का प्रतीक मानी गई है। कहा है – **'यदा वै द्यावा पृथिवी संजानाते अथ वर्षति'**[१०] जब द्यावापृथिवी का मिलन होता था तभी

---

१. श. ब्रा. २/१/१/१३, १/७/२/२१ , २/४/२/२१
२. वही, ३/१/४/५ , ३/१/३/१७ , ७/१/१/१३५
३. वही, ६/३/१/१६
४. वही, १०/२/६/२
५. वही, १३/८/१/४
६. वही, ६/२/१/२५
७. वही, ५/५/२/३
८. वही, २/२/३/७
९. वही
१०. वही, १/७/२/१६

वृष्टि होती थी अर्थात् वर्षा का होना देवताओं की प्रसन्नता का सूचक था।

हेमन्त ऋतु ऋतुओं में अन्तिम मानी गई है। इसमें पत्ते झड़ जाते हैं।[१]

शतपथ में व्यष्टिरूपाग्निविषयोपासना के अन्तर्गत अग्नि को संवत्सर, वसन्त को सिर, ग्रीष्म को दायां बाजू, वर्षा को बाईं बाजू, शरद को मध्य शरीर, हेमन्त तथा शिशिर को पूंछ और पैर माना है –

'संवत्सरऽस्माग्निस्तस्य वसन्तः शिरो ग्रीष्मो दक्षिण पक्षो वर्षा उत्तरः शरदतुर्मध्यमात्मा हेमन्तशिशिरावृतू पुच्छम्।'[२]

कभी–कभी वर्ष का प्रारम्भ फाल्गुनी पौर्णमासी से होने के प्रमाण भी उपलब्ध हैं –

'एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी। योत्तरा एषोत्तमा'[३] (तो पिछली थी वह पिछले वर्ष का अन्त)।

अग्न्याधान के सन्दर्भ में ऋतुओं का निरूपण जिस ढंग से किया गया है, वह विशेष उल्लेखनीय है। वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा –ये देव ऋतुयें कही गई हैं। शरद, हेमन्त तथा शिशिर पितृ ऋतुयें कही गई हैं।[४] लिखा है कि ब्राह्मण वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करें क्योंकि वसन्त ब्राह्मण है, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में अग्न्याधान करें क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रिय है।[५] इसके अतिरिक्त जो इच्छा करे कि मैं ब्रह्मवर्च हो जाऊ वह भी वसन्त में अग्न्याधान करे।[६] जिसको इच्छा हो कि मुझ में शक्ति, श्री और यश प्राप्ति हो, वह ग्रीष्म ऋतु में अग्न्याधान करे।[७] जो बहुत सन्तान तथा पशु प्राप्त करना चाहे उसे वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिये।[८]

जो इस रहस्य को समझकर अग्न्याधान करता है उसे अवश्य ही अभीष्ट–सिद्धि होती है। इसके विपरीत एक स्थान पर लिखा है कि ये दोनों ही ऋतुयें

---

१. वही, १/५/४/५
२. वही, १०/४/५/२
३. वही, ६/२/२/१८
४. वही, २/१/३/१
५. वही, २/१/४/५
६. वही, २/१/४/६
७. वही, २/१/४/७
८. वही, २/१/४/८

(देवों तथा पितरों की) पापों से युक्त हैं। सूर्य उनके पापों को दूर करने वाला है। जब वह चमकता है तो उनके पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये जब कभी यज्ञ की इच्छा हो तभी अग्न्याधान कर ले –

'तस्माद्यदैवैनं कदा च यज्ञ उपनमेद् अथाग्नीऽ आदधीत न श्वः श्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।'[१] यह कल (आने वाले) के लिये कालवाची 'श्व' शब्द तथा 'कदा' शब्द ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार शतपथ में परस्पर विरोधी कथन भी हैं।

पुनः कहा है कि जब सूर्य उत्तरायण में हो तो अग्न्याधान करे। सूर्य के द्वारा देवों का पाप नष्ट हो गया था। जब सूर्य दक्षिणायन हो तो पितरों में होता है तथा पितरों की रक्षा करता है। अतः सूर्य की ऐसी दिशा में अग्न्याधान निषिद्ध है।[२] केवल सूर्य ही नहीं चन्द्रमा भी काल का अधिष्ठाता है। कई स्थानों पर काल–विवरण के प्रस्तुतीकरण में विरोधाभास भी द्रष्टव्य है। यथा–**'एष वै पूर्णमाः। यदएष तपति। अहरहर् ह्येवैष पूर्णोऽथ एष एव दशा यच्चन्द्रमा ददृश इव ह्येषः।'**[३] यह जो पिता है अर्थात् यही पूर्णमा है क्योंकि यह दिन–प्रतिदिन पूर्ण रहता है। जो चन्द्रमा है वह दर्श है क्योंकि वह केवल दिखाई सा देता है (अर्थात् उसका प्रकाश सूर्य से कम होता है) यह संकेत है। अन्यत्र कहा है यह जो चन्द्रमा है वह पूर्णमा है **'अथो इतरथाऽऽहुः। एष एव पूर्णमा यच्चन्द्रमाऽएतस्य त्वनुपूरणं पौर्णमासीत्याचक्षतेऽथैषऽ एव दर्शो यऽ एष तपति ददृशऽ इव ह्येषः'।**[४]

चन्द्रमा पूर्णमा है क्योंकि इसी का पूर्णरूप पौर्णमासी है और सूर्य दर्श है क्योंकि यह दिखाई देता है।

इस विवरण के आधार पर दर्श तथा पूर्णमास की इष्टियाँ सूर्य तथा चन्द्रमा से सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त शतपथ में पूर्णमा तथा अमावस से जुड़े हुए चार अन्य कालसंज्ञक शब्द भी हैं जो चार देवियों के नाम माने गये हैं : अनुमति, राका, सिनीवाली तथा कुहू। यास्क ने इन्हें चन्द्रमा के चार पक्षों का मानवीकृत रूप स्वीकार किया है।[५] अनुमति पूर्णिमा के पहले दिन के लिये प्रयुक्त हुआ है। शतपथ के अतिरिक्त ऐतरेय,

---

१. वही, २/१/४/६
२. वही, २/१/३/३–४
३. वही, ११/२/४/१
४. वही, ११/२/४/२
५. निरुक्त, ११/२१

गोपथ, तथा षड्विंश में भी इसका यह अर्थ है –'**निशाकरे कलाहीने सा अनुमतिः**'।[१] शतपथ में यह शब्द पृथिवी के पर्याय के लिये भी प्रयुक्त है– '**इयं वा अनुमतिः स यस्तत्कर्म शक्नोति कर्तुं यच्चिकीर्षति इयं हास्मै तदनुमन्यते**'।[२] दार्शनिक दृष्टि से देवों की अनुमति की भावना ही देवी अनुमति है।

राका पूर्णिमा के दिन को कहा गया है जब चाँद पूरा दिखाई देता है – '**पूर्णे निशाकरे सा राका**'।[३] सिनीवाली–अमावस्या से पहले दिन को कहा जाता है तथा कुहू अमावस्या के ही दिन के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक सन्दर्भ में अमावस्या को संवत्सर यज्ञ का द्वार भी कहा है तथा चन्द्रमा को द्वार की चटखनी – '**संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः। तस्यैतद् द्वारं यदमावस्या चन्द्रमा एव द्वारपिधानः**'।[४]

ये चारों शब्द (अनुमति–राका, सिनीवाली–कुहू) वैदिक काल के ही शब्द हैं। इन शब्दों का प्रयोग आजकल नहीं होता। आज पूर्णिमा ही प्रयोग में है न कि राका तथा अमावस ही प्रचलित है न कि कुहू।

शतपथ में काल का अधिष्ठाता नक्षत्रों को भी बताया है। नक्षत्रों का मनुष्य के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। काल तथा नक्षत्रों का परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। अग्न्याधान निरूपण में नक्षत्रों की विशेष व्याख्या की गई है। लिखा है पहले ये नक्षत्र बहुत से होते थे जिनमें सूर्य मुख्य था – '**नाना ह वा ऽ एतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः यथैवासौ सूर्यः**'।[५] जब सूर्य उदय हुआ तो उसने क्षत्र और वीर्य को ले लिया। (**एवं तेषामेष उद्यन्येव वीर्य क्षत्रमादत्त**) इसलिये उसको आदित्य कहते हैं क्योंकि वह उन नक्षत्रों के वीर्य और क्षत्र को ले लेता है – '**तस्मादादित्यो नाम यदेषां वीर्यं क्षत्रमादत्त**'।[६] देवों ने कहा 'जो अब तक क्षत्र अर्थात् शक्ति थे वे अब क्षत्र न रहेंगे इसलिये नक्षत्रों का नक्षत्रत्व है। अर्थात् पहले वे 'क्षत्र' थे अब देवों के कहने से क्षत्र नहीं रहे नक्षत्र = नक्षत्र हो गये।

'**तानि वै तानि क्षत्राण्यभूवन्न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं तस्मादु, सूर्य नक्षत्रऽ एव स्यादेष हयेषां वीर्यं क्षत्रमादत्त**।' अतः सूर्य को ही नक्षत्र मानना चाहिये क्योंकि उनका वीर्य सूर्य ने ले लिया। अग्न्याधान के लिये सूर्य को अच्छा नक्षत्र

---

१. ऐतरेय. ब्रा., ७/२, गोपथ ब्रा. २/१/१०., षड्विंश ब्रा. ५/६/४–६
२. श. ब्रा., ५/२/३/४
३. षड्विंश ब्रा., ५/६/६
४. श. ब्रा., ११/१/१/१
५. वही, २/१/२/१८
६. वही, २/१/२/१८

माना गया है

अनपराद्धं नक्षत्रं यत्सूर्यः।[१]

नक्षत्रों की गणना २७ कही गई है तथा उपनक्षत्रों की २७ । इनमें से कुछ सन्दर्भ शतपथ में इस प्रकार व्याख्यात हैंः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान कृत्तिका नक्षत्रों का है। उल्लेख है कि कृत्तिकायें पूर्व दिशा से च्युत नहीं होती थी जबकि सभी अन्य नक्षत्र च्युत हो जाते थे – **एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वाऽन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशो दिशश्च्यवन्ते।**[२]

कृत्तिका नक्षत्रों के पूर्व दिशा से विचलित न होने का सन्दर्भ वेदों के काल निर्णय को प्रमाणित करने में सहायक सिद्ध हुआ है।

कृत्तिकाओं को ऋक्षों की पत्नियाँ भी कहा जाता था। सात ऋषियों को पहले ऋक्ष कहते थे।[३] ये सप्तऋषि मंडल आज भी आकाश में दृष्टिगत होते हैं।

इसके अतिरिक्त शतपथ में रोहिणी नक्षत्र, मृगशीर्ष, पुनर्वसु, फाल्गुनी, हस्त, चित्र आदि नक्षत्र विशेष उल्लेखनीय हैं जिनका वर्णन अग्न्याधान के अन्तर्गत किया गया है। रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करने से मनुष्य सन्तान प्राप्ति करता है तथा पशुओं से समृद्ध होता है–[४] **'बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवम् रोहिण्यामाधत्ते।'** मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान करने से श्री की प्राप्ति होती है–

श्रियं गच्छति य एव विद्वान्मृगशीर्षेऽ आधत्ते।[५]

मृगशीर्ष नक्षत्र के अतिरिक्त पुनर्वसु नक्षत्र में भी पुनराधेय कर्म किया जाना चाहिये, ऐसा शतपथ में आदेश है **'पुनर्वस्वोः पुनराधेयमादधीतेति।'**[६]

फाल्गुनी जिसे ऋ ग्वेद (१०.८५.१३) तथा शतपथ (२.१.२.११) में अर्जुनी नक्षत्र भी कहा है, इन्द्र से सम्बन्द्ध नक्षत्र कहे गये हैं। इन्द्र का नाम अर्जुन भी है। इस नक्षत्र में भी अग्न्याधान आज्ञप्त है।[७]

---

१. वही, २/१/२/१६
२. वही, २/१/२/३
३. वही, २/१/२/४
४. वही, २/१/२/६
५. वही, २/१/२/८
६. वही, २/१/२/१०
७. वही, २/१/२/११

फाल्गुनीषु अग्नीऽआदधीत। एताव इन्द्रक्षत्रं फाल्गुन्यः।

हस्त नक्षत्र में भी अग्न्याधान का सन्दर्भ इसी ब्राह्मण का प्रतिपाद्य है। लिखा है: **हस्तेऽग्नीऽआदधीत।**[१] हस्तनक्षत्र में दान देने का भी बहुत महत्त्व है। लिखा है– **य इच्छेत प्र मे दीयेतेति।**[२] जो जिसकी इच्छा, हो उसे वही दिया जाये। 'हस्त' नक्षत्र का शब्दिक सम्बन्ध हाथ द्वारा दिये गये दान से जोड़ा गया है। इसके अतिरिक्त चित्रा नक्षत्र का सन्दर्भ विशेष आकर्षण है। इस नक्षत्र में अग्न्याधान करने का विधान है चिंत्रा नक्षत्र से सम्बद्ध एक रोचक आख्यान शतपथ में दिया गया है।[३] प्रजापति की सन्तान देव और असुर बड़ाई के लिये लड़ पड़े। दोनों ने चाहा कि उस (द्यौ) लोक को चढ़ जायें। जब असुरों ने रोहिण अग्नि को प्रज्वलित किया तब यह सोचकर किया कि इसके द्वारा हम उस लोक को चढ़ जायेंगे। इन्द्र ने सोचा यदि असुर इस अग्नि का आधान कर लेंगे तो हमको हरा देंगे। अब वह ब्राह्मण का भेष बनाकर एक ईंट लेकर वहाँ गया उसने कहा मैं भी उस ईंट को रख दूं। उन्होंने कहा 'अच्छा'। उसने वह ईंट रख दी। उनके अग्न्याधान में अब बहुत थोड़ी सी कसर रह गई थी। अब इन्द्र ने कहा, 'मैं इस ईंट को निकाले लेता हूँ। यह मेरी है।' उसने उसे पकड़ा और खींच लिया और अग्नि की वेदी गिर पड़ी। अग्नि के गिरने से असुर भी गिर पड़े।

उसने अब ईंटों को वज्र बना दिया और उनसे (असुरों के) गले काट डाले। तब देव इकट्ठे होकर बोले। हमने शत्रु मार डाले। यह तो विचित्र बात हुई इसलिये चित्र नक्षत्र का नक्षत्रत्व है– चित्रत्व है। (यह सब वार्ता उस समय की है जब चित्रा नक्षत्र था।) शतपथ में लिखा है– जो इस रहस्य को समझकर चित्रा नक्षत्र में अग्न्याधान करता है, वह विचित्र हो जाता है और अहितकारी शत्रुओं का नाश करता है।

चित्रं ह भवति हन्ति सपत्नान्हन्ति द्विषन्तं भातृव्यं य एवं विद्वान् चित्रायामाधत्ते। तस्मादेतत्क्षत्रिय एव नक्षत्रमुपेत।[४] अतः क्षत्रिय को अवश्य इस नक्षत्र में अग्न्याधान करने की इच्छा होनी चाहिये।

निष्कर्ष– शतपथ ब्राह्मण के आलोडन से काल के सन्दर्भ में जो चित्र चित्रित होता है, उसे निम्न बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है–

यद्यपि काल के कई नाम हैं यथा संवत्सर , मास, पक्ष, दिन–रात (अहोरात्र), मुहूर्त, क्षिप्र, एतर्हि, इन, अन, निमेष, लोमगर्त, प्रातः, मध्या अप‍ग , अमावस, पूर्णिमा,

१. वही,२/१/२/११
२. वही,२/१/२/१२
३. वही,२/१/२/१३–१७
४. वही,२/१/२/१७

अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू आदि जिनमें से कुछ जन भाषा में प्रचलित शब्द हैं तथा कुछ अप्रचलित, तथापि काल का तत्त्व काला है। अर्थात् काल रात्रि से अधिक जुड़ा है।

रात्रि काले रंग की प्रतीक मानी गई है, दिन श्वेत रंग का। इस निष्कर्ष का प्रमाण है यह सूक्ति,– **'यत्शुक्लं तदह्नो रूपम् यत्कृष्णं तद्रात्रः।'**

काल में 'क' शब्द प्रजापति का परिचायक है। यही कारण है कि काल को सबसे परे कहा है। काल ही से प्रजापति प्रादुर्भूत हुए।

काल में छिपा है काला रंग। काल कालेपन का प्रतीक है तो काला रंग अज्ञान का तथा श्वेत रंग ज्ञान का प्रतीक है। दिन देवों का है तो रात असुरों की। दिन उजाला है तो रात अन्धेरा। दिन सुख है तो रात दुःख । जब किसी के जीवन में दुःख आते हैं तो कहा जाता है जीवन अन्धकारमय हो गया है या जीवन में रात है। इसके विपरीत सुखी जीवन को प्रकाशमय कहा गया है। सुख–दुख, प्रकाश–अन्धकार, दिन–रात, ये सब काल के संपृक्त द्वन्द्व हैं। काल के ही चक्र में रात–दिन तथा संवत्सर बंधे हुए हैं। मास में भी रात–दिन हैं, पक्षों में भी, ऋतुओं में भी। संवत्सर में भी। भाव यह है कि रात दिन का द्वन्द्व ही काल का सार्वभौमिक, सार्वकालिक मापदण्ड है।

सार्वभौमिक कैसे? आज भारत मे इस समय दिन है तो अमेरिका में रात। जब यहाँ रात होगी तो वहाँ दिन, लेकिन दिन–रात तो सर्वत्र ही काल का मापदण्ड है, यह निर्विवाद तथ्य है।

सूर्य, चाँद, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु, आदि नवग्रहों के नाम तो शतपथ में आये हैं किन्तु सप्ताह के, दिनों के, नाम नहीं आये हैं।

---

१. श.ब्रा. १२/१/४/३

उपनिषद् वाङ्मय में कालतत्त्व

डॉ. वेदवती वैदिक

यह विविध वैचित्र्यमय सृष्टि कब, किस रूप में, कहां से आई, कौन निश्चित रूप से जानता है? "**को अद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः**[१] "**को ददर्श प्रथमं जायमानम्**"। परम सत्ता की जिज्ञासा में ऋषियों का मन अनादिकाल से समुत्सुक रहा है। "**किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता**'[२] द्वारा ऋषि श्वेताश्वतर जगद्वैचित्र्य के मूलभूत कारण और उसके स्वरूप के विषय में मीमांसा करते हुए विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करते हैं–

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः[३]।।

माण्डूक्योपनिषद्– कारिका में भी विभिन्न सृष्टिचिन्तकों में काल चिंतकों का संदर्भ उपलब्ध होता है।

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपमेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता।।
इच्छामात्रं प्रभो सृष्टिरिति स्रष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं, भूतानां मन्यन्ते कालचिंतकाः।।[४]

वाक्यपदीय में 'काल' को उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना गया। 'काल' इस लोकयन्त्र का सूत्रधार है–

उत्पत्तिं च स्थितौ चापि विनाशे चापि तद्वताम्।
निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मनास्थितम्।।
तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते।।[५]

---

१. ऋग्वेद, ८/१००/३
२. श्वेताश्वतरोपनिषद, १/१
३. वही, १/२
४. माण्डूक्योपनिषद्–कारिका १/६/७–८
५. वाक्यपदीय, ३/६३/४–७

न्याय–वैशेषिक में काल नौ द्रव्यों में से एक माना गया है; वह उत्पन्न हुए पदार्थों का निमित्तकारण है–

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।[1]

क्योंकि यही काल संपूर्ण जगत् का आश्रय है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब किसी समय में ही उत्पन्न होते हैं। 'यह घट इस समय है', इस प्रतीति का स्वरूप यह है कि घट का सूर्य की गति से संबंध है। क्योंकि सूर्य की गति ही काल की नियामक है। अतः जगत् का आधार काल है। दूसरे परत्व–अपरत्व बुद्धि का हेतु भी 'काल' है। जब किसी को छोटा या बड़ा कहा जाता है तो यह परत्व–अपरत्व ज्ञान भी 'काल' के कारण होता है। महाभारतकार के अनुसार मूर्तिमान् पदार्थों के उपचय और अपचय भी काल के कारण संभव होते हैं। **येन मूर्त्तिनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः।**[2] परन्तु श्वेताश्वतर ऋषि स्वभाव और कालादि को सृष्टि का कारण मानने वालों को मोहग्रस्त मानते हैं। **कालं तथा अन्ये परिमुह्यमानाः।**[3] क्योंकि परमतत्त्व की महिमा से ही यह सृष्टिचक्र प्रवर्तित होकर घूमता है। वह 'कालकार' है अर्थात् काल का भी कर्त्ता है। काल उस परमतत्त्व के अधीन है।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।[4]

वही काल से आत्मापर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठाता है।

यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।[5] यह परमतत्त्व कालातीत और कलाहीन है, वह अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों की सीमा का अतिक्रमण कर स्थित है। **परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।**[6] वह न केवल कालातीत है अपितु 'अकल' है। प्राण से लेकर नामपर्यन्त सोलह कलायें इसमें नहीं है। कलावान् पदार्थ ही तीनों कालों से परिच्छिन्न होने के कारण नष्ट होता है। परन्तु परमतत्त्व अकल है। इसीलिए कालत्रय से परिच्छिन्न न होने के कारण नष्ट नहीं होता है।

काल अक्षर तत्त्व की क्षर क्रिया है। यह समस्त भूत, भवत् और भविष्यत् के रूप में उपस्थित ओंकार स्वरूप अक्षर तत्त्व का ही उपव्याख्यान है।

---

१. कारिकावली, कारिका ४५
२. महाभाष्य, २/२/५
३. श्वे. उप., ६/१
४. वही, ६/२
५. वही, १/३
६. आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः। वही, ६/५

'ओमित्येकाक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव[१]। गीता में श्री कृष्ण ने स्वयं को अक्षय काल कहा है–"**अहमेवाक्षयः कालः**"।[२] अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में दिन–रात के, काल लोक के दीपक सूर्य और चन्द्रमा ऐसे स्थित रहते हैं जैसे राजा के प्रशासन में राज्य अखंड और नियमित रूप से रहता है। उस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में न केवल सूर्य और चन्द्रमा अपितु निमेष, मुहूर्त, दिन और रात, अर्धमास, मास, ऋतु और संवत्सर इत्यादि कालावयव, उत्पन्न होने वाले समस्त अतीत, अनागत पदार्थों की 'कलना' अर्थात् गणना करने वाले हैं।[३] जिस प्रकार समाज में स्वामी द्वारा नियुक्त गणक प्रमादशून्य होकर समस्त आय–व्यय की गणना करता है वैसे ही इन कालाव्ययों का नियन्ता अक्षर है।[४]

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप माने गए हैं– काल और अकाल "**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे-कालश्चाकालश्च**।"[५] आदित्य से पूर्व जो रूप है वह अकल अर्थात् कलाओं से रहित होने के कारण 'अकाल' अर्थात् कालातीत है परन्तु जो आदित्य से प्रारंभ होता है वह सकल कलाओं से युक्त होने के कारण 'काल' है। कलाओं से युक्त जो रूप है वह संवत्सर है। संवत्सर से ही यह प्रजा उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने पर संवत्सर से बढ़ती है और संवत्सर में ही लीन हो जाती है। संवत्सर ही प्रजापति है, काल है, ब्रह्मनीड है और आत्मा है।

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि।
यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित्।[६]

यह विग्रहवान् काल प्रजाओं का सिन्धुराज है इसमें जो स्थित है वही सविता नाम से जाना जाता है। इसमें से ही चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर और अन्य वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। अतः ब्रह्म ही आदित्य की आत्मा है। मनुष्य को आदित्य की कालसंज्ञा के रूप में उपासना करनी चाहिए।[७]

---

१. माण्डूक्योपनिषद्, १/१

२. श्रीमदभगवद्गीता. १०/३३

३. एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषमुहूर्ता अहोरात्राण्यधमासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति। बृहदारण्यकोपनिषद्. ३/८/६.

४. बृह० उप० शांकर भाष्य. ३/८/६.

५. द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे कालश्चाकालश्च । अथ य प्रागादित्यात् सोऽकलोऽकलः। अथ य आदित्याधः स कालः सकलः। सकलस्य वा एतद्रूपं सत् संवत्सरेणेह वै जाता विवर्धन्ते। संवत्सरे प्रत्यस्तं यन्ति तस्मात्संवत्सरो वै प्रजापतिः कालोऽन्नं ब्रह्मनीडं आत्मा च . . . .

६. मैत्रायणी उपनिषद्. ६/१५–१६

७. विग्रहवानेष कालः सिन्धुराजः प्रजानाम्। एष तत्स्थः सविताख्यः। यस्मादेवेमे चन्द्रर्क्षग्रहसंवत्सरादयः सूयन्ते। अथैभ्यः सर्वमिदम् . . . तस्मादादित्यात्मा ब्रह्म। अथकालसंज्ञमादित्यमुपासीत। वही, ६/१६

काल के वश में सब कुछ है। काल किसी के वश में नहीं है। काल संपूर्ण प्राणिवर्ग का सृजन करता है। काल सब भूतों की गति है। यदि कोई इसका अनुगमन करे तो कहां जाएगा? यदि कोई काल से भागना चाहता है या गतिहीन रहता है तो भी क्या अन्तर पड़ता है? यह इन्द्रियगम्य नहीं है। कोई इसे अग्नि कहता है, कोई प्रजापति, कोई ऋतु, कोई मास, कोई अर्धमास और कोई दिवस, कोई क्षण, कोई पूर्वाह्न, कोई अपराह्न, कोई मध्याह्न और कोई मुहूर्त। यह एक होते हुए भी अनेक रूप धारण करता है। परन्तु काल वह है जो किसी के वश में नहीं है। अपितु जिसके वश में सब हैं।[1]

संवत्सर रूप कालात्मा संपूर्ण उत्पन्न होने वालों का परिच्छेद करने वाला है। कालात्मा होने पर भी वह अमृत–स्वरूप अक्षर ब्रह्म का परिच्छेद करने में सक्षम नहीं है। संवत्सर चक्र अपने अवयवों यथा मास–दिन, अहोरात्रदि के द्वारा अक्षर ब्रह्म के नीचे चक्कर लगाता रहता है। वह आदित्यादि ज्योतियों का प्रकाशक है।[2]

'संवत्सरो वै प्रजापतिः''[3] अर्थात् संवत्सर रूप काल ही प्रजापति है। प्रजापति ने स्वयं प्राण तथा रयि[4] अर्थात् सूर्य तथा चन्द्रमा इस मिथुन–जोड़े का निर्माण किया।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं . . . . ।''[5] अत्यन्त प्राचीनकाल से भूमण्डल के निवासी सूर्य और चन्द्र के परिप्रेक्ष्य में काल की गणना

---

१. गतिं हि सर्वभूतानामगत्वा क्व गमिष्यसि।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते।
तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानुपश्यन्ति पञ्चधा।
आहुश्चैनं केचिदग्निं केचिदाहुः प्रजापतिम्।
ऋतुमासार्धमासांश्च दिवसांस्तु क्षणांस्तथा।।
पूर्वाह्नमपराह्नं च मध्याह्नमपि चापरे।
मुहूर्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा।।
तं कालमवजानीहि यस्य सर्वमिदं वशे। महाभारत, १२/२१७/५१–५३

२. यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्। बृह. उप. ४/४/१६
तथा–न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। मुण्डकोपनिषद्, २/२/१०.

३. प्रश्नोपनिषद्, १/६

४. वही, १/४

५. वही, १/५

करते रहे हैं। सूर्य और चन्द्र के गतिमान् रहने से वर्ष और दिन की गणना प्रारंभ हुई। कारण, संवत्सर वर्ष है। 'दक्षिणायन' और 'उत्तरायण' इसके दो अयन अर्थात् मार्ग हैं। उत्तरायण 'प्राण' अर्थात् देवयान है और दक्षिणायन 'रयि' अर्थात् पितृयान है।

इस कालाधिपति संवत्सर के पांच ऋतुएं ही पांच पाद हैं।[१] क्योंकि सूर्य की गति से इन पांच ऋतुओं की उत्पत्ति होती है। संपूर्ण ऋतुचक्र संवत्सर कहलाता है। इसीलिए संभवतः ऋतुओं के नाम पर संवत्सर के नाम प्रसिद्ध हुए। यथा **'जीवेम शरदः शतम्'। 'जीवेम शतं हिमाः'। पंच वा ऋतवः संवत्सरः।**[२] हेमन्त और शिशिर को मिलाकर एक ऋतु माना गया।[३] बारह मास ही काल के स्वामी सूर्य की बारह आकृतियां हैं।[४] काल की ये ही १२ कलायें हैं जिनमें सूर्य एक वर्ष के १२ महीनों में एक–एक करके १२ रूपों में प्रकट होता है। बारह मास ही १२ आदित्य हैं क्योंकि ये मास रूप आदित्य ही पुनः–पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों की आयु और कर्मफल का आदान अर्थात् ग्रहण करते हुए–चलते हैं। इसीलिए इन्हें आदित्य कहा जाता है।[५]

कालाधिपति सूर्य का रथ सात घोड़ों द्वारा खींचा जाता है।[६] सूर्य के ये सात घोड़े सूर्य की किरणों के साथ वर्ण (रंग) प्रकट करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वर्णक्रम अर्थात् रंगों के क्रमदर्शन की खोज सर्वप्रथम पौर्वात्य मनीषियों ने की थी। इस रथ के पहिए के छः अरे हैं। छः ऋतुएं ही छः अर हैं। यह रथ एक ही चक्र पर चलता है। पहिए के घूमने से उसके अरे भी एक के बाद एक घूमने लगते हैं। काल के इस रथ का पहिया विपरीत दिशा में नहीं घूमता इसका तात्पर्य यह है कि बीता हुआ काल लौटकर नहीं आता।

'मासो वै प्रजापतिः।[७]' अर्थात् मास ही प्रजापति है। पिप्पलाद ऋषि का मंतव्य है कि प्रजापति सृष्टि के आरम्भ में स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा के रूप

---

१. पञ्चपादं पितरं। वही, १/११
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण
३. द्वादश मासाः पंचर्तवो हेमन्तशिशिरयो समासेन। ऐतरेय ब्राः १/११
४. द्वादशाकृतिं दिवमाहुः। प्र० उप. १/११
५. कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदँ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदँ सर्वमाददाना इति। बृह. उप., ३/६/५.
६. अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति। प्रश्न. उप. १/११
७. मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणास्तस्मादेत ऋषयः शुक्लं इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्। वही, १/१२

में 'प्राण' तथा रयि का प्रतीक बना। इन दोनों के मिलन से संवत्सर बना। अतः प्रजापति को ही संवत्सर कह दिया गया। कारण, संवत्सर में भी स्रष्टा प्रजापति के मौलिक रूप प्राण तथा रयि, सूर्य तथा चन्द्र उत्तरायण और दक्षिणायन के रूप में मिलते हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि वर्ष के अंश मास को भी प्रजापति क्यों कह दिया गया? क्योंकि संवत्सर की भांति मास में भी प्रजापति सूर्य और चन्द्र दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। मास के कृष्णपक्ष में 'रयि' (चन्द्रमा) का प्रभुत्व रहता है और इसके विपरीत शुक्लपक्ष में प्राण (सूर्य) का आधिपत्य रहता है। अतः कारण अपने कार्य में 'सत्' रहता है।

"**अहोरात्रो वै प्रजापतिः**" ।[१] जैसे मास संवत्सर का अंश है उसी प्रकार अहोरात्र मास का अंश है। यह भी प्रजापति है। क्योंकि इसमें भी सूर्य और चन्द्रमा प्राण और रयि ये दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। दिन में सूर्यरूप प्राण की प्रधानता होती है और रात्रि में रयिरूप चन्द्रमा की। इन उपर्युक्त संदर्भो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्य अपने कारण में 'सत्' है और अभिन्न है। प्रजापति संवत्सर है और संवत्सर के कालावयव भी प्रजापति हैं। कारण, संवत्सर रूप प्रजापति के दो तत्त्व प्राण (सूर्य) और रयि (चन्द्रमा) सभी कालांशों में विद्यमान है। संवत्सर प्रजापति सत् है। वही कालावयवों का कारण है। कारण के गुण कार्य में विद्यमान रहते हैं। इसीलिए 'मास' और अहोरात्र भी प्रजापति हैं। छांदोग्योपनिषद् में भी इस तथ्य को प्रतिपादित किया है।

" सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमद्वितीयम्"[२]।

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं

विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।"[३]

यह संवत्सरात्मा कालरूप प्रजापति सोलह कलाओं से संपन्न है। अहोरात्र अर्थात् तिथियां ही इस कालरूप प्रजापति की सोलह कलायें हैं। इसकी सोलहवीं कला ध्रुवा है। यह संवत्सरात्मा इन तिथियों से पूर्ण और अपक्षीण होता है। शुक्लपक्ष में प्रतिपदा आदि तिथियों से बढ़ता है और तब तक बढ़ता है जब तक कि पूर्णमासी को पूर्ण मण्डलाकार न हो जाये। कृष्णपक्ष में यह क्षीण होती

---

१. अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणे रात्रिरेव रयिः प्राणं। वही, १/१३.

२. .छान्दोग्योपनिषद्, ६/२/१

३. वही, ६/१/४

हुई कलाओं से तब तक क्षीण होता रहता है जब तक कि अमावस्या में एक ध्रुवा कला शेष न रह जाये। यह कालस्वरूप प्रजापति अमावस्या की रात में अपनी ध्रुवा कला द्वारा समस्त प्राणिसमुदाय में अनुप्रविष्ट होकर विद्यमान रहता है और दूसंरे दिन द्वितीय कला से संयुक्त होकर पुनः उत्पन्न होता है।[1]

''**कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः**।''[2] काल को अश्व के रूप में चित्रित किया गया है। यह कालरूपी घोड़ा विश्वरूपी रथ को खींचता है। इसकी सात किरण हैं। सब भुवन इसके चक्र हैं। गतिमान् पदार्थों में अश्व के समान काल को उत्तम माना गया है।'' **गन्ता गतिमतां कालः**।''[3] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी अश्वमेध प्रकरण **उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः**'[4] से प्रारंभ होता है। ब्राह्ममुहूर्त का नाम उषा है। यह 'उषा' शब्द काल का स्मरण कराता है। इस मंत्र में अश्व के अवयवों में कालादि दृष्टि की कल्पना की गई है। अश्व का नाम प्रजापति है। '**ततोऽश्वनामा प्रजापतिः**'[5]। ''**एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मा**।'[6] अर्थात् यह जो सूर्य तपता है वह अपने प्रकाश से समस्त जगत् को प्रकाशित करता है। वही संवत्सर रूपी काल इसकी आत्मा है। ब्राह्ममुहूर्त रूपी उषा की गोद से सूर्योदय होता है। प्रजापति रूप संवत्सर बारह या तेरह मास का होता है। शंकराचार्य ने संवत्सर को तेरह मास का भी माना है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मलमास या अधिकमास की अवधारणा को मानते थे।

संवत्सरो द्वादशमासस्त्र्योदशमासो वा।[7]

इस संवत्सर रूप कालात्मा के अंग ऋतुएं हैं। मास और अर्धमास पर्व–संधियां हैं। दिन और रात प्रतिष्ठा हैं। सूर्य जो मध्याह्न में उदित होता है अर्थात् आकाश में ऊपर की ओर गमन करता है वही पूर्वार्ध है। मध्याह्न काल से अस्ताचलगामी

---

१. स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽपचक्षीयते सोऽमावस्याँरात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते। बृह. उप. १/५/१४–१५

२. अथर्ववेद, १६/५३/१

३. महा० शांतिपर्व, २२७/३५

४. बृह. उप., १/१

५. बृह. उप. शां. भां. १/२/७

६. वही, १/२/७

७. वही, १/१

सूर्य अपरार्ध है। नक्षत्र अस्थियाँ हैं। और नभ मांस है।[१] यह सूर्य रूपी अश्व वर्ष भर भ्रमण करता है और संवत्सर का अंत होना ही उसका मानो मेध हो जाता है यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है।[२] यही अश्वमेध की सूर्यरूपता है। सूर्य ही काल का कर्त्ता है। वही जीवन की प्राणमय सत्ता का महान् उत्स है। वही पार्थिव प्राणों का प्रसविता है।[३] वही प्रजातीय विकास की संरचना में प्रवृत्त होता है।

इस संवत्सर रूप प्रजापति के दो अयन हैं दक्षिणायन और उत्तरायण।[४] इन दो अयनों का उल्लेख यद्यपि ऋग्वेद और अन्य संहिताओं में उपलब्ध होता है। परन्तु उपनिषद् वाङ्मय में मृतात्मा की गति के संदर्भ में पाप और पुण्य से संयुक्त कर दिया गया। **'वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति।'**[५] अर्थात् मृत्यूपरांत इस लोक से प्रजा कहां जाती है? जैवलि इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते हैं कि मृत्यूपरांत आत्मा दक्षिणायण और उत्तरायण से गमन करती है। इन्हें ही क्रमशः पितृयान और देवयान भी कहा गया है। जो मृतात्मायें उत्तरायण से अर्थात् शुक्लमार्ग से गमन करती हैं वे अर्चि अर्थात् प्रकाश में जाते हैं। संभवतः इसीलिए मुमुक्षु की प्रबल कामना रहती है **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**। उत्तरायण का मार्ग ज्योतिर्मय है। ऊर्ध्वरेतस् वानप्रस्थी जो अरण्य में श्रद्धापूर्वक तप करते हैं वे प्राण–प्रयाण के अनन्तर शुक्लपक्ष अर्थात् उत्तरायण से गमन करते हैं। वे मूर्धन्य नाडी से ऊपर की ओर गमन करते हुए अमर हो जाते हैं। वे ज्योतिर्मार्ग से गमन करते हुए दिवसाभिमानी देवता को, दिन से शुक्लपक्ष में, फिर उत्तरायण के छःमासों में अर्थात् जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर दिशा की ओर चलता है उन षण्मासों को और तदुपरान्त संवत्सर को और संवत्सर से सूर्यमण्डल को, उससे चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् और वहां से ब्रह्मा के द्वारा मन से निर्मित कोई ब्रह्मलोकवासी मानस पुरुष आकर ब्रह्मलोक में ले जाता है। ब्रह्मलोक से उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। यही सर्वोत्तम गति है। यही उत्तरायण देवयान है। इस मार्ग से जाने वाले अपने अवयवी संवत्सर को प्राप्त होते हैं।[६]

---

१. उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः . . .। संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्रण्यस्थीनि नभो मांसानि। वही, १/१

२. ततोऽश्वः समभवद्यद श्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। वही, १/२/७

३. निरुक्त, दैवतकाण्ड ४/३/१

४. संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च वैतदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः। प्र० उप., १/१/६

५. छां. उप. ५/३/२

६. वही, ५/१०/१–२

दक्षिणायन–कृष्णायन–पितृयान से वे आत्माएं गमन करती हैं जो विद्यारहित इष्टापूर्तादि कर्मों का ही अनुष्ठान अपने जीवन में करती रहती हैं। वे प्रथमतः धूग में जाती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मृत शरीर का धूममार्ग का क्रम यह है कि वे धूम से रात्रि में , रात्रि से कृष्णपक्ष में, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के मासों में गमन करते हैं। अर्थात् जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिणायन से गमन करता हैं उन्हें प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। वे दक्षिणायन के महीनों से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। वहां पहुंचकर सोम के साथ मिल जाते हैं। अपने पुण्यों के अनुरूप वहां भोगकर पुनः पृथ्वी पर लौट आते हैं।[१]

यहां आपाततः प्रश्न उठता है कि चन्द्रलोक से लौटकर जीव किस मार्ग से पृथ्वी पर आता है। जैवलि इसका उत्तर पुनरावर्तन के क्रम का वर्णन करते हुए देते हैं कि वे जिस मार्ग से गए थे, उसी मार्ग से लौटते हैं।[२]

अशास्त्रीय प्रवृत्ति वाले जीव उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों से गमन नहीं करते। **'जायस्व म्रियस्व'**[३] अर्थात् उत्पन्न होओ और मरो यही उनकी गति है।

अंत में साररूप में यह कहा जा सकता है कि इस अनन्त विश्व की संरचना, इसके भुवनकोशों का विस्तार, मानवसहित इनका विपुल प्रजातीय विस्तार सब कुछ कालतत्त्व में समाहित है। यह कालात्म संवत्सर प्रजापति त्रिकालातीत, अकल अक्षर तत्त्व का ही उपव्याख्यान है जिसके वश में सब कुछ, सब कोई है; परन्तु जो किसी के वश में नहीं–

''तत्कालमिति जानीहि यस्यं सर्वमिदं वशे।''[४]

---

१. अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरमक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैतिमासाँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति।
मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं त देवा भक्षयन्ति। वही, ५/१०/३–४

२. वही, ५/१०/५–६

३. अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः। वही, ५/१०८

४. महा., १२/२३१–३२/५८

यास्कीय निरुक्त में कालावयवों की व्याख्या

डॉ. कृष्ण लाल

काल पर वेदों में बहुत सूक्ष्म संकेत प्राप्त होते हैं। किसी पदार्थ की कल्पना काल की परिधि से बाहर की ही नहीं जा सकती। अथर्ववेद में काल को प्रथम देव और सबका ईश्वर बताया गया है।[1]

यास्क के अनुसार काल वह शक्ति है जो सबको गति देती है। संसार में गति अथवा कर्म का मूलाधार काल ही है क्योंकि कोई भी गति या कर्म किसी काल में ही किया जाता है चाहे वह सूक्ष्म हो या व्यापक हो। यदि काल को मृत्यु का पर्याय मानें तो भी काल ही सब प्राणियों को क्षय की ओर ले जाता है। जैसे–जैसे समय बीतता है, प्राणी क्षीण होता जाता है और अन्ततोगत्वा मृत्यु को प्राप्त करता है।[2]

काल के प्रसङ्ग में द्यौः महत्त्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि अविच्छिन्न काल का विभाजन करने वाली मुख्य सूर्य और चन्द्ररूप शक्तियां द्यौः में ही सञ्चरण करती तथा प्रकाशित होती हैं। द्यौः की व्याख्या भी काल के प्रसङ्ग में अनावश्यक नहीं है। यास्क ने द्यौः का सम्बन्ध चमकने, द्युतिशील होने से माना है क्योंकि सब ग्रह–नक्षत्रों के प्रकाश से यह दीप्त होता है।[3] एक अन्य स्थल पर द्यौः की व्याख्या स्वः के निर्वचन के आधार पर की गई है। तदनुसार जिस प्रकार आदित्यार्थक स्वः सब रसों तक अथवा सब ज्योतिःपिण्डों के प्रकाश तक पहुंचता है, अथवा दीप्ति के द्वारा व्याप्त (सुऋत) होता है उसी प्रकार द्यौः भी सब

---

१. अथर्व, १९/५३/२; कालो ह सर्वस्येश्वरः। वही, १९/५३/८

२. कालः कलयतेर्गतिकर्मणः (नि. २/२५) दुर्ग
स हि कालः सर्वाण्येव भूतानि कालयति क्षयं नयतीत्यर्थः।

३. ते एव द्यावौ, द्योतनात्। नि. २/२९

४. स्वरादित्यो भवति। सुअरणः। स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषाम्। स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता। नि. २/१४

ज्योतिःपिण्डों का आश्रयस्थान होने के कारण उन विशेषताओं से युक्त है।[४] ज्योतिःपिण्ड, विशेषरूप से सूर्य और चन्द्रमा काल के नियामक और विभाजक हैं। उनका आश्रयस्थल होने के कारण द्यौः का भी काल से गहरा सम्बन्ध है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर रुद्र के प्रसङ्ग में उद्धृत एक मन्त्र से भी विद्युत् की दीप्ति से द्यौः के परिव्याप्त होने की पुष्टि की गई है।[१] यहां काल का द्यौः से सम्बन्ध तो अभिप्रेत नहीं, परन्तु द्यौः प्रकाश से व्याप्त है, यह स्पष्ट है।

द्युलोक में संस्थित ज्योतिःपिण्डों द्वारा विभाजित काल के कुछ सूक्ष्म अवयव ऐसे हैं जिन्हें किसी परिमाण के अन्तर्गत परिभाषित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के आशु और शु शब्दों को यास्क ने शीघ्रार्थक बताया है।[२] शीघ्र एक सापेक्ष धारणा है। भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में इसकी अवधि भिन्न हो सकती है। क्षिप्र की व्याख्या अन्यत्र 'संक्षिप्त' द्वारा 'विकर्ष' (खींचना) के विपरीतार्थ में की गई है।[३] विकर्ष (लम्बा खीचना) यदि दीर्घ काल का वाचक है तो क्षिप्र संक्षिप्त अथवा अल्पावधि में सिमटे हुए काल को द्योतित करता है। यहां क्षिप्र के मूल में क्षिप् धातु अभिप्रेत है। 'आदित्' शब्द की व्याख्या यास्क ने 'अथ' कहकर की है।[४] इसका अर्थ है तत्पश्चात् अथवा तदनन्तर अथवा शीघ्र या अधिक व्यवधान के बिना।

निमेष काल का पलक झपकने जितना सूक्ष्म अवयव है। अतः निरन्तरता की अभिव्यक्ति के लिये वेद में अनिमेषम् तथा अनिमिषा का प्रयोग हुआ है और यास्क ने इसकी व्याख्या अनिमिषन् अर्थात् 'पलक झपके बिना ' कह कर की है।[५] इसका भाव यह है कि जिस काल में कोई निर्दिष्ट कार्य हो रहा है उसमें पलक झपकने जितने सूक्ष्म काल का भी व्यवधान नहीं है।

इसी प्रकार 'पहले' अथवा 'पूर्व काल में' को किसी कालावधि से परिभाषित नहीं किया जा सकता। यास्क ने भी प्राचीन की व्याख्या केवल प्राक् (पहले) कहकर की है।[६] ऐसा ही एक शब्द 'प्रत्नथा' है जिसकी व्याख्या यास्क

---

१. या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि (ऋ.५/४/१३)
दिवस्परि दिवोऽधि। दिद्यद् द्यतेर्वा द्युतेर्वा द्योततेर्वा। नि. १०/७

२. नि. ६/१ –आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः। तु० आशवः क्षिप्रकारिणः। नि. ६/६

३. क्षिप्रं कस्मात्। संक्षिप्ते विकर्षः। नि. ३/६

४. नि. ७/१

५. नि. १०/२२

६. नि. २/२२

७. प्रत्न इव पूर्व इव। नि. ३/१६

८. प्रत्नः पुराणः। नि. १२/३३

ने 'पहले के समान' की है।[७] प्रत्न पुराना है।[८] यह कहना असम्भव है कि कितना पुराना। उसको परिभाषित नहीं किया जा सकता। सम्भवतया इसीलिये आत्मा या ब्रह्म की सर्वप्रथम विद्यमानता को बताने के लिये पुराण विशेषण का प्रयोग उपनिषदों में किया गया है।[१] ऋग्वेद में अग्नि को भी इसी अर्थ में प्रत्न कहा गया है।[२]

निमेष के समान ही लघुतम कालावयव मुहूर्त, मुहुः, क्षण का उल्लेख है। मुहूर्त की व्याख्या यास्क ने 'अव्यक्त ऋतु' की है।[३] दुर्गाचार्य के अनुसार यहां ऋतु शब्द बसन्तादि ऋतु का वाचक न होकर सामान्य कालमात्र का वाचक है क्योंकि उसका निर्वचन गत्यर्थक ऋ धातु से किया गया है।[४] यह काल की विशेषता है कि वह निरन्तर चलता रहता है। मुहूर्त के अवयव के रूप में मुहुः शब्द इतने लघु काल का द्योतक है जिसका पता ही नहीं चलता कि कब आया और कब चला गया।[५] इसकी व्याख्या 'अभीक्ष्णम्' कहकर भी की गई है और अभीक्ष्ण क्षण जितना है। अब प्रश्न यह है कि क्षण क्या है ? यास्क के अनुसार क्षण भी हिंसित काल है अर्थात् जिसके होने का अथवा आने जाने का ज्ञान ही नहीं हो पाता।[६] भाष्यकार मुकुन्द बख्शी झा के अनुसार यद्यपि क्ष्णु धातु का अर्थ पैना करना है, फिर भी धातुओं के अनेक अर्थ होने के कारण यहां इसका हिंसा अर्थ है। तदनुसार यह हिंसित अर्थात् नष्ट काल है– जिसका ज्ञान नहीं होता।[७] यह भी सम्भव है कि किसी वस्तु की पैनी धार से तुलना करके यास्क इस कालावयव की सूक्ष्मता बताना चाहते हैं। जिस प्रकार पैनी धार की मोटाई नापना कठिन है उसी प्रकार क्षण की अवधि नहीं नापी जा सकती।

दिन से प्रायः ये दो अर्थ लिये जाते हैं– एक तो रात्रि से भिन्न, सूर्य–प्रकाश–युक्त काल, दूसरी रात्रि और दिन मिलाकर बनने वाली प्रायः चौबीस घंटे की कालावधि। निरुक्त में इन दोनों ही प्रकार के 'दिन' की व्याख्या की गई है। दिन के सूर्य से प्रकाशित भाग के लिये द्यु शब्द के प्रयोग की सार्थकता बताने के लिये यास्क ने 'प्रकाशित होना'–अर्थक द्युत् धातु का निर्देश किया है।[८] इसी

---

१. गुहाहितं गहरेष्ठं पुराणम्। कठोप. १/२/१२
२. त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे प्रत्नं प्रत्नास ऊतये सहस्कृत। ऋ. ५/८/१
३. मुहूर्तो मुहुर्ऋतुः। नि. २/२५
४. ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः। नि. २/२५
५. मुहुर्मूढ इव कालः। नि. २/२५ – भाष्य–अव्यक्तः सन् झटिति गच्छति।
६. यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति। क्षणः क्षणोतेः। प्रक्ष्णुतः कालः। वही
७. यद्यपि क्ष्णुधातुस्तेजने वर्तते तथापीह हिंसार्थे प्रयुक्तोऽनेकार्थत्वाद् धातूनाम्। वही
८. द्युरित्यह्नो नामधेयम्। द्योतते इति सतः। नि. १/६

लगभग इससे अगला ही समय आकाश में अथवा क्षितिज से सूर्य के उद्गमन से पूर्व का समय भग का समय है।[१] इसी की व्याख्या आगे इस उद्धरण के द्वारा की है जिसमें कहा गया है कि भग अन्धा है अर्थात् भग सूर्य की अवस्था–विशेष है जिसमें उदय न होने के कारण वह दिखाई नहीं देता।[२]

अविश्नौ की यद्यपि अनेक व्याख्यायें हैं, तथापि वे कालावयव के रूप में भी व्याख्यात हैं। आधी रात से लेकर सूर्योदय द्वारा सब कुछ प्रकाशित होने तक का समय अश्विनौ का है।[३] वस्तुतः उनके द्विवचन में होने की सार्थकता इस बात में है कि प्रस्तुत काल–निर्देश के अनुसार उनमें अन्धकार और प्रकाश दोनों गुण विद्यमान हैं। अन्धकारावृत भाग मध्यम अर्थात् मध्यमस्थानीय अथवा अन्तरिक्ष है क्योंकि अन्धकार के आच्छादित होने का वही स्थान है। जो उनका प्रकाशित या प्रकाशमय भाग है वह आदित्य अथवा द्युस्थानीय है।[४] इसकी पुष्टि में यास्क ने एक मन्त्र उद्धृत किया है जिसके अनुसार अश्विनौ में से एक जो मध्यमस्थानीय है वह शोभनकाल का प्रेरक है और दूसरा आदित्य द्युलोक का पुत्र ले जाया जाता है या समझा जाता है।[५] इसी प्रसङ्ग में यास्क के द्वारा अश्विनौ की अलग–अलग स्तुति वाली आधी ऋचा उद्धृत की गई है जिसमें कहा गया है कि इन दोनों में से एक को रात्रि का पुत्र कहते हैं और दूसरा उषा का पुत्र अर्थात् सूर्य है।[६]

रात्रि की समाप्ति और सूर्य के पूर्ण रूप से प्रकट होने के मध्य की द्रुतगति से परिवर्तनशील अवस्थाओं की व्याख्या यास्क ने चार देवी–नामें से की है। ये देवीनाम सामान्य स्थूल दृष्टि से उषा के ही पर्यायवाची कहे जा सकते हैं। इनमें से सर्वप्रथम उषा को रात्रि का उत्तर काल अथवा उसकी समाप्ति के साथ ही आने वाला दूसरा (प्रकाशयुक्त) काल बताया गया है और उषा की व्याख्या उच्छ् (विवासार्थक) धातु से की गई है।[७] तदनुसार उषा वह है जो चमकती है, अन्धेरे को दूर करती है।[८] यहीं एक मन्त्र उद्धृत करके उषा के तीन महत्त्वपूर्ण

---

१. भगो व्याख्यातः, तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्। नि. १२/१३

२. अन्धो भगः (श. ब्रा. १/७/४/६) इत्याहुः। अनुत्सृप्तो न दृश्यते। नि. १२/१४

३. तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्, प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम्। नि. १२/१

४. अनुतमो भागो हि मध्यमः। ज्योतिर्भाग आदित्यः। नि. १२/१
दुर्ग–तावेतौ मध्यमोत्तमाविति मतमाचार्यस्य।

५. जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे। ऋ. १/१८१/४

६. वासात्यो अन्य उच्यत उषःपुत्रस्तवान्यः। नि. १२/२। विशेष– यद्यपि यास्क ने इसे 'अर्धर्च' कहा है, परन्तु यह किसी उपलब्ध संहिता में नहीं है।

७. उषाः कस्मात्, उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपरः कालः। नि. २/१८

८. पं० चारुदेव शास्त्री ने वैदिक प्रयोगों के आधार पर उच्छ् का 'चमकना' अर्थ ही विवासन में माना है। द्र. व्याकरणचन्द्रोदय, खं. ३, पृ. ५२

विशेषणों रुशद्वत्सा, रुशती और श्वेत्या का संकेत किया गया है।[1] रुशद्वत्सा उषा इसलिये हैं क्योंकि उसका सूर्यरूपी बछड़ा दीप्ति से युक्त है। वह रुशती है, दीप्ति वाली है। वह श्वेत्या है अर्थात् श्वेत या चमकदार वर्ण वाली है। एक अन्य स्थल पर उषा की व्याख्या-इच्छार्थक वश् धातु से की गई है।[2] अभिप्राय यह है कि उषा सबकी अभीष्ट है क्योंकि वह अन्धकार दूर करती है और अपने सुखद प्रकाश द्वारा निराशा मिटाकर आशा का सञ्चार करती है।

एक उषा ही सम्मानार्थ में बहुवचन में अभिष्टुत होती है। बहुवचन में एक मन्त्र में उषाओं को दीप्तियुक्त गौएं, मातायें कहा गया है।[3] गौएं इसलिये हैं क्योंकि उषायें गतिशील हैं अर्थात् अधिक देर रुकती नहीं हैं। वे मातायें हैं क्योंकि प्रकाश का निर्माण करती हैं।[4]

जब उषा को प्रकट हुए पर्याप्त समय हो जाता है और प्रकाश बढ़ जाता है तो उसका नाम सूर्या होता है। सूर्या सूर्य की पत्नी है अर्थात् पत्नी के समान अधिक निकट है।[5]

सूर्या की स्थिति को जब पर्याप्त समय हो जाता है तो प्रातःकाल के उस रूप का नाम वृषाकपायी है। वह वृषाकपि की पत्नी है।[6] वृषाकपि से सूर्य ही अभिप्रेत है सम्भवतया इसलिये क्योंकि वह वृषभ या वृषभ समान बलिष्ठ और वर्षा करने वाला तथा गतिशील और कपिवर्ण का है।

सरण्यू उषा की वह अवस्था है जिसमें वह सरकती है या गति करती है अर्थात् स्पष्ट रूप से सूर्याभिमुख जाती हुई दिखाई देती है।[7] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इसके तुरन्त पश्चात् सूर्य प्रकट हो जाता है।

यद्यपि यास्क द्वारा दिये गये यम के निर्वचन (नियमन करने वाला)[8] से उसका काल होना स्पष्ट है, तथापि दूसरे स्थल पर दुर्गाचार्य के अनुसर यम

---

१. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः। ऋ. १/११३/२
२. उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः। नि. १२/५
३. एता उ त्या उषसः--- गावो अरुषीर्यन्ति मातरः। ऋ. १/९२/१
४. एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्। --- गावो गमनात्। अरुषीरारोचनात्। मातरो भासो निर्मात्र्यः। नि. १२/७
५. सूर्या सूर्यस्य पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा। नि. १२/७
६. वृषाकपायी। वृषाकपेः पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा। नि. १२/८
७. सरण्यूः, सरणात्। नि. १२/९
८. यमः, यच्छतीति सतः। नि. १०/१९

से सायंकाल का अस्तंगामी सूर्य अभिप्रेत है क्योंकि वह मनुष्य की दैनिक क्रियाओं को विराम देता है।[1] वह स्वयं भी मानो उस दिन सन्ध्या समय में प्रकाश देने से विरत होता है।

रात्रि और उषा के निकट संयोग के कारण उनका उल्लेख द्वन्द्व समास में उषासानक्ता के रूप में हुआ है।[2] इस समस्त पद की व्याख्या करते हुए यास्क रात्रिवाचक नक्ता के विषय में बताते हैं कि वह नक्ता इसलिये कहलाती है क्योंकि वह प्राणियों को ओस से लीप देती है (गीला कर देती है) अथवा वह न अक्ता अर्थात् अव्यक्त वर्ण वाली है क्योंकि अन्धेरे के कारण रात का कोई वर्ण स्पष्ट नहीं होता।[3]

रात्रि और नक्ता परस्पर पर्यायवाची हैं। यास्क के अनुसार रात्रि के इस नाम का कारण यह है कि वह रात्रि को जागकर विचरण करने वाले जन्तुओं को आनन्दित करती है। दूसरी ओर इसी धातु से उप उपसर्ग पूर्वक इसके इस नाम का कारण यह भी है कि दूसरे अर्थात् जो रात्रि में विचरण नहीं करते उन प्राणियों को यह विरत करती है अर्थात् विश्राम दिलाती है अथवा उन्हें सोने को प्रेरित करती है। एक और व्याख्या के अनुसार रात्रि के मूल में दानार्थक रा धातु है क्योंकि रात्रि को ही ओस के कण दिये जाते हैं।[4] तीनों ही निर्वचनों में सूर्य या प्रकाश का अभाव स्पष्ट है।

रात्रि से सम्बद्ध तमः शब्द की व्याख्या में यास्क ने बताया है कि तमः मूल रूप में तनः है क्योंकि वह सर्वत्र फैल जाता है।[5] तमः को अन्धः भी कहा जाता है क्योंकि न तो उसमें किसी स्थूल पदार्थ का ध्यान होता है और नही कोई पदार्थ दिखाई देता है।[6]

पूर्ण अन्धकार से युक्त रात्रि का नाम सिनीवाली और कुहू है। इन दोनों में अन्तर यह है कि सिनीवाली पहली अमावास्या है और दूसरी अथवा अगली

---

१. यमः आदित्यः अस्तमयावस्थः। यच्छत्युपरमति इति यमः (यम उपरमे)। नि. १२/२९ पर दुर्ग–भाष्य।
२. ऋ. १०/११०/६
३. नक्ता इति रात्रिनाम। अनक्ति भूतान्यवश्यायेन। अपिवाऽनक्ताऽव्यक्तवर्णा। नि. ८/१०
४. रात्रिः कस्मात्। प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि। उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति। रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः, प्रदीयन्ते ऽस्यामवश्यायाः। नि. २/१८
५. तमस्तनोतेः। नि. २/१६
६. तमोऽप्यन्ध उच्यते। नास्मिन् ध्यानं भवति न दर्शनम्। नि. ५/१

रात भी चन्द्रमा दिखाई नहीं देता, कुहू है।[1] वास्तव में अमावस्या की पहली रात्रि में चन्द्रमा की कला सूक्ष्म रूप में दिखाई देती है जो कि दो प्रहर के पश्चात् पूर्ण रूप से अदृश्य होने लगती है और अगली रात्रि को चन्द्रमा पूर्ण–अदृश्य हो जाता है।[2]

सिनीवाली का निर्वचन करते हुए यास्क ने बताया है कि यह शब्द सिनी और वाली, इन दो शब्दों से मिलकर बना है। सिनी में भी मूल शब्द सिन है, जिसका अर्थ अन्न है क्योंकि वह प्राणियों को बांधता है। अभिप्राय यह है कि त्वचा, रक्त, मांस, चर्बी, अस्थियां, मज्जा तथा शुक्र रूप धातुओं के द्वारा अन्न उन प्राणियों को उनके रूप में बांधता है।[3] अथवा सब प्राणियों में समान रूप से ये तत्त्व उत्पन्न कर उन्हें एक समान सूत्र में बांधता है। अन्न से युक्त होने के कारण पूर्वा अमावास्या सिनी है क्योंकि कृषिशास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा की किरणों से, विशेष रूप से अन्तिम कला में अन्न का गर्भ होता है अर्थात् अन्न का पौधा फलयुक्त होता है।[4] शब्द का दूसरा अंग (वाली) मूल में पर्व अर्थ वाला वाल शब्द है। उसके आधार पर वरण करना अर्थ वाला वृ धातु है क्योंकि इस दिन देवता दर्श यज्ञ में अर्पित आहुतियों का वरण करते हैं। इस प्रसङ्ग में यास्क द्वारा निर्दिष्ट वृणोति (वृञ् आवरणे) का यह अभिप्राय भी हो सकता है कि इस पर्व अथवा तिथि को मानो पक्ष की पूर्व तिथियां आच्छादित की जाती हैं अथवा यह तिथि अपने में उन सबको समेट लेती है। वाली एक और प्रकार से वालिनी द्वारा भी व्याख्यात है। इसके मूल में वाल या बाल शब्द है। भाव यह है कि इस तिथि को चन्द्रमा की कला बाल जैसी सूक्ष्म होती है जिसे यत्नपूर्वक ही देखा जा सकता है।[5]

कुहू में तो चन्द्रमा पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। इसीलिये यास्क ने इसका निर्वचन गूह् धातु से किया है क्योंकि मानो वह अमावास्या चन्द्रमा को छिपा देती है। अथवा इसी तथ्य को लेकर प्रश्न द्वारा निर्वचन किया है कि वह

---

१. या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः। इति विज्ञायते।
नि. ११/३१ (द्र. मै. सं. ४/३/५; ऐ. ब्रा. ३२/६)

२. तु. सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुहूः।। अमर, १/७/२३२

३. अन्नं हि रसात्मना परिणममानं त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्र
रूपसप्त धातुभावेन क्रमेण निष्पद्यते। नि. ११/३२ पर दुर्ग

४. चन्द्रसद्भावे हि तद्रश्मिसम्बन्धादन्नानां गर्भसम्भव उक्तः कृषिविद्यायां
स च विशेषतोऽस्याम्। वही

५. सिनमन्नं भवति, सिनाति भूतानि, वालं पर्व, वृणोतेस्तस्मिन्नवती। बालिनी वा।
वालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमसः सेवितव्यो भवतीति वा। नि. ११/३१

चन्द्रमा इस तिथि को कहां था ? स्पष्ट ही प्रथम निर्वचन में गूह् के ग को क होकर कुहू सिद्ध होगा और द्वितीय निर्वचन में क्व के व का सम्प्रसारण होकर तथा ह का आगम होकर कुहू बनेगा। एक अन्य निर्वचन के अनुसार प्रश्न किया गया है कि यह कुहू इसलिये कुहू है क्योंकि कहां होती हुई यह बुलाई जाती है ? अर्थात् कुहू में कुछ भी दिखाई नहीं देता। यहां भी क्व में व का सम्प्रसारण और हु धातु से हू प्राप्त होता है। इसकी अदृश्यता को लक्ष्य कर एक और प्रश्न है कि कहां अर्पित आहुति को यह प्राप्त करती है ?[१] जब इसका कोई रूप दिखाई ही नहीं देता तो इसको आहुति कहां अर्पित की जाती है और कहां यह उसे ग्रहण करती हैं इन सब निर्वचनों में चन्द्रमा की अदृश्यता और पूर्ण अन्धकार द्योतित है।

अमावास्या के समान ही पौर्णमासी के भी दो रूप हैं। पूर्व पौर्णमासी अनुमति है और उत्तरा का नाम राका है।[२] पूर्व पौर्णमासी पर चन्द्रमा की एक कला–न्यून होती है जिसके अगले दिन बढ़ जाने पर उत्तर पौर्णमासी को चन्द्रमा पूर्णकलासम्पन्न हो जाता है।[३] इन ही दो अनुमति का निर्वचन यास्क ने अनुमनन से किया है अर्थात् क्योंकि ऋषियों और देवों के द्वारा यह चतुर्दशी तिथि में ही पूर्णिमा के रूप में मान ली गई है इसलिये इसे अनुमति कहते हैं।[४]

राका के मूल में रा (दाने) धातु है क्योंकि इसी दिन मासिक पौर्णमास यज्ञ में आहुतियों के रूप में दान दिया जाता है।[५]

इस प्रकार दोनों शुक्ल और कृष्ण पक्षों से मिलकर मास बनता है। मास के मूल में मा धातु है क्योंकि मासों के द्वारा ही वर्ष को मापा जाता है। अथवा इसी अर्थ में मस् धातु से भी निर्वचन सम्भव है। यास्क ने मास में माप अर्थ को ही प्रमुख माना है।[६]

---

१. कुहूर्गूहतेः, क्वाभूदिति वा, क्व सती हूयत इति वा, क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। नि. ११/३२
२. या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः, या उत्तरा सा राका। नि. ११/२६
(द्र. मै. सं. ४/३/५; ऐ. ब्रा. ३२/६) इति विज्ञायते।
३. कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे। अमर. १/७/२३०
४. अनुमतिरनुमननात्। ११/२६, दुर्ग– अनुमता किलेयमृषिभिर्देवैश्च चतुर्दशके पक्षेऽस्त्वियं पौर्णमासीति।
५. राका रातेर्दानकर्मणः। नि. ११/३०, दुर्ग –हविर्दाननिमित्तं हि सा भवति। यहां दानार्थक रा धातु का यह अभिप्राय भी प्रतीत होता है कि रात्रि को बहुत प्रकाश देती है।
६. मासा मानात्। नि. ४/२७

मासों का निर्माण करने वाला मुख्य कारण चन्द्रमा है। ऋ. के एक मन्त्र में[१] उसे वृक नाम से मासों का बनाने वाला कहा गया है। इसकी व्याख्या में यास्क ने स्पष्ट किया है कि यह मासकृत् इसलिये है क्योंकि यह अर्धमासों या पक्षों को बनाता है और दो पक्षों से मिल कर एक मास बनता है।[२] वृक शब्द में यास्क ने वृ और क इन दो अवयवों की तीन–चार व्याख्यायें की हैं। इन सब में क अंश में तो अविकल रूप से 'ज्योतिष्क' (ज्योति–प्रकाश वाला) का ही अन्त्य क ग्रहण किया गया है। वृ अंश को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त वि उपसर्ग का विकार बताया गया है। तदनुसार चन्द्रमा विवृत अर्थात् खुले, सुव्यक्त प्रकाश वाला होता है। इसकी एक एक कला का घटना बढ़ना इतना सुव्यक्त होता है कि उससे पक्ष की एक एक तिथि को मापना सुगम होता है। इसकी ज्योति विकृत भी होती है और अविकृत (स्कन्द०) भी। विकृत की व्याख्या दो प्रकार सम्भव है। ज्योति का सामान्य लक्षण है उष्णता। उसके विपरीत इसकी ज्योति शीतल है। अथवा एक जैसी न रहने और ह्रासवृद्धि से युक्त होने के कारण इसका प्रकाश विकृत होता है। अथवा अविकृत प्रकाश वाला है क्योंकि इसका प्रकाश सदैव शीतल या एकरस रहता है। यह विक्रान्त ज्योति वाला भी हैं अर्थात् रात्रि को अन्य सब ग्रह नक्षत्रों के प्रकाश का उल्लङ्घन करके यह सबसे अधिक दीप्तिमान् दिखता है।[३]

एक मन्त्र में चन्द्रमा के पर्यायवाची सोम को वर्षों के मासों का निर्माणकर्ता बताया गया है।[४] इसी मन्त्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में यास्क ने चन्द्रमा की निरुक्ति में भी चन्द्रमा को (मासों का) माता या निर्माता बताया है। चन्द्र और चन्द्रमा में अभेद है क्योंकि दोनों का माप एक ही है।[५] चन्द्रमा के मासों के निर्माण करने वाले गुण की पुष्टि में एक और मन्त्रोद्धरण[६] कर यास्क ने उसके नये होने के उल्लेख को पूर्वपक्ष अर्थात् शुक्ल पक्ष का संकेत तथा "दिन का चिह्न उषाओं के आगे आता है" को उत्तर पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष के अन्त का संकेत माना है। इस पाद की जो आदित्यदेवतापरक व्याख्या की है तदनुसार उषा के आगमन से

---

१. अरुणो मासकृद्वृकः। ऋ. १/१०५/१८
२. मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्त्ता भवति। नि. ५/२१
३. वृकश्चन्द्रमा भवति। विवृतज्योतिष्को वा। विकृतज्योतिष्को वा।
विक्रान्तज्योतिष्को वा। नि. ५/२०
४. वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः। ऋ. १०/८५/५
५. चन्द्रमाः चायन् द्रमति। चन्द्रो माता। चान्द्रं मानमस्येति वा। नि. ११/६
६. नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यमग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्
प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः। ऋ. १०/८५/१६

पूर्व चन्द्रमा ही रात्रि की समाप्ति पर दिन का चिन्ह होता है। उस स्थिति में सूर्य से उसका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। "चन्द्रमा आता हुआ देवों के भाग का विधान करता है"– इस पाद में दर्श–पौर्णमास यज्ञों में देवों को अर्पित की जाने वाली आहुतियों के माध्यम से भी अप्रत्यक्ष रूप में चन्द्रमा द्वारा पक्षों और मासों के निर्माण का उल्लेख है।[१]

मासों से मिलकर ऋतुएं बनती हैं। परन्तु यास्क द्वारा दिये गये ऋतु के निर्वचन से प्रतीत होता है कि उसकी दृष्टि में ऋतु सामान्य कालवाचक है क्योंकि वह गतिशील रहता है।[२] ऋतुधा की 'काले काले' व्याख्या द्वारा भी इसी मत की पुष्टि होती है।[३]

फिर भी विभिन्न प्रसङ्गों में यास्क ने शिशिर, ग्रीष्म, हेमन्त, हिम, शरद् और वर्षा नामों से छह ऋतुओं की व्याख्या की है। निरुक्त में सर्वप्रथम शिशिर का निर्वचन आया है। तदनुसार यह हिंसार्थक शृ अथवा शम् धातु से निष्पन्न है[४] क्योंकि इस ऋतु में वनस्पतियों के पत्ते सूख कर नष्ट होते अथवा झड़ते हैं। दूसरी ओर शिशिर शब्द वाला जो मंत्रांश उद्धृत किया गया है[५] उसमें शिशिर को जीवनप्रद बताया है। तदनुसार शम् (हिंसार्थक) से संगति इस अर्थ में होती है कि वह शीतजन्य दुःखों की हिंसा करके जीवन देता है। अथवा इस ऋतु में बहुत जाज्वल्यमान दावाग्नि सूखे औषधि–वनस्पतियों को जला देता है।[६]

शरद् का प्रयोग वर्ष के अर्थ में भी होता है और इस नाम की ऋतु के अर्थ में भी। वस्तुतः सभी ऋतुएं अपने क्रम से एक–एक वर्ष के पश्चात् पुनः आती हैं। इसलिये वर्ष के अर्थ में किसी ऋतु का प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है। यास्क ने शरद् की व्याख्या ऋतु–विशेष के अर्थ में ही की है। तदनुसार शरद् के मूल में पकना अर्थ वाली श्रा धातु मानकर बताया गया है कि शरद् का यह नाम इसलिये है क्योंकि इसमें व्रीहि (धान) आदि ओषधियां पकती हैं। एक और

---

१. नवो नवो भवति जायमानः इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य। अहां केतुरुषसामेत्यग्रम् इत्यपरमक्षान्तमभिप्रेत्य। आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके। भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् इत्यर्धमासेज्यामभिप्रेत्य। नि. ११/६

२. ऋतुरर्तेगति कर्मणः। नि. २/२५. दुर्ग – कालसामान्यलक्षण ऋतुः।

३. नि. ८/१७; १२/२७

४. शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा। नि. १/११

५. शिशिरं जीवनाय कम्। (वर्तमान संहिताओं में अनुपलब्ध)

६. हिनस्ति तस्मिन् कालेऽप्रतिबध्यमानो दवाग्निरतिशयेन शुष्कानोषधिवनस्पतीन्। मुकुन्दबख्शी झा।

निर्वचन शृ (क्षीण होना अर्थ वाली) धातु से बनाया है क्योंकि इसमें नदी–तडाग आदि का जल क्षीण होता है।[१]

एक मन्त्र (ऋ. १.१६४.२) में जहां तीन नाभियों वाले चक्र का उल्लेख है, वहां उसकी व्याख्या में यास्क ने चक्र को संवत्सर बताया है और तीन नाभियों को तीन प्रमुख ऋतुएं।[२] इनमें से क्रमशः एक एक ऋतु की व्याख्या में ग्रीष्म के विषय में यास्क का कहना है कि इसमें रस ग्रसे जाते हैं अर्थात् क्षीण होते हैं क्योंकि सूर्य की किरणों की प्रचण्डता उन्हें सुखाती है। वर्षा में पर्जन्य वर्षा करता है। हेमन्त का यह नाम हिमवान् अथवा शीत से युक्त होने के कारण है। हिम का निर्वचन एक तो हन् धातु से किया गया है क्योंकि यह ऋतु ओषधि–वनस्पतियों को (पाने या तुषार से) आहत करती है। दूसरी ओर इसका निर्वचन वृद्ध्यर्थक हि धातु से भी किया गया है क्योंकि इस ऋृतु में जौ आदि अन्न वृद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुष्ट होते हैं, उनकी वितों में लगी हुई श्रेणियां पुष्ट होती हैं।[३] हि धातु गत्यर्थक भी है। तदनुसार अर्थ होगा कि वह प्राणियों को क्षीणता की ओर ले जाता है।[४]

ये तीन ऋतुएं स्पष्टतया विभेद्या होने के कारण मुख्य हैं। यास्क ने दो मन्त्रांशों के आधार पर पांच और छह ऋतुओं का भी उल्लेख किया है।[५]

इसी प्रसङ्ग में संवत्सर की व्याख्या भी द्रष्टव्य है। यास्क के अनुसार वर्ष का नाम संवत्सर इसलिये है क्योंकि इसमें प्राणी निवास करते हैं।[६] जो भी प्राणी इस संसार में हैं उन्हें काल के अन्तर्गत ही रहना होता है। वर्ष काल का स्थूल स्पष्ट परिमाप है। एक अन्य स्थल पर एक मन्त्र में वर्ष की आकृति मासों को बताया गया है अर्थात् निश्चित बारह मासों की अवधि पूर्ण होने पर एक वर्ष हो जाता है।[७]

---

१. शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति। शीर्णा आप इति वा। नि. ४/२५

२. त्रिनाभि चक्रम्– ऋृतुः संवत्सरः, ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति। नि. ४/२७

३. ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः, वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा। नि. ४/२७

४. हि गतौ वृद्धौ च। वृद्धिरत्र पुष्टिः, तेन हि पुष्यन्ति यवादयः। गत्यर्थयोर्वोभयोः। तद्धि गमयति क्षयं भूतानि। मुकुन्दबख्शी झा

५. पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने (ऋ. १/१६४/१३)–या.– पञ्चर्तुतया। नि. ४/२७ षडर आहुरर्पितम् (ऋ. १/१६४/१२) –या. –इति षड्तुतया। वही

६ संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। नि. ४/२७

७. समानां मास आकृतिः (ऋ. १०/८५/५) कहीं यास्क ने समा के मास के वर्णविपर्यय होने का अप्रत्यक्ष संकेत तो नहीं किया ? तु. द्वादशारं न हि तज्जराय (ऋ. १/१६४/११); द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् (ऋ. १/१६४/४८)
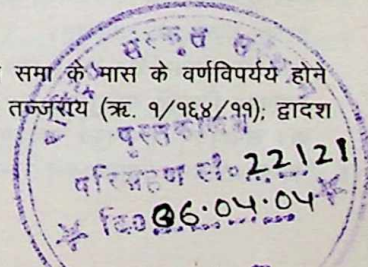
यास्क ने वर्ष के सम्मिलित दिन–रात तीन सौ साठ और अलग अलग सात सौ बीस दिन और रात बताये हैं।[1] ऋग्वेद के एक मन्त्र में जहां वर्ष के चक्र के तीन सौ साठ सदा गतिशील कीलों का उल्लेख है वहां गोपथ ब्राह्मण का उद्धरण देकर उन्हें सम्मिलित दिन–रात बताया है।[2] एक अन्य मन्त्र में जहां सात सौ बीस के स्थित होने का उल्लेख है वहां ऐतरेय ब्राह्मण का उद्धरण देकर उन्हें अलग अलग दिन और रात बताया है।[3]

कालावयवों की व्याख्या के प्रसंग में उनके प्रमुख निर्माता सूर्य की व्याख्या अप्रासंगिक नहीं है। यास्क ने सूर्य की व्याख्या अनेक रूपों में अनेक पर्यायवाची नामों द्वारा भिन्न–भिन्न प्रकार से की है। उनसे सूर्य के भिन्न कार्य और रूप स्पष्ट होते हैं। सूर्य एक चक्ररूप है जो निरन्तर चलता रहता है। उस एक चक्र वाले रथ को सात किरणरूपी घोड़े जोड़ते हैं अर्थात् उसमें जुत कर उसे चलाते हैं। वस्तुतः यह विचित्र रथ है जिसका अश्वों से अभेद है। वह स्वयं भी एक सप्तनामा अश्व है। सप्तनामा से उसकी सुषुम्णा, हरिकेश आदि सात प्रमुख किरणें अभिप्रत हैं जो सब ओर से इसके लिये रसों को झुकाती अर्थात् प्रेरित करती हैं।[4] एक अन्य स्थल पर सबके रक्षक और पालक सूर्य के सात पुत्रों का उल्लेख है। यास्क के अनुसार ये सात पुत्र सूर्य की सात प्रकार की किरणें हैं। सप्त का अर्थ सर्पणशील या गतिशील भी हो सकता है।[5] प्रकाश की किरणों की तीव्र गति से हम परिचित हैं। वैज्ञानिक दूरस्थ नक्षत्रों की दूरी प्रकाश वर्षों से मापते हैं।

यास्क ने स्वः को भी सूर्य बताया है और उसका आधार बताया है उसकी शोभन गति को। वह अपनी कक्षा में घूमता है। वास्तव में उसके घूमने या गति करने का क्षेत्र अति विस्तृत है। इसलिये सामान्य मानव दृष्टि से उसका पता नहीं चलता है। सूर्य गतिशील है– ऐसा अनेक वैज्ञानिक भी मानते हैं। नक्षत्रों की गति का ज्ञान पुराणों में भी सुरक्षित है।[6] यास्क ने सूर्य की गति को उसके

---

१. षष्टिश्च वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः। गो. ब्रा. १/५/५ इति च ब्राह्मणं समासेन। सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः। (ऐ. ब्रा. २/१७) इति च ब्राह्मणं विभागेन। नि. ४/२७

२. तस्मिन्त्साकं त्रिशता शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः। ऋ. १/१६४/४८

३. सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः। ऋ. १/१६४/११

४. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। ऋ. १/१६४/२
यास्क–एकचक्रमेकचारिणम्। एको अश्वो वहति सप्तनामादित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति। नि. ४/२७

५. अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्। ऋ. १/१६४/१, यास्क–विश्पतिं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा। सप्तपुत्रम्–सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा। सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति। नि. ४/२६

६. निरुक्तशास्त्रम्। (व्याख्याकार पं भगवद्दत्त) पृ. १०८–९, द्र. हिन्दी विश्वकोश, खं. १२, पृ.१७०

प्रकाश, उष्णता और किरणों की गति बताया है जिसके द्वारा रसों तक (वाष्पीकरण के लिये) पहुंचता है तथा अन्य ज्योतियों (ग्रहों) के प्रकाश तक पहुंचता है अर्थात् उन्हें प्रकाश देता है। वह स्वयं भी प्रकाश के द्वारा प्राप्त है।[1] प्रकाश की यह गति ही काल के ज्ञान में सहायक होती है। आदित्य के निर्वचन के प्रसंग में भी यास्क ने प्रकाश का महत्त्व इसी प्रकार बताया है। वह रसों को ग्रहण करता है, वह सब ज्योतियों के प्रकाश को ले लेता है क्योंकि सूर्य के उदय होने पर उसके प्रकाश में अन्य ग्रह–नक्षत्रों का प्रकाश दिखाई नहीं देता। वह स्वयं प्रकाश से प्रदीप्त है।[2] यास्क के मतानुसार 'सुपर्णाः' भी शोभन गति वाली सूर्य की किरणें हैं।[3] अप्रत्यक्ष रूप में किरणों की गति से उनका काल का वाहक होना अभिप्रेत है क्योंकि उनकी गति से काल का माप और उससे दूरी का माप होता है।

इस प्रकार यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट है कि जैसे काल गतिशील है वैसे ही काल के प्रमुख करण सूर्य, प्रकाश, किरणों में भी गति–तत्त्व विद्यमान है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, उषा, रात्रि, दिन चलते रहते हैं, आते जाते हैं—वह सब काल की अविरत गति को द्योतित करता है।

---

१. स्वरादित्यो भवति। सु अरणः। सु ईरणः। स्वृतो रसान्। स्वृतो भासं ज्योतिषाम्। स्वृतो भासेति वा। नि. २/१४

२. आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति वा। नि. २/१३

३. सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः। नि. ३/१२; ४/३; ७/२४

'काल' शब्द और उसके विविध प्रयोग

डॉ. सत्यदेव चौधरी

(१)

श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से कहा **'कालः कलयताम् अहम्'**[१]। 'हे गुडाकेश ! गणना करने वालों के मध्य मैं काल अर्थात् समय हूं, अथवा नियन्त्रण करने वालों के मध्य मैं काल अर्थात् यम हूं।'[२]

काल शब्द कल् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है गिनना, हिसाब लगाना। गणनावाची 'कलन' शब्द इसी धातु से बना है। **'कलयति आयुः इति कालः'**, काल हमारी आयु को गिनता है, अथवा प्रभावित करता है।[३] अथवा **'कालयति सर्वाणि भूतानि इति कालः'**—काल सभी जीवों का विनाश करता है। इस प्रकार काल शब्द के प्रमुख दो अर्थ हैं—समय और यम। यम शब्द मृत्यु का वाचक है—**'कः कालस्य न गोचरान्तरगतः।'**[४] यों कल् धातु के अन्य भी अनेक अर्थ हैं—(भ्वादि) शब्द करना, (चुरादि) धारण करना, जानना, जाना, प्रभावित करना आदि।

(२)

समय-वाची काल के अनेक रूप हैं—शतपत्र-भेदन का समय 'अल्पकाल' कहाता है। इससे त्रुटि, त्रुटि से काल, फिर काष्ठा, निमिष, घटिका, प्रहर, दिन-रात्रि, पक्ष, मासायन, वत्सर आदि। दिव्य वर्ष ३०० वर्ष का होता है। कृतयुग, त्रेता, द्वापर युग भी 'काल' के ही रूप हैं। इसी प्रकार १७ चतुर्युग का

---

१. १०/३०

२. कलयतां वशीकुर्वतां संख्यां कुर्वतां वा। भाष्योत्कर्ष-दीपिका

३. तुलनार्थ-"गाफ़िल तुझे घड़ियाल यह देता है मनादी। गर्दूं ने तेरी उम्र इक और घटा दी"।

४. पंच. १/१४६

एक मन्वन्तर माना गया है। पर व्यावहारिक दृष्टि से काल के इतने टुकड़े मानते हुए भी काल को दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से नित्य, अखण्ड आदि कहा गया है–"**अनादिनिधनः काल**",[१] ठीक यही स्थिति दिक् अथवा देश की भी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य के प्रकाश से इधर पृथ्वी और उधर चन्द्रमा (पृथ्वी के एक उपग्रह) के प्रकाशित अथवा छायाछन्न होते ही जब से रात और दिन का आभास मानव को हुआ तभी से काल (समय) को व्यावहारिक दृष्टि से खण्डशः प्रतीयमान स्वीकार कर लिया गया । अठाईस दिनों अपितु २८$\frac{१}{४}$ में दो बार चन्द्रमा की भिन्न–भिन्न स्थिति होती देखी तो मानव ने चौदह दिन की कालावधि को दो पक्षों–शुक्ल और कृष्ण–में बांट लिया, जिसका सहज परिणाम हुआ कि प्रतिपदा से पूर्णिमा तथा प्रतिपदा से अमावस्या के बीच की तिथियों के अनुसार काल–विभाजन हो गया और अठाईस (२८$\frac{१}{४}$) दिनों का एक चान्द्रमास भी गिना जाने लगा। यह तो है प्राकृतिक काल–गणना। फिर पल, मिनिट, घंटा, पहर, दिन, सप्ताह, सूर्यमास, वत्सर, 'लीप–यीअर' आदि–ये सभी के सभी व्यवहारिक सुविधा के अनुसार बना लिए गए। यहां तक कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालों की कल्पना भी इसी का परिणाम है। 'काल' शब्द का व्याकरण–ग्रन्थों में लक्षण भी यही है–'वह सत्ता जिससे भूत, वर्तमान और भविष्य की प्रतीति होती है'। वस्तुतः हर भूतकाल वर्तमान काल था और भविष्यत् काल भी वर्तमान काल बन जाएगा और फिर, काल के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक के बीच के काल को भी नाम दिया जाने लगा, यथा–'बुद्ध–जीवन–काल में', 'अकबर के राज्य–काल में', आदि। षड् ऋतुओं का नामकरण भी स्पष्टतः मानव की दैहिक एवं भौतिक अनुभूति पर आधारित है।

(३)

जो हो, विश्व का समस्त कार्यकलाप काल पर टिका हुआ है–**कालाधीनं जगत् सर्वम्।** इस कार्यकलाप की निरन्तरता, इसमें परिशोधन एवं संशोधन, इसमें हलचल, नयापन और पुरानापन सभी 'काल' (समय) पर टिका हुआ है। समय के साथ, सच पूछें तो, काल का दूसरा अर्थ 'विनाशशीलता' भी इसी तथ्य में अनुस्यूत है, क्योंकि परिवर्तन समय–साध्य भी है और विनाश–साध्य भी। क्षय के बिना संहार संभव नहीं, और संहार के विना उत्पत्ति संभव नहीं।

---

१. अनादिनिधनः कालः रुद्रः संघर्षणः स्मृतः।
कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्त्तितः।।
तिथ्यादितत्त्व

विश्व 'काल' (समय) में से उगता है और इसी में लीन हो जाता है–

(क) कालात् प्ररोहति विश्वम्, पुनः काले प्रवर्तते।

(ख) कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।

कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।[१]

श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा – **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः**।[२] सचमुच ऐसी कष्ट की घड़ी में ही मानव पुकार उठता है–**कालस्य कुटिला गतिः।** काल–चक्र, काल–कवलित, काल–पाश, काल–धर्म, आदि अनेक शब्द ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त होते हैं। तभी 'काल' शब्द दुर्भिक्ष, प्रारब्ध, नियति आदि का भी वाचक है, मृत्यु का तो यह वाचक है ही, साथ ही यह गहरे काले रंग का भी वाचक है। मृत्यु से बचने और बचाने का उपाय सभी जीव–जन्तु आजीवन करते रहते हैं। एक कवि की कल्पना के अनुसार यहां तक कि प्रकृति के तत्त्व भी इसी प्रयास में संलग्न रहते हैं–"अन्धकार–रूपी सर्प से डसे हुए सूर्य को आकाश से गिरते हुए उसकी पितृप्रसू (पितरों की माता अथवा दादी, अर्थात् सांझ की धुंधलिका) ने देखा तो वह उसे बचाने के लिए मानो ओषधीश (चन्द्रमा) को लाकर दौड़ी चली आई–

कालव्यालहतं वीक्ष्य पतन्तं भानुमम्बरात्।

ओषधीशं समादाय धावतीव पितृप्रसूः।।

पर काल आ जाने पर कौन बच सका है–आखिर सूर्य जैसा तेजस्वी डूब ही तो जाता है। काल यदि न आया हो, तो फिर भला कौन मृत्यु का ग्रास हो सकता है–

नाकाले म्रियते जन्तुर्बिद्धः शरशतैरपि।

कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति।[३]

अमरकोष के अनुसार यमवाची 'काल' शब्द के अन्य पर्याय हैं–दण्डधर, श्राद्धदेव, वैवस्वत और अन्तक। यम का एक विशेषण कालान्तक भी कहा जाता है–

---

१. महाभारत, स्त्री. २/२४

२. गीता, ११/३२

३. हितोपदेश

उद्यतायुधनिस्त्रिंशे रथे च समलंकृते।
कालाश्वयुक्ते महति स्थितः कालान्तको यमः।।[1]

(४)

अब 'काल' शब्द के प्रयोग के उदाहरण लें, जिनमें अर्थच्छाया का अन्तर देखने को मिलेगा। कितना रोमाण्टिक रहा होगा वह मेघ जो यक्ष की प्रिया के पास यथाशीघ्र सन्देश ले जाता हुआ भी मार्ग में कुटज के फूलों से सुगन्धित पर्वत के शिखर–शिखर पर थोड़ा काल बिताता चला गया होगा–

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्-प्रियार्थं यियासोः।
कालक्षेपं ककुभ-सुरभौ पवते-पर्वते ते।।[2]

इसे कहते हैं अचेतना में चेतनता का आरोप।

होता होगा कभी एक काल ऐसा भी जब लोग श्रौत और स्मार्त ग्रन्थों का अध्ययन कर चुकने के बाद काल बिताने के लिए काव्य अथवा शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ कर देते थे–**काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।** किन्तु आज हम सभी प्रायः टी. वी. का 'रिमोट' आन कर देते हैं और यदि काव्य अथवा शास्त्र का अध्ययन करते भी हैं तो विश्वविद्यालयों की सर्वोत्तम उपाधि–प्राप्ति के लिए। और यदि समय रहते ऐसी उपाधि प्राप्त न कर ली तो, प्यारे, उम्र भर पछताते रह जाओगे, विशेषतः उस स्थित में जब कि आपके शिष्य भी 'डॉक्टर' शब्द से सम्बोधित होने लग जाएं–

काल-प्राप्तं महारत्नं यो न गृह्णात्यबुद्धिमान्।
अन्यहस्तगतं दृष्ट्वा स तु परितप्यते।।[3]

काल (समय) की पहचान ऋग्वेद के 'श्वघ्नी' (जूआख़ोर) को भी थी जो कृत नामक पासे ठीक समय पर काम में लाकर प्रतिपक्षी को जीत लेता था–

जयाति कृतं यच्छ्वघ्नी विचिनोति काले।[4]

और मतिमान् व्यक्ति वह जो अपने मालिक की रग–रग से परिचित हो जाए कि

---

१. रा. ६/६१/२१
२. पूर्वमेघ, २३
३. भारवि
४. ऋ. १०/४२/६

वह किस काल प्रसन्न बैठा है, और किस काल वह इस व्यक्ति से विरक्त हो, झूठी आशाएं दिलाते हुए, उसे टालने और धता बताने को तैयार बैठा है–

कालयापनम् आशानां वर्धनं फलखण्डनम्।

विरक्तेश्वर-चिह्नानि जानीयान् मतिमान् नरः।।[१]

(५)

'काल' शब्द का महत्त्व शास्त्रीय दृष्टि से भी अत्यन्त गौरवास्पद है। न्यायदर्शन में पृथ्वी, अप्, तेज आदि जो नौ द्रव्य माने गए हैं उन में एक द्रव्य 'काल' भी है। इसे जन्य पदार्थों का जनक तथा सर्व जगत् का आधार कहा गया है। यों तो काल एक है, किन्तु 'इससे पूर्व और अपर क्षणों का जो बोध होता है वह उपाधि–भेद से है', साथ ही काल को 'सर्व–व्यापक और परम महत्' माना गया है।[२]

छन्दःशास्त्र में ह्रस्व स्वर को उच्चारण करने में लगने वाले काल को मात्रा कहते हैं। संगीत–शास्त्र में एक कला का काल–प्रमाण 'ताल' कहाता है। यहां 'कला' से तात्पर्य है–आठ सेकेंड का समय।

और इधर, काव्यशास्त्रियों में से भामह ने काल–विरुद्धता को काव्य–दोष के रूप में प्रस्तुत किया। किसी कवि ने जब यह लिखा कि वर्षा ऋतु में आम्र कुसुमित हो उठे तो भामह को यह खटका और उन्होंने इंगित किया कि आम्र तो बसन्त ऋतु में कुसुमित होते हैं[३], अतः यहां काल दोष है। ऋतु–विरुद्धता की चर्चा करते हुए राजशेखर ने भी इसे कालदोष माना है।

आनन्दवर्धन ने जिसे कालगत आर्थी व्यंजना कहा, इसे कुन्तक ने पदपरार्धवक्रता के अन्तर्गत कालगत वक्रता कहा है। नायिका ने सन्देश भेजा, "यह जो रास्ते इन दिनों ऊंचे–नीचे दिखायी देते हैं तथा जिन पर आना–जाना जारी है, वे शीघ्र ही मनोरथों से भी दुर्लंघ्य हो जाएंगे"–

---

१. महासुभाषितसंग्रह : लुडविक स्टर्नबाख

२. (क) जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।।
(ख) कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १/४५, १/२६

३. काव्यालंकार ४/३१/३२

समविषम-निर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्द-संचाराः।

अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामप्यगम्याः।[१]।।

वह कहना यह चाहती है कि उसके प्रियतम को वर्षा ऋतु के आरम्भ होने से पूर्व ही परदेश से घर लौट आना चाहिए। इसी तथ्य को एक शायर ने कहा तो अभिधात्मक रूप में है पर कालवाचकता का रूप अपने अनोखेपन में निखर उठा है—

ए अबरे करम ज़रा थम के बरस,

इतना न बरस कि वह आ न सकें,

वह आ जाएं तो फिर जम के बरस,

और इतना बरस कि वह जा न सकें।

और वर्षाकाल के ही एक अवसर पर प्रोषितपतिका नायिका अपनी सखी से अनायास कह उठी—"क्या बताऊं सखि ! इन काले—काले उमड़ते बादलों के काल (समय) में तो बिना पतित हुए (बिना संयम—भंग किए) नहीं रहा जाता।" "तो क्या अपने पति से मिलने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठी हो ?" सखी ने पूछा तो उत्तर में नायिका बोली, "नहीं तो ! यह जो फिसलन—भरा रास्ता है ना, उसी के बारे में कह रही हूं।" यों भी फिसल जाने की गुंजाइश इस प्रोषित—पतिका नायिका के लिए सचमुच किसी भी रूप में कम नहीं है—

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।

उत्कण्ठितासि तरले, नहि नहि सखि, पिच्छिलः पन्थाः।।

क्षेमेन्द्र ने काव्य के २७ काव्यांगों में 'काल' की भी परिगणना करते हुए कहा कि इन सभी अंगां में एक मात्र व्यापक जीवन औचित्य ही है—

काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।[२]

---

१. गाथासप्तशती, ६७५; ध्वन्यालोक, ३/१६ वृत्ति; वक्रोक्तिजीवित २/६५
२. औचित्यविचारचर्चा, १०

(६)

काल शब्द के अनेक पर्याय हैं—समय, अवधि, कालावधि, अन्तराल, भोगकाल आदि। 'पर्याय' से तात्पर्य है—अल्पान्तर, समानार्थक शब्द। 'समय' शब्द का प्रयोग प्रायः एक काल–विशेष के अर्थ में होता है—"इस समय कितने घड़ी रात बाकी है ?" जब किसी से मकान खाली कराना हो, अथवा कर्ज़ा वापस लेना हो तो एक वर्ष आदि की अवधि अथवा कालावधि दी जाती है, न कि एक वर्ष का काल दिया जाता है। 'भोगकाल' ज्योतिष का अति प्रचलित पारिभाषिक शब्द है, जैसे भिन्न–भिन्न राशियों में आकाशस्थ ग्रहों का भोगकाल। जितने दिनों तक कोई ग्रह किसी राशि में रहता है उतने दिनों तक यह उसका भोगकाल माना जाता है। यों, ऐसे प्रयोग भी चलते हैं—"आगामी सूर्यग्रहण का भोगकाल १$\frac{१}{२}$ घंटा होगा" आदि।

मित्रो ! मैं अपनी नियत कालावधि से अधिक समय ले गया, यही आपका 'भोग–काल' था।

योगवासिष्ठ में काल का स्वरूप

प्रो. सत्यव्रत शास्त्री

वैसे तो योगवासिष्ठ में कहीं भी पृथक् रूप से काल के स्वरूप पर विचार नहीं है पर इधर उधर जो कड़ियां बिखरी पड़ी हैं उन्हें एक दूसरे से जोड़ने पर योगवासिष्ठकार की कालविषयक विचारश्रृंखला का बहुत कुछ पता लगाया जा सकता है। योगवासिष्ठकार ने उत्पत्ति प्रकरण में सृष्ट्युत्पत्ति प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार हिरण्यगर्भवेषोपहित परमसत्ता से सर्वप्रथम जीव की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर शून्यतारूप शब्दादिगुण बीज स्वसत्ता का उदय होता है। यह सारा प्रपंच उस परा शक्ति का ही है जो स्वयं में अविकृत रहती है। यह मात्र उसकी आत्माभिव्यक्ति है। यह सारा प्रपंच, जिसमें काल भी सम्मिलित है, वास्तव में असत् है परन्तु प्रतीति इसकी इस प्रकार की होती है कि मानो यह सत् हो। वास्तविक सत्ता तो परा शक्ति (ब्रह्म) की ही है। शेष जितनी सत्ताएं हैं जैसे काल सत्ता, कला सत्ता, वस्तु सत्ता, इन सब की पृथक् सत्ता अवास्तविक है। काल की प्रातिभासिक और पारमार्थिक सत्ताओं का भेद योगवासिष्ठ में शुक्रोपाख्यान में भी स्पष्ट किया गया है। जब भृगु अपने पुत्र की मृत्यु से दुःखी होकर काल को शाप देने ही लगते हैं तो काल मनुष्य–रूप धारण कर उनके सामने जा खड़ा होता है। वह उनसे कहता है कि आपका शाप मुझे जला नहीं पायेगा क्योंकि आप भोजन हैं और मैं भोक्ता। मैं नियति के वश में हूं। मैंने संसारों की पंक्तियों की पंक्तियां निगली हैं, करोड़ों रुद्रों को खाया है और विष्णुओं के समूहों का भोजन किया है। यह जगत्परमात्मरूप मेरा मूर्तामूर्त स्वरूप कल्पित है। परमात्मा (ब्रह्म) अपने आप में जगद्रूप में अपने को प्रपंचित करता है। कर्तृता और अकर्तृता दोनों ही परिकल्पित हैं। न ये सत्य हैं न मिथ्या।[१] यही स्थिति सृष्टि में काल की है। काल न सत्य है न मिथ्या। वस्तु स्थिति में काल सत्य नहीं है। वह ब्रह्म का ही प्रपंच है। व्यावहारिक अनुभव में काल मिथ्या नहीं है। ऋतु, अयन इत्यादि साक्षात् अनुभवसिद्ध. हैं।

---

१. उत्पत्ति प्रकरण, अध्याय १२

योगवासिष्ठकार इस प्रकार काल की दो प्रकार की सत्ता मानते हैं—पारमार्थिक और प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्ता में काल ब्रह्म ही है, और ब्रह्म के समान ही वह अमूर्त है, अज है एवम् अपने अविकृत स्वरूप में विद्यमान रहता है।[१] प्रातिभासिक सत्ता में काल वर्ष, कल्प, युग रूप में व्यावहारिक अनुभव का विषय बन जाता है। इस व्यावहारिक–दशा में इसमें दो प्रकार की शक्तियां विद्यमान रहती हैं जिन्हें प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा कहा जाता है।[२] इन्हीं शक्तियों के माध्यम से काल सारी सृष्टि का नियन्त्रण करता है। रोकना और अनुमति देना इन्हीं प्रक्रियाओं पर समूची सृष्टि व्यवस्था आधारित है। बीज बोये जाने पर अंकुर रूप में फूट निकलता है, यहां अभ्यनुज्ञा शक्ति काम कर रही है, पर सीधे ही वह वृक्ष नहीं बन जाता; यहां प्रतिबन्ध शक्ति काम कर रही है। इन्हीं दो शक्तियों के माध्यम से काल सूत्रधार के समान इस लोकयन्त्र का संचालन करता है।[३] इस लौकिक काल की पारमार्थिक या वास्तविक सत्ता होती नहीं, यह पहिले ही कहा जा चुका है। यह तो एक मानसिक कल्पना मात्र है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रादि तत्तत्पदार्थों की गति से इसकी कल्पना कर ली जाती हैं एवमेव इस मानसिक कल्पना से तत्तत्पदार्थों की कल्पना कर ली जाती है।[४] पहिली कल्पना दूसरे को जन्म देती है और दूसरी पहिली को। हैं दोनों ही कल्पना। वास्तविक सत्ता किसी की भी नहीं है। वास्तविक ज्ञान का उदय होने पर किसी भी कल्पना का अस्तित्व नहीं रह जाता। उस समय केवल एक शान्त तत्त्व विराजमान रहता है। वर्तमान, भूत, भविष्यत्, ज्ञान, अज्ञान, इन सभी का पृथक् अस्तित्व उस समय रह ही नहीं जाता।[५] इन सबका ब्रह्म रूप में ही साक्षात्कार हो जाता है क्योंकि ये सभी के सभी ब्रह्म में बीजरूप में विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती रहती हैं और

---

१. कालो ह्यात्मनि तिष्ठति। अमूर्तो भगवान् कालो ब्रह्मैव तमजं विदुः। ५/४६/१४–१५

२. (क) प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानं कालो दातेति दृश्यते। ३/६७/६२
   (ख) प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञासु कालः कलनया स्थितः। ४/३६/२२
   (ग) प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानां कालो दातेति या श्रुतिः। ५/४६/१४

३. प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते।।
   —वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, कारिका ४.
   यहां योगवासिष्ठ की पंक्तियों पर वाक्य. की कारिका के उत्तरार्ध का प्रभाव झलकता है। सम्भवतः यह एक पुराना विचार था जिसे वाक्यपदीयकार एवं योगवासिष्ठकार दोनों ने ही अपना लिया। इसका संकेत योगवासिष्ठ की पंक्ति में श्रुति पद से मिलता है : प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानां कालो दातेति या श्रुतिः। वाक्यपदीय और योगवासिष्ठ दोनों ही अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थ हैं, अतः इनमें काल के विषय में एक सा विचार उपलब्ध होना स्वाभाविक ही था।

४. संकल्पते पदार्थौघैः पदार्थौघश्च तेन तु। ५/४६/१६

५. विद्यते वर्तमानत्वं भविष्यद्भूतता तथा।
   बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु–शान्तं किलाखिलम्।। ६ (ङ)/६६/३४

उनके आकार में वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार तत्तत्पदार्थों के रूप में ब्रह्म भी बढ़ता रहता है, उसका भी प्रपंच होता रहता है।[१] भूत, भविष्यत् आदि निस्सन्देह ब्रह्म का प्रपंच ही हैं। पर ब्रह्म स्वयं में अनादि और अनन्त है, वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है।[२] काल देव ईश्वर रूप ब्रह्म का द्वारपाल है।[३] उसी के माध्यम से वह कालरूप तमःप्रकाशादिरहित सब पदार्थों में व्याप्त महेश्वर[४] अनेकानेक संसारों को उलटता पलटता रहता है। वह संसार की सृष्टि करता है, उसका विनाश करता है और पुनः इसकी सृष्टि करता है। इस प्रकार वह कौतुकवश अपने कार्य में रत रहता है।[५] संसार अगाध कालसागर में डूबते उतराते रहते हैं। उत्पन्न हुई सृष्टियों के विनाश की वह प्रतीक्षा करता रहता है।[६] काल ब्रह्म की ही एक शक्ति है जो ब्रह्म से अभिन्न है (शक्तिशक्तिमतोरभेदात्) पर जिस प्रकार जल आवर्त बुद्बुदतरंगादि नाना रूपों को धारण कर लेता है उसी प्रकार यह शक्ति भी ज्ञत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्वादि के कारण अनेक रूपों को धारण कर लेती है और ब्रह्म से किंचिद् भिन्न हो जाती है।[७]

योगवासिष्ठकार के मत में काल एक तत्त्व है। जिस प्रकार नदियां सैंकड़ों होने पर भी समुद्र एक ही रहता है उसी प्रकार ऋतु, संवत्सर, अयन आदि अनेक होने पर भी काल एक ही रहता है।[८]

---

१. ब्रह्म कालत्रयं तच्च ब्रह्मण्येव व्यवस्थितम्।
तरंगमालयाम्भोधिर्यथाऽऽत्मनि विजृम्भते।
तथा पदार्थलक्ष्योत्थमिदं ब्रह्म विवर्धते। ६ (ड.)/११/१८–१६

२. विष्वक्विश्वमजं ब्रह्म न नश्यति न जायते। ६ (पू०)/५४/१७

३. विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः। ६ (पू०)/३८/१६

४. स महात्मा महेश्वरः।
तमः प्रकाशकलनामुक्तकालात्मतां गतः।
यः सौम्यः सुसमः स्वस्थस्तं नौमि पदमागतम्।। ४/२२/४१

५. सूते संहरति क्षिप्रं पुनः सृजति हन्ति च।
जगन्ति बहुपर्यायैः काल एव कुतूहली।। ६ (पू०)/१२४/५२

६. कालो वहत्यकलितसर्वनाशप्रतीक्षकः। ३/८५/३०

७. एषा हि शक्तिरित्युक्ता तस्मादभिन्ना मनागपि।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वादिविभावनात्।।
शक्तयो विविधं रूपं कारयन्ति बहूदकम्।। ६ (पू०)/३७/१६–२०

८. एक एव भवत्यब्धिः स्रवन्तीनां शतैरपि।
एक एव भवेत्काल ऋतुसंवत्सरोत्करैः।। ६ (उ०)/१७६/१४

चूंकि योगवासिष्ठकार ने काल को मात्र एक मानसिक कल्पना माना है इसलिये उनके विचार में काल की अनुभूति प्रतीति अथवा अनुभव पर आधारित है। इसी कारण क्षण कल्प रूप में भी परिणत हो सकता है और कल्प क्षण रूप में भी।[1] जिसकी जैसी जैसी भावना रहती है उसका वैसा वैसा अनुभव होता रहता है। यदि आंख की झपकी में उसकी अनेक युगों की भावना रहती है तो उसके लिये आंख की झपकी ही अनेक युग बन जाते हैं। इसी प्रकार यदि अनेक युगों में उसकी आंख की झपकी की भावना रहती है तो उसके अनेक युग आंख की झपकी बन जाते हैं। दुःखी व्यक्ति के लिये एक रात युग बन जाती है और सुखी व्यक्ति के लिये वही एक क्षण। उसका मन समाधि में डूबा है उसके लिये न दिन है न रात।[2] योगवासिष्ठ का यह मत आज भी आधुनिकतम विचारधारा के अत्यन्त निकट है। आइन्सटाइन के मत के अनुसार काल व्यक्ति के अनुभव से सम्बद्ध है (Time is relative to an observer) यही उनके सापेक्षवाद (Theory of Relativity) का आधार है। योगवासिष्ठ ने कम से कम दो महत्त्वपूर्ण उपाख्यानों के माध्यम से[3] इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन किया है।

सुषुप्ति अवस्था में ही इस काल्पनिक काल का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब स्वप्न नगर की तरह विलीन हो जाता है। पृथिवी, पर्वत, दिशाएं, क्रिया, काल, क्रम ये सब अस्तित्व रहित हो जाते हैं।[4] इन में से कुछ भी नहीं बचा रहता। वही अद्वैतैक्य की स्थिति होती है।[5] इस स्थिति में पारमार्थिक सत्ता अर्थात् ब्रह्म में ही काल का साक्षात्कार हो सकता है।

---

१. प्रतिभासवशादेव सर्वो विपरिवर्तते।
क्षणः कल्पत्वमायाति कल्पश्च भवति क्षणः।। ३/१२१/१८

२. येन येन यथा यद्यद्यदा संवेद्यतेऽनघ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते।।
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः।।
दुःखितस्य निशा कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः।।
यन्मुहूर्तः प्रजेशस्य स मनोर्जीवितं मुनेः।।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः।।
३, ६०, १६, २०, २२, २५, २७

३. शुक्रोपाख्यान और गाधि–उपाख्यान।

४. पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमीयुषः।।
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किंचिदवशिष्यते।। ६ (उ०) २१३/५–६

५. अद्वैतैक्यं विभवनं शान्तमात्मन्यवस्थितम्। ६ (उ०) २१/२४

चरकसंहिता में कालचिन्तन

डॉ. निर्मल त्रिखा

'काल' शब्द परिणामवाची है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है– ' **कालः परिणमयति भूतानीति परिणामहेतुत्वात् परिणाम उच्यते। कलयति कालयति वा भूतानीति कालः।**' काल ही सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभ कर्मों को धर्म तथा अधर्म रूप में परिणत करता है। अत एव चरकसंहिता में भी इसे परिणाम कहा गया है–

कालः पुनः परिणाम उच्यते।[1]

काल से ही पुरुष की उत्पत्ति होती है, उसके रोग भी काल से ही उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण जगत् काल के वश में है। सभी भावों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में सर्वत्र काल ही कारण है–

कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य जामयः
जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम्।।[2]

चरक संहिता के सूत्रस्थान में काल की इस महिमा को प्रदर्शित करते हुये आयुर्वेद सम्बन्धी इस ग्रन्थ में काल के स्वरूप को उपयुक्त प्रकार से समझकर चिकित्सा में इसका प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है।

चरकसंहिता में काल का दो भागों में वर्गीकरण किया गया है:–

(i) नित्यग अथवा शीतोष्णवर्षालक्षणरूप संवत्सर काल।

(ii) आवस्थिक अथवा आतुर (रोगी)[3] की अवस्था

(i) नित्यग काल अथवा संवत्सरकाल

नित्यगकाल निरन्तर रहने वाला है। इसकी गति सृष्टि एवं प्रलय में समानरूप से निर्बाध, विरामरहित और व्यवधानरहित है। यह निरवयव और अमूर्त्त द्रव्य है।

---

१. सूत्रस्थानम्, ११/४५

२. वही २५/२५

३. कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। विमानस्थानम्, ८/१३४

अतः इसका छिद्रयुक्त अथवा छिद्ररहित होना सम्भव ही नहीं–

ना ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते कालस्वलक्षणस्वभावात्।[1]

निरन्तर गमन करने वाला यह नित्यगकाल संवत्सर काल भी कहा गया है और इस रूप में यह ऋतुसात्म्य की अपेक्षा करता है।[2] कार्य और प्रयोजन को दृष्टिगत करके संवत्सरकाल दो, तीन, छह, बारह या इससे भी अधिक भागों में बाँटा जाता है।

तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य।[3]

अयन–भेद से दो भेद हैं– उत्तरायण और दक्षिणायन। लक्षण भेद से तीन भेद हैं– शीत, उष्ण और वर्षा। ऋतुभेद से ६ प्रकार हैं–वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म। मासभेद से १२, पक्षभेद से २४ और दिन, प्रहर, घण्टा, मिनट आदि भेद से नित्यग संवत्सर काल के अनेकानेक भेद हैं।

चरकसंहिता के सूत्रस्थान के तिस्त्रैषणीय अध्याय में संवत्सर काल के लक्षणों का निरूपण किया गया है। शीतलक्षणयुक्त हेमन्त, उष्णलक्षणयुक्त ग्रीष्म एवं वर्षालक्षणयुक्त वर्षाऋतु– इन तीन ऋतुओं को संवत्सर काल कहा गया है

शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः-संवत्सरः स कालः।[4]

शिशिर, प्रावृट्, वसन्त अथवा शिशिर, शरद् और वसन्त ऋतुओं का इन्हीं तीन ऋतुओं में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि सर्दी, गर्मी और वर्षा इनके अनिवार्य अंग हैं। अतः संवत्सर काल को छः ऋतुओं में विभाजित समझना चाहिए न कि तीन ऋतुओं में–

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्योद्गमनमादानं च त्रीनृतून् शिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायन विसर्गं च[5]**।** सूत्रस्थान के इस संदर्भ के अतिरिक्त विमानस्थानम् में भी प्रावृट्, शरद् और वसन्त ऋतुओं का हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा में समावेश करके संवत्सरकाल का ऋतुओं में विभाजन किया गया है–

---

१. चरकसंहिता, शारीरस्थानम्, ६/२८– जो सावयव द्रव्य सान्तर अर्थात् अवकाश युक्त होता है उसे सच्छिद्र कहते हैं, और जो सावयव द्रव्य निरन्तर अर्थात् अवकाश रहित होता है उसे अच्छिद्र कहते हैं।

२. विमानस्थानम् १/३१

३. वही, ८/१३४

४. चरकसंहिता, सूत्रस्थानम्, ११/४५

५. वही, ६/४ शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं को आदित्य का उत्तरायण तथा वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओं को दक्षिणायन कहते हैं।

हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवः प्रावृट् शरद्वसन्ता इति।[1]

संवत्सररूप काल के समयोग अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग भी होते हैं। यदि हेमन्त में शीत, ग्रीष्म में गर्मी, वर्षा में वृष्टि समुचित मात्रा में हों तो यह संवत्सर काल का समयोग है, यदि अधिक हों तो कालातियोग है। अपने अपने लक्षणों के विरुद्ध लक्षण होने पर काल का मिथ्यायोग कहते हैं–

तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः हीनस्वलक्षणः कालः कालातियोगः यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः।[2]

(ii) आवस्थिक कालः-

चरकसंहिता में रोगी की अवस्था के संदर्भ में भी कार्य और अकार्य के लिये काल और अकाल शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसे ही आवस्थिक काल कहते हैं। इस अवस्था में इस औषध का काल है और इसका काल नहीं है, इस प्रकार आतुर (रोगी) की अवस्था में भी काल और अकाल संज्ञाओं का प्रयोग चरकसंहिता में किया गया है–

आतुरावस्थास्वादि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। तद्यथा- अस्यामवस्थायामस्य भेषज़स्य कालोऽकालः पुनरस्येति, एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा।[3]

चरकसंहिता के सूत्रस्थान में कहा गया है कि काल का अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग रोगों का कारण होता है। यदि ग्रीष्म ऋतु में सर्दी हो, या बहुत अधिक गर्मी अथवा बहुत कम गर्मी हो तो वह अहितकर होगी। यही अनारोग्यकर काल का लक्षण है–

कालं तु खलु–यथर्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्गमतिलिङ्गं हीनलिङ्गं, चाहितं व्यवस्येत्।[4]

यह काल अत्यन्त अहितकर होता है । अनारोग्यकर वात, जल, देश और

---

१. चरकसंहिता, विमानस्थानम्, ८/१३४
२. चरकसंहिता, सूत्रस्थानम्, ११/४५.
३. चरकसंहिता, विमानस्थानम् ८/१३७
४. चरकसंहिता, विमानस्थानम्, ३/६

काल में से काल का प्रतिकार क्योंकि कठिनता से होता है, अतः वह मुख्य माना जाता है। चरकसंहिता के विमानस्थानम् में कहा गया है–

वाताज्जलं, जलाद्देशं, देशात्कालं स्वभावतः।
विद्याद् दुष्परिहार्यत्वाद् गरीयस्तरमर्थवित्।।[१]

नित्यग अथवा संवत्सरकाल और आवस्थिक काल के चिन्तन के अतिरिक्त कालमृत्यु और अकालमृत्यु की चर्चा के संदर्भ में भी चरकसंहिता के काल विषयक विचार दृष्टिगत होते हैं। इस प्रसंग में काल शब्द का अर्थ 'आयु का प्रमाण' है। शिष्य अग्निवेश ने गुरु आत्रेय से प्रश्न किया कि क्या सभी प्राणियों की आयु का काल (प्रमाण) निश्चित होता है अथवा अनिश्चित–

किन्नु खलु भगवन्! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति।

भगवान् आत्रेय ने इसके उत्तर में कहा कि प्राणियों की आयु का काल दैव और पौरुष के योग पर निर्भर करता है। 'कालमृत्यु' से 'आयु का अनियम' होना (निश्चित अथवा अनिश्चित होना) दैव और पौरुष के आधीन माना गया है। उत्कृष्टकोटि के दैव और पौरुष का योग सुखपूर्ण और नियतकाल का कारण होता है तथा इसके विपरीत योग अनियतकाल अथवा अकाल मृत्यु का कारण बन जाता है। इसी प्रकार मध्यम कोटि के दैव और पौरुष का योग मध्यम आयु का कारण होता है। चरकसंहिता में कहा गया है–

भूतानामामुर्युक्तिमपेक्षते।
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्।।
तयोरुदारयोर्युक्तिदीर्घस्य ससुखस्य च।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा।।
मध्यमा मध्यमस्येष्टा.....।[२]

चरकसंहिता के अनुसार आयु नियतकाल भी है और अनियतकाल भी। इनमें से किसी एक पक्ष को ऐकान्तिक रूप से ग्रहण करना अनुचित है–

तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु।[३]

क्योंकि मनुष्य की आयु का काल दैव और पौरुष के योग पर निर्भर करता है, अतः आयु नियतकाल और अनियतकाल दोनों ही हो सकती है। आयु के नियत

---

१. वही /३/१३
२. विमानस्थानम्, ३/२६. ३२–३३
३. चरकसंहिता, विमानस्थानम्, ३६

और अनियत होने का एक कारण यह है कि दुर्बल दैव पौरुष से बाधित होता है तथा पौरुष बलवान् दैव से। आयु की वृद्धि करने वाला दैव जब दुर्बल होता है, तो अपथ्य–भोजनादि बलवान् तथा मारक दृष्टकर्म के द्वारा उसका उपघात कर दिया जाता है और प्राणी की अकालमृत्यु हो जाती है। परन्तु जब आयुवर्धक दैव बलवान् होता है, तो अपथ्यभोजनादि दृष्टकर्म उसके द्वारा अभिभूत कर दिये जाते हैं और वे प्राणी का कुछ अहित नहीं कर सकते। तब अकाल मृत्यु नहीं होती।[1] कालमृत्यु और अकालमृत्यु दोनों ही सम्भव हैं क्योंकि जहाँ एक ओर बलवान् दैव दृष्टकर्म का बाधक है, वहाँ दूसरी ओर बलवान् दृष्टकर्म भी निर्बल दैव का बाधक बनता है। कुछ बलवान् कर्मों का किसी विशेषकाल में परिपाक होना निश्चित होता है और कुछ निर्बल कर्मों का विपाक अनिश्चित होता है, वे अपथ्यसेवनादि अनुकूल दृष्टकारणों के द्वारा जगाए जाते हैं–

कर्म किंचित् क्वचित् काले विपाके नियतं महत्।
किंचित्त्वकालं नियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते।[2]

इनमें से प्रथम प्रकार के कर्म नियतविपाककाल कहलाते हैं । इन्हें दृष्टकर्म द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता, इसलिए इनको बलवान् माना जाता है दूसरे प्रकार के कर्म अनियतविपाककाल कहलाते हैं। ये दुर्बल होते हैं। ये तभी फलोन्मुख होते हैं जब अनुकूल पौरुषरूप दृष्टकारणों से जगाए जाते हैं। इस प्रकार कर्म के परिपाककाल के नियत अथवा अनियत होने से आयु भी नियतकाल अथवा अनियतकाल दोनों ही प्रकार की होती है। दैव का पुरुषकार से और पुरुषकार का दैव से बाध होने के कारण और कर्म का परिपाक फल नियत और अनियत दोनों प्रकार का होने के कारण, आयु नियतकाल भी है और अनियतकाल भी। न यह मानना उचित है कि सभी प्राणियों की आयु नियतकाल होती है और न यह ही मानना उचित है कि नियतकाल आयु होती ही नहीं है। आयु नियतकाल भी होती है और अनियतकाल भी।

आत्रेय अग्निवेश के मत में यह कहना उचित नहीं है कि सब प्राणियों की आयु नियत अथवा निश्चितकाल ही है। यदि ऐसा होता तो 'दीर्घायु की कामना करने वालों के लिये मन्त्र, ओषधि, मणि, मंगल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपात और गमनादि क्रियाओं तथा यज्ञों का अनुष्ठान नहीं कराया जाना चाहिए। बौखलाकर इधर–उधर दौड़ते हुये उग्रस्वभाव वाले और चंचल साँड़, हाथी, ऊँट, गधे, घोड़े, भैंसे इत्यादि पशुओं से तथा दूषित वायु इत्यादि से अपने आप को बचाना नहीं चाहिए। इसी प्रकार न तो प्रपात, पर्वत और ऊँचे–नीचे

---

१. चरकसंहिता, विमानस्थानम्, ३/३३. २/२४
२. वही,३/३५

दुस्तर जलप्रवाहों से, वेग से, न प्रमत्त (असावधान) उन्मत्त (पागल) उद्भ्रान्त (बौखलाए) हुये, उग्र, चञ्चल और मोह तथा लोभ से व्याप्त बुद्धि वालों से, न शत्रुओं से, न बढ़ी हुई अग्नि की लपटों से, न अनेक प्रकार के विषैले रेंगने वाले जन्तुओं और सर्पों से, न साहसिक कर्मों से, न देश और काल के विरुद्ध आचरण से और न राजाओं के प्रकोप से अपना बचाव करना चाहिए, क्योंकि आयु का कालप्रमाण निश्चित होने से ये समस्त भाव आयु का अभाव करने में समर्थ नहीं हो सकते।

यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्, तदाऽऽयुष्कामाणां न मन्त्रौषधिमणिमगंलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्यनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयुज्येरन् नोद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युः, न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगाः, तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भद्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयः, नारयः, न प्रवृद्धोऽग्निः न च विविधविषाश्रयाः, सरीसृपोरगादयः, न साहसं, नादेशकालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोप इति; एवमादयो हि भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात्।[1]

इस विषय में लेशमात्र भी विवाद नहीं है कि आयु को दीर्घ करने वाले हेतुओं का सेवन करना चाहिए एवं आयु को क्षीण करने वाले हेतुओं का परित्याग करना चाहिए। आयु के नियतकाल होने पर यह सब व्यर्थ होगा। इन सबकी सार्थकता आयु के अनियतकाल पर ही निर्भर करती है।

आयु अवश्यमेव अनियतकाल भी है क्योंकि यदि सभी प्राणियों की आयु निश्चितकाल होती तो 'जिन प्राणियों ने कभी भी अकाल मृत्यु से होने वाले भय के निवारक प्रयोगों का अभ्यास नहीं किया है, उन्हें अकाल में मरने का अभ्यास ही न होना चाहिए। आयु के नियत होने पर रसायन के विषय में महर्षियों की क्रियायें, कथायें, प्रयोग और ज्ञान भी व्यर्थ ही जाएँगे। निश्चित आयु वाले शत्रु को इन्द्र भी अपने वज्र से न मार सकेंगे। नियत आयु वाले रोगी की चिकित्सा अश्विनीकुमार भी नहीं कर सकेंगे। महर्षिगण तपश्चर्या के द्वारा मनचाही आयु भी न प्राप्त कर सकेंगे। यदि आयु निश्चित होती तो सम्पूर्ण ज्ञातव्य को जानने वाले महर्षि और इन्द्र न तो भेषज और रसायनादि का सम्यग्दर्शन करते, न उसका उपदेश करते, न स्वयं उसका प्रयोग करते:–

न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनां,

---

१. चरकसंहिता, विमानस्थानम्, ३/३६

व्यर्थश्चम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे, नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्, नाश्विनावार्तं भेषजेनोपपादयेतां, न महर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुः, न च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा।[1]

प्राणियों की आयु अनियतकाल भी हो सकती है क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है कि 'प्रतिदिन उठ –उठकर युद्ध करने वालों की तथा युद्ध न करने वालों की आयु समान नहीं होती है। इसी प्रकार उत्पन्न होते ही जिनके रोगों का प्रतीकार कर दिया जाता है, और जिनके रोगों का प्रतीकार नहीं किया जाता है उनकी आयु समान नहीं होती है। विष खाने वालों तथा विष न खाने वालों की आयु भी समान नहीं होती है'। अतः इससे सिद्ध होता है कि प्राणियों का आयुकाल हितापसेवन पर अवलम्बित है, इसके विपरीत आचरण करने से उनकी मृत्यु होती है।

पुरुषसहस्राणामुत्थायोत्थायाहवं कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्ट्वं तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्च, अविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्ट्वमेव, तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितम्, अतो विपर्ययान्मृत्युः।[2]

महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने चरकसंहिता में एक दृष्टान्त के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि प्राणियों की आयु नियतकाल और अनियतकाल दोनों ही प्रकार की हो सकती है। 'जिस प्रकार गाड़ी में लगा हुआ धुरा यदि स्वभाव से ही धुरे के गुणों से युक्त हो, और अपने समस्तगुणों से युक्त हुआ वह धुरा प्रयोग में लाया जाता हो तो समय आने पर अपने प्रमाण का क्षय होने से घिसकर समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार यदि शरीर को प्राप्त हुई आयु स्वभाव से ही बलवती हो और सद्वृत्त पालन रूप यथोचित विधि से उसका पालन किया जा रहा हो, तो अपने (युगानुरूप वर्ष शतादि) प्रमाण का क्षय होने पर समाप्त हो जाती है। इसको समय पर होने वाली मृत्यु या कालमृत्यु कहते हैं। और जिस प्रकार वही धुरा अत्यधिक भार से आक्रान्त होने के कारण, विषम मार्ग अथवा अमार्गपर चलने के कारण, अक्षचक्र (नाभि) के टूट जाने के कारण, ढोये जाने वाले तथा हांकने वाले के दोष के कारण, कील के निकल जाने के कारण, यान के उलट जाने के कारण, तेल न देने के कारण अपने समय से पहले ही टूटकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आयु भी अपने बल के अनुरूप कार्य न करने से, अपनी अग्नि के अनुरूप भोजन न करने से, विषम भोजन करने से, शरीर को विषम रूप में रखने से, अत्यधिक मैथुन करने से,

---

१. चरकसंहिता, विमानस्थानम् ३/३६.

२. वही

असत्पुरुषों का आश्रय ग्रहण करने से, उदीर्ण वेग को रोकने से, रोकने योग्य रोगों को न रोकने के द्वारा, सताये जाने से, चोट लगने से, भोजन छोड़ देने, से, और रोग का प्रतीकार न करने से, समय आने से पहले जब समाप्त हो जाती है, तो इसी को असमय में होने वाली मृत्यु या अकालमृत्यु कहा जाता है। इसी प्रकार जिन ज्वरादि रोगों की सम्यक् चिकित्सा न होकर उलटी चिकित्सा हुई हो, तो उन्हें भी हम अकाल मृत्यु के रूप में देखते हैं क्योंकि उनमें भी प्रायः असमय में मृत्यु हो जाती है।

यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति; स मृत्युः काले।

यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षादनुपङ्गात् पर्यसनाच्चान्तराऽवसानमापद्यते, तथाऽऽयुरप्ययथाबलमारम्भादयथग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासातिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद्विधार्यवेगाविधारणाद्भूतविषवाय्वग्न्युपतापदभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्चान्तराऽवसानमापद्यते, स मृत्युरकाले; तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम् इति।।३८।।[१]

चरकसंहिता के शरीरस्थान में कालमृत्यु और अकालमृत्यु का अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है। काल का अभिप्राय 'उचित काल' और अकाल का अभिप्राय अनुचित काल है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि काल में भी मृत्यु होती है और अकाल में भी। 'यदि अकाल में मृत्यु न होती तो सबकी आयु का कालप्रमाण निश्चित होना चाहिए। किन्तु ऐसा होने पर हिताहित का ज्ञान निष्प्रयोजन हो जायेगा, क्योंकि आयु के निश्चित होने पर भी अहितकर भाव भी आयु का कुछ बिगाड़ न सकेंगे तथा प्रत्यक्ष, अनुमान और उपदेश, जिन्हें सभी शास्त्रों में प्रमाण माना गया है तथा जिनके द्वारा आयुष्य और अनायुष्य भावों का ज्ञान होता है वे सभी अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि आयु के निश्चित होने पर उनके द्वारा ज्ञातव्य आयुष्य और अनायुष्य भावों का अभाव हो जायेगा। इसलिए जो यह कहा जाता है कि अकाल मृत्यु नहीं होती है, इसे ऋषिगण केवल कहने भर की बात मानते हैं, वस्तुतः ऐसा नहीं है –

---

१. चरक संहिता, विमानस्थानम्, ३/३८

यदि ह्यकाले. मृत्युर्न स्यान्नियतकाल प्रमाण आयुः सर्वं स्यात्। एवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्, प्रत्यक्षानुमानोपदेशाश्चाप्रमाणानि स्युर्ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु यैरायुष्याण्यनायुष्याणि चोपलभ्यन्ते। वाग्वस्तुमात्रमेतद्वादमृषयो मन्यन्ते नाकालमृत्युरस्तीति।[१]

चरकसंहिता के शारीरस्थानम् में कालमृत्यु और अकालमृत्यु के विषय में वर्णित विभिन्न मतों का खण्डन करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि काल में भी मृत्यु होती है और अकाल में भी। अतः किसी एक ही पक्ष का ऐकान्तिक रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च, नैकान्तिकम्।[२]

निष्कर्ष स्वरूप यह कह सकते हैं कि चरकसंहिता में काल का विशद चिन्तन किया गया है। काल को परिणाम मानकर इसे सम्पूर्ण भावों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण कहा गया है। नित्यग अथवा संवत्सरकाल को शीतोष्णवर्षालक्षण रूप काल समझकर इसे निर्बाध, निरवयव, अमूर्त तथा छिद्रयुक्त अथवा छिद्ररहित भावों से अतीत माना गया है। कार्य और प्रयोजन को दृष्टि में रखकर अयन–लक्षण–ऋतु–मास–पक्ष दिन–प्रहरादि भेद से अनेकानेक भेदों में बाँटा गया है। संवत्सरकाल के अतियोग, अयोग, और मिथ्यायोग भी हैं। आयुर्वेद से सम्बन्धित होने के कारण रोगी की अवस्था को ध्यान में रखकर कार्य और अकार्य के अर्थ में भी 'काल' और 'अकाल' शब्दों का प्रयोग चरकसंहिता में किया गया है। काल का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग रोगों का कारण है। कालमृत्यु और अकालमृत्यु के विषय में विभिन्न मतों का खण्डन करके इस ग्रन्थरत्न में काल शब्द का अर्थ उचित काल अथवा आयु का निश्चित प्रमाण किया गया है तथा अकाल का अर्थ अनुचित काल अथवा आयु का अनिश्चित प्रमाण किया गया है। दैव और पौरुष के योग पर आधारित आयु का प्रमाण निश्चित प्रमाण के अनुसार हो सकता है। यही नहीं, यह काल निश्चित प्रमाण से अधिक अथवा कम भी हो सकता है। संयत जीवन, नियमित आहार–विहार और आयुर्वेद में वर्णित रसायनादि के सेवन से आयु का काल बढ़ सकता है। विपरीत आचरण से यह कम हो जाता है।

---

१. चरकसंहिता, शारीरस्थानम्. ६/२८

२. चरकसंहिता, शारीरस्थानम् , ६/२८

बाल्मीकि रामायण में काल-चिन्तन

डॉ. आशालता पाण्डेय

"पूर्वावस्था में अर्थात् हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के समय मैं (काल) माया द्वारा आपसे (सर्वशक्तिमान् प्रभु से) उत्पन्न हुआ था, इसलिए आपका पुत्र हूं। मुझे सर्वसंहारी काल कहते हैं।[1] पूर्वकाल में समस्त लोकों को माया के द्वारा स्वयं ही अपने में लीन करके आपने महासमुद्र के जल में शयन किया था, फिर इस सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहले मुझे (काल को) उत्पन्न किया।[2] आपकी नाभि से सूर्य–तुल्य तेजस्वी दिव्यकमल प्रकट हुआ, जिसमें आपने मुझको भी उत्पन्न किया और प्रजा की सृष्टि रचने का सारा कार्यभार मुझ पर ही रख दिया"।[3]—रामायण के उत्तरकाण्ड में काल ने राम को अपना परिचय इस प्रकार दिया है।

वस्तुतः आदिकवि बाल्मीकिकृत रामायण में काल शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—काल अर्थात् मृत्यु, नियति[4] या यम तथा दूसरा समय के

---

१. तवाहं पूर्वके भावे पुत्रः पुरंजय।
मायासम्भावितो वीर कालः सर्वसमाहरः।। उत्तरकाण्ड, १०४/२

२. संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि।
महार्णवे शयनोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः।। उत्तरकाण्ड, १०४/४

३. पद्मे दिव्येऽर्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम्।। उत्तरकाण्ड, १०४/७

४ नियतिः कारणम् लोके नियतिः कर्मसाधनम्।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम्।। किष्किन्धाकाण्ड, २५/४

अर्थ में। काल के लिए यहां अन्तक शब्द का भी बार–बार प्रयोग किया गया है।[१] रामायण में कहीं पर तो यमराज ही काल है,[२] तो कहीं मृत्यु और काल यमराज के सहायक हैं।[३] लेकिन काल का किसी के साथ भाई–चारे का, मित्रता का अथवा जाति–बिरादरी का सम्बन्ध नहीं है। उसको वश में करने का कोई उपाय नहीं है तथा उस पर किसी का पराक्रम नहीं चल सकता। उसका कोई हेतु, मित्र, जाति का सम्बन्ध और कारण नहीं होता।[४] वैसे रामायण में कई स्थलों पर यमराज को सूर्यपुत्र कहा गया है।[५] सूर्यपुत्र यम संसार के प्राणियों को मृत्यु का कष्ट देते हैं।[६] वैवस्वत (विवस्वान् अर्थात् सूर्य के पुत्र) अर्थात् यमराज दक्षिण दिशा में निवास करते हैं।[७] और इसी यमलोक[८] में यमराज और राक्षसराज रावण का युद्ध देखने के लिए जाने को नारदमुनि उद्यत होते हैं। नारद रावण के आक्रमण का समाचार

---

१. युद्ध काण्ड–३०/२६ में अन्तक को यमराज के पांच पुत्रों में से एक कहा गया है। उत्तरकाण्ड–१२/२ में कालपुत्र विद्युज्जिह्व से सूर्पणखा के विवाह किए जाने का उल्लेख है।
—लक्ष्मणश्चान्तकोपमः। युद्धकाण्ड, ४/१६
—बबन्धश्चान्तकोपमः। युद्धकाण्ड, ३०/२२
—वर्जयेदन्तकश्चिरम्। सुन्दरकाण्ड, २१/२३
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः। किष्किन्धाकाण्ड, १५६/३३
नरोत्तमः कालयुगाान्तकोपमं नरोत्तम काल काञ्चनरूप्यभूषितम्। किष्किन्धाकाण्ड, १६/३८
—रराास च यथान्तकः । उत्तरकाण्ड, ३२/४३
—व्यादितस्य इव अन्तकः। उत्तरकाण्ड, ६२/५
—लोकक्षयेष्वेन अन्तकः। उत्तरकाण्ड, ६३/४८

२. उत्तरकाण्ड, २२/७

३. उत्तरकाण्ड, २२/४, २३/३२ रावण तथा यमराज के बीच युद्ध प्रसंग में यहां पर कालस्वरूप यम तथा मुत्यु के बीच वार्तालाप भी हुआ है।
उत्तरकाण्ड, २१/२३; २५; २६ में यमदूतों का उल्लेख हुआ है।

४. न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः।
न मित्रज्ञाति सम्बन्धः कारणं नात्मनो वशः।। किष्किन्धाकाण्ड, २५/७

५. उत्तरकाण्ड, २०/२३

६. प्राणिसंक्लेशकर्तारं———— । उत्तरकाण्ड, २१/२६

७. तस्मादेवमहं ब्रह्मन् वैवस्वतवधोद्यतः।
गच्छामि दक्षिणामाशां यत्र सूर्यात्मजो नृपः।। उत्तरकाण्ड २०/२३

८ कौतूहलं समुत्पन्नो यास्यामि यमसादनम्।
विमर्दं द्रष्टुमनयोर्यमराक्षसयोः स्वयम्।। उत्तरकाण्ड, २०/३३

बताने के लिए यमलोक में गए।[१] वहां जाकर उन्होंने देखा कि यमदेवता अग्नि को साक्षी के रूप में सामने रखकर बैठे हैं और जिस प्राणी का जैसा कार्य है उसी के अनुसार फल देने की व्यवस्था कर रहे हैं।[२] महर्षि नारद को वहां आया देख यमराज ने आतिथ्य–धर्म के अनुसार उनके लिए अर्घ्य आदि का निवेदन करके उनके वहां आने का कारण पूछा।[३] नारद ने बताया कि यद्यपि यमराज को जीतना बहुत कठिन है फिर भी दशग्रीव उनको जीतने के लिए आ रहा है।[४] यमलोक में दशग्रीव ने देखा कि बहुत से प्राणी अपने–अपने पाप और पुण्य का फल भोग रहे हैं।[५] यहां पर रावण ने यमयातना के भयंकर दृश्य देखे।[६] साथ ही में दूसरी ओर उसने पुण्यात्माओं को अपने सत्कर्मों का फल भोगते हुए भी देखा[७]। असमय मृत्यु हो जाना एक प्रकार से काल द्वारा अपराध के लिए दिया गया दण्ड होता है। जैसा कि राम कहते हैं कि ब्राह्मण का इकलौता बालक उनके ही किसी अपराध के कारण काल के गाल में चला गया है।[८] यमलोक में यमराज और रावण का भयंकर युद्ध होता है जिसमें यमराज रावण के वध के लिए उठाए हुए कालदण्ड को ब्रह्मा जी के कहने से लौटा देते हैं।[९]

यमराज कालदण्ड रूपी आयुध को धारण करते हैं।[१०] यह काल दण्ड अमोघ है।[११] रावण के साथ युद्ध के समय यमराज के पार्श्वभाग में काल दण्ड मूर्तिमान होकर खड़ा हुआ, जो उनका मुख्य और दिव्य आयुध है। वह अपने तेज से अग्नि के समान प्रज्ज्वलित हो रहा था।[१२] वह कालदण्ड दृष्टि में आने मात्र

---

१. आरण्यातुं तद् यथावृत्तं यमस्य सदनं प्रति। उत्तरकाण्ड, २१/१
२. अपश्यत् स यमं तत्र देवमग्निपुरस्कृतम्।
   विधानमनुतिष्ठन्तं प्राणिनो यस्य यादृशम्।। उत्तरकाण्ड, २१/२
३. स तु दृष्ट्वा यमः प्राप्तं महर्षिं तत्र नारदम्।
   अब्रवीत् सुखमासीनमर्घ्यमावेद्य धर्मतः।। उत्तरकाण्ड, २१/३
४. उत्तरकाण्ड, २१/६
५. सोऽपश्यत् स महाबाहुर्दशग्रीवस्ततस्ततः।
   प्राणिनः सुकृतं चैव भुन्जानाश्चैव दुष्कृतम्।। उत्तरकाण्ड, २१/१०
६. उत्तरकाण्ड, २१/११–१७
७. उत्तरकाण्ड, २१/१८–२०
८. उत्तरकाण्ड, ७६/११
९. उत्तरकाण्ड, २० वां सर्ग–यहां ब्रह्मा के कहने मात्र से रावण को अभयदान दे देना यमराज की दानवीरता, वचनबद्धता आदि गुण उनके चरित्रिक उत्कर्ष को प्रकट कर रहे हैं।
१०. उत्तरकाण्ड, २१/७
११. उत्तरकाण्ड, २२/२३
१२. कालदण्डस्तु पार्श्वस्थो मूर्तिमानस्य चाभवत्।
   यमप्रहरणं दिव्यं तेजसा ज्वलदग्निवत्।। उत्तरकाण्ड, २२/५

से प्राणियों के प्राणों का अपहरण कर लेता था। फिर जिससे उसका स्पर्श हो जाये अथवा जिसके ऊपर उसकी मार पड़े, उस पुरुष के प्राणों का संहार करना उसके लिए कौन बड़ी बात है ?[१] ज्वालाओं से घिरा हुआ वह कालदण्ड उस राक्षस को दग्ध सा कर देने के लिए उद्यत था। बलवान् यमराज के हाथ में लिया हुआ वह महान् आयुध अपने तेज से प्रकाशित हो उठा।[२] उसके उठते ही समराङ्गण में खड़े हुए समस्त सैनिक भयभीत होकर भाग चले। कालदण्ड उठाए यमराज को देखकर समस्त देवता भी क्षुब्ध हो उठे।[३] जैसे ही यमराज उस दण्ड से रावण पर प्रहार करने के लिए उद्यत हए कि साक्षात् पितामह ब्रह्मा वहां आ पहुंचे[४] और कहा—"हे अमित पराक्रमी महाबाहु वैवस्वत्! तुम इस काल के द्वारा निशाचर रावण का वध न करो।[५] "यह कालदण्ड तीनों लोकों के लिए भयंकर तथा रौद्र है। तुम्हारे द्वारा क्रोधपूर्वक छोड़े जाने पर यह प्रिय और अप्रिय जनों में भेद भाव न रखता हुआ सामने पड़ी हुई समस्त प्रजा का संहार कर डालेगा।[६] इस अमित तेजस्वी कालदण्ड को भी पूर्वकाल में मैंने ही बनाया था। यह किसी भी प्राणी पर व्यर्थ नहीं होता है।[७] रामायण में एक स्थल पर रावण की भयंकर गदा की भी कालदण्ड से उपमा दी गई है।[८] उत्तरकाण्ड में वसु ने निशाचर के वध के लिए जो गदा उठाई वह कालदण्ड के समान भयंकर थी।[९] भगवान श्री राम द्वारा युद्ध में शत्रुओं के समक्ष छोड़े गए तेजस्वी बाण साक्षात् ब्रह्मदण्ड के समान प्रकाशित होते हैं, काल के समान जान पड़ते हैं और यमदण्ड के समान भयंकर होते हैं।[१०] कालदण्ड के अतिरिक्त यमराज का कालपाश भी अत्यन्त भयंकर है।

---

१. दर्शनादेव यः प्राणान् प्राणिनामपि कर्षति।
   किं पुनः स्पृशमानस्य पात्यमानस्य वा पुनः।। उत्तरकाण्ड, २२/३५
२. स ज्वालापरिवारस्तु निर्दहन्निव राक्षसम्।
   तेन स्पृष्टो बलवता महाप्रहरणोऽस्फुरत्। उत्तरकाण्ड, २२/३६
३. ततो विदुद्रुवुः सर्वे तस्मात् रणाजिरे।
   सुराश्च क्षुभिताः सर्वे दृष्ट्वा दण्डोद्यतं यमम्।। उत्तरकाण्ड, २२/३७
४. उत्तरकाण्ड, २२/३८
५. वैवस्वत महाबाहो न खल्वमितविक्रम।
   न हन्तव्यस्त्वयैतेन दण्डेनैष निशाचरः।। उत्तरकाण्ड, २२/३९
६. उत्तरकाण्ड, २२/४२
७. उत्तरकाण्ड, २२/४३
८. कालदण्डोपमाम् गदाम्। उत्तरकाण्ड, १४/४
९. कालदण्डोपमाम् गदाम्। उत्तरकाण्ड, २७/४८
१०. युद्धकाण्ड, १५/१३

कालपाश में बंधे लोगों का नक्षत्र समयानुसार ग्रहों से पीड़ित होता है।[१] बालकाण्ड में एक स्थल पर क्रोधित विश्वामित्र ऋषिपुत्रों और महोदय से कहते हैं कि उन पर दोषारोपण करने वाले कालपाश में बंधकर यमलोक में पहुंचा दिए गए हैं।[२] सीताहरण प्रसंग में सीता रावण को धिक्कारती हुई कहती है कि "हे निशाचर ! मैं देख रही हूं कि तेरे गले में काल की फांसी पड़ चुकी है, इसी से इस भय के स्थान पर भी तू निर्भय बना हुआ है"।[३] यमराज और रावण के बीच युद्ध के समय यम के दोनों बगल में छिद्र रहित कालपाश खड़े थे और जिसका स्पर्श अग्नि के समान दुःसह है, वह मुग्दर भी मूर्तिमान होकर उपस्थित था[४] तथा काल दण्ड के पार्श्वभागों में कालपाश प्रतिष्ठित थे और वज्रतुल्य व अग्नि समान तेजस्वी मुग्दर तो उपस्थित था ही।[५] सुन्दरकाण्ड में हनुमान रावण को समझाते हैं कि "सीता का शरीर धारण करके तुम्हारे पास काल की फांसी आ पहुंची है, उसमें स्वयं गला फंसाना ठीक नहीं है, अतः अपने कल्याण की चिन्ता करो"।[६]

यमराज कालस्वरूप[७] हैं और काल का स्वरूप भयंकर है।[८] काल की अजेयता के बारे में सोचते हुए देवर्षि नारद तर्क–वितर्क करते हैं कि "जो तीनों लोकों का धारण–पोषण करने वाले तथा पुण्य और पाप का फल देने वाले हैं और

---

१. काले कालगृहीतानां नक्षत्रं ग्रहपीडितम्। युद्धकाण्ड, ४/५२

२. अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम्। बालकाण्ड, ५६/१८

३. पश्यामीह हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम्।
यथा चास्मिन् भयस्थाने न बिभेषि निशाचर।। अरण्यकाण्ड, ५३/१८

४. तस्य पार्श्वेषु निच्छिद्राः कालपाशाः प्रतिष्ठिताः।
पावकस्पर्शसंकाशः स्थितो मूर्तिश्च मुग्दरः।। उत्तरकाण्ड, २२/६

५. यस्य पार्श्वेषु निहिताः कालपाशाः प्रतिष्ठिताः।
पावकाशनिसंकाशो मुग्दरो मूर्तिमान् स्थितः।। उत्तरकाण्ड, २२/३४

६. तदलं कालपाशेन सीता विग्रहरूपिणा।
स्वयं स्कन्धावसक्तेन क्षेममात्मनि चिन्त्यताम्।। सुन्दरकाण्ड, ५१/३५

७. येन लोकास्त्रयः सेन्द्राः क्लिश्यन्ते सचराचराः।
क्षीणे चायुषि धर्मेण स कालो जेष्यते कथम्।। उत्तरकाण्ड, २०/२८

८. तं ते भयपरीताङ्गाः क्षुब्धं दृष्ट्वा प्लवंगमाः।
कालमृत्यु युगान्ताभं शतशो विद्रुता दिशः।। किष्किन्धाकाण्ड, ३१/२०

जिन्होंने तीमों लोकों पर विजय पाई है, उन्हीं कालदेव को यह राक्षस कैसे जीतेगा'' ?[१] समस्त लोकों को भय देने वाले साक्षात् काल को कुपित हुआ देख तीनों लोकों में हलचल मच जाती है और समस्त देवता कांप उठते हैं।[२] क्रोधित यमराज के मुख से श्वास के रूप में अग्नि की ज्वालाएं निकलती हैं।[३] काल एक ऐसे महात्मा हैं जो जीवों के दान और कर्म के साक्षी हैं, जिनका तेज द्वितीय अग्नि के समान है, जिनसे चेतना पाकर सम्पूर्ण जीव नाना प्रकार की चेष्टाएं करते हैं, जिनके भय से पीड़ित हो कर तीनों लोकों के प्राणी उनसे दूर भागते हैं, ऐसे कालदेव के पास यह राक्षसराज (रावण) स्वयं ही कैसे जायेगा'' ?[४] क्योंकि काल ही सबका साधन है अतः नारद मुनि की यह शंका यहां उचित ही है कि रावण काल के अतिरिक्त दूसरे किस साधन का सम्पादन करके काल पर विजय प्राप्त करेगा ?[५] राम जब धर्मपूर्वक अयोध्या के राज्य का पालन कर रहे थे, तब काल तपस्वी के रूप में साक्षात् उनसे मिलने महर्षि अतिबल के तेजस्वी दूत के रूप में तपस्या जनित तेज से सूर्य के समान प्रकाशित होते हुए[६] अपनी प्रखर किरणों से दग्ध करते हुए से आते हैं।[७] कालाग्नि भी कालदण्ड और कालपाश के समान ही भंयकर है। विश्वामित्र से क्रोधित वशिष्ठ धूमरहित कालाग्नि के समान भयंकर दण्ड हाथ में उठाकर तुरन्त उनका सामना करने के लिए तैयार हो जाते हैं।[८] लंकादहन प्रसंग में पराक्रमी हुनमान

---

१. यो विधाता च धाता च सुकृतं दुष्कृतं तथा।
त्रैलोक्यं विजितं येन तं कथं विजयिष्यते।।
अपरं किं तु कृत्वैव विधानं संविधास्यति।। उत्तरकाण्ड, २०/३१;३२

२. ततो लोकत्रयं क्षुब्धमकम्पन्त दिवौकसः।
कालं दृष्ट्वा तथा क्रुद्धं सर्वलोकभयावहम्।। उत्तरकाण्ड, २२/७

३. ततः क्रुद्धस्य वदनाद् यमस्य समजायत।
ज्वालामाली सनिःश्वासः सधूमः कोपपावकः।। उत्तरकाण्ड, २२/२२

४. स्वदत्तकृतसाक्षी यो द्वितीय इव पावकः।
लब्धसंज्ञा विचेष्टन्ते लोका यस्य महात्मनः।।
यस्य नित्यं त्रयो लोका विद्रवन्ति भयार्दिताः।
तं कथं राक्षसेन्द्रोऽसौ स्वयमेव गमिष्यति।। उत्तरकाण्ड, २०/२६;३० तथा २१/१

५. उत्तरकाण्ड, १०३/१; ३

६. उत्तरकाण्ड, १०३/५

७. उत्तरकाण्ड, १०३/७

८. इत्युक्त्वा परमक्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्डक इवापरम्।। बालकाण्ड, ५५/२८
प्राज्वलद् ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोधतः।
विधूम इव कालाग्नेर्यमदण्ड इवापरः।। बालकाण्ड, ५६/१२

कालाग्नि की लपटों के समान प्रज्ज्वलित होने वाली आग फैला देते हैं।[१] लवणासुर के वध के लिए शत्रुघ्न ने जो दिव्य, अमोघ और उत्तम बाण हाथ में लिया वह प्रलयकाल उपस्थित होने पर प्रज्ज्वलित हुई कालाग्नि के समान उद्दीप्त हो रहा था।[२] वरुणपुत्रों से युद्ध के समय दशग्रीव प्रलयकाल की अग्नि के समान रोष से प्रज्ज्वलित हो उठा था।[३] शत्रुघ्न का बाण प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्ज्वलित हो रहा था।[४] कालाग्नि के समान ही कालरात्रि भी विनाशशीला होती है। रघुकुल का विनाश करने के लिए कैकेयी कालरात्रि बनकर आई थी।[५] हनुमान रावण से कहते हैं कि जिनको तुम सीता के नाम से जानते हो और जो इस समय तुम्हारे अन्तः पुर में हैं, उन्हे सम्पूर्ण लंका का विनाश करने वाली कालरात्रि समझो।[६] सीता का विश्वास है कि उनके कमलनयन पति को क्रूर कालरात्रि ही उनसे हठात् छीन ले गई।[७] वानरों और राक्षसों के बीच हो रहे युद्ध वाली रात भयंकर कालरात्रि के समान समस्त प्राणियों के लिए दुर्लङ्ध्य हो गई थीं।[८]

जगत् में काल की सत्ता अनिवार्य है। काल ही समस्त प्राणियों के उद्‌भव में हेतु है।[९] काल के लिए कुछ भी बोझ नहीं है, वह सब कुछ कर सकता है। उसके लिए दैव को भी जीतना कठिन नहीं है।[१०] काल किसी को नहीं छोड़ता। काल के वशीभूत होने पर बड़े–बड़े शूरवीर, बलवान और अस्त्रवेत्ता भी बालू की भीति या बांध के समान नष्ट हो जाते हैं।[११] काल का महान् बल सभी प्राणियों पर अपना प्रभाव डालता है।[१२] दैव अथवा काल के लिए सम्पूर्ण प्राणियों पर शासन करना भाररूप (कठिन) नहीं है।[१३] इसीलिए कबन्ध राक्षस भगवान् राम को समझाते

---

१. मुमोच हनुमानग्निं कालानलशिखोपमम्। सुन्दरकाण्ड, ५४/६
२. तं दीप्तमिव कालाग्निं युगान्ते समुपस्थिते। उत्तरकाण्ड, ६६/२०
३. ततः क्रुद्धो दशग्रीवः कालाग्निरिव मूर्च्छितः। उत्तरकाण्ड, २३/४३
४. उत्तरकाण्ड, ६२/३१
५. कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता। अयोध्याकाण्ड, ७३/४
६. यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे।
कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलंकाविनाशिनीस्।। सुन्दरकाण्ड, ५१/३४
७. कालरात्र्या ममाच्छिद्य हृतः कमललोचनः। युद्धकाण्ड, ३२/१५
८. कालरात्रीव भूतानां सर्वेषां दुरतिक्रमा। युद्धकाण्ड, ४४/१६
९. कालो भूतानां प्रभवो ह्ययम्। युद्धकाण्ड, ३२/१३
१०. कालस्यातिभारोऽस्ति कृतान्तश्च सुदुर्जयः। उत्तरकाण्ड, ४८/१२
११. शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे। अरण्यकाण्ड, ६६/५०
कालाभिपन्नाः सीदन्ति यथा बालुकसेतवः। युद्धकाण्ड, १६/२४
१२. कालस्य सुमहद् वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण। अरण्यकाण्ड, ६६/४८
१३. नहि भारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण। अरंण्यकाण्ड, ६६/४६

हुए कहता है कि जो होनहार है उसे कोई भी पलट नही सकता। काल का विधान सभी के लिए दुर्लङ्घ्य होता है, इसीलिए इस विषम परिस्थिति को काल का विधान समझते हुए आपको धैर्य धारण करना चाहिए।[१] वस्तुतः मनुष्य स्वेच्छा से कुछ नहीं कर सकता। काल ही उसको इधर–उधर घुमाता रहता है। कोई भी पुरुष स्वतंत्रतापूर्वक न तो किसी काम को कर सकता है और न ही किसी दूसरे को उसमें लगाने की शक्ति रखता है। सारा जगत् स्वभाव के अधीन है और स्वभाव का आधार है काल।[२] काल प्रेरित होकर ही रावण ने मारीच की राम का विरोध न करने की बात नहीं मानी।[३] काल ने ही मृग का रूप धारण करके मन्दभागिनी सीता को लुभाया था जिससे प्रभावित होकर सीता ने उन दोनों आर्यपुत्रों–श्री राम और लक्ष्मण को उसके पीछे भेज दिया था।[४] काल के अधीन हो रहे रावण ने युद्धकाण्ड में माल्यवान् की कही हुई हितकर बात नहीं मानी।[५] काल प्रेरित होकर ही रावण ने लंका में पुरी की रक्षा का प्रबन्ध किया[६], अनुज विभीषण की बात नहीं मानी और अन्ततः काल–कवलित हो गया।[७] काल के वशीभूत होकर ही श्री राम अपने भाई के साथ मारे जाकर युद्ध भूमि में सोने लगे।[८] काल प्रेरित होकर ही असुर शिरोमणि दुन्दुभि समुद्र को युद्ध के लिए ललकारता है।[९] राक्षस रावण के द्वारा सीता के अंगों का स्पर्श हो गया और सीता कुछ न कर सकी, क्योंकि सीता को काल ने पीड़ित कर रखा था।[१०] लवणासुर शत्रुघ्न को ललकारते हुए कहता है कि तेरे जैसे हजारों अस्त्र–शस्त्र धारी मनुष्यों को मैं रोषपूर्वक खा

---

१. भवितव्यं हि तच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा।
कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः।। अरण्यकाण्ड, ७२/१६

२. न कर्ता कस्यचित् कश्चिन्नियोगे नापि चेश्वरः।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम्।। किष्किन्धाकाण्ड, २५/५

३. अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः। बालकाण्ड, १/५१

४. नूनं स कालो मृगरूपधारी
मामल्पभाग्यां लुलुपे तदानीम्।।
यत्रार्यपुत्रौ विससर्ज मूढा
रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजं च।। सुन्दरकाण्ड, २८/१०

५. युद्धकाण्ड, ३६/१

६. युद्धकाण्ड, ३६/२१

७. अयोध्याकाण्ड, १६/१५ : युद्धकाण्ड, १६/१

८. उत्तरकाण्ड, ४८/१६

९. किष्किन्धाकाण्ड, ११/१०

१०. पुरा च यदहं वीर स्पृष्टा गोत्रेषु रक्षसा।
तत्राहं किं करिष्यामि कालेनोपनिपीडिता।। सुन्दरकाण्ड, ६८/३६

चुका हूं। लगता है कि तेरे सिर पर काल नाच रहा है।[1] सीता के न मिलने पर राम लक्ष्मण से कहते हैं कि—मैं त्रैलोक्य में ही काल की विनाशलीला प्रारम्भ कर दूंगा[2]। कभी–कभी काल प्राकृतिक शक्तियों के माध्यम से अपने आगमन की पूर्वसूचना भी दे देता है क्योंकि जब राक्षसों ने देवताओं पर आक्रमण किया और भगवान् विष्णु उनकी सहायता के लिए आए तो उस समय काल की प्रेरणा से पृथ्वी और आकाश में अनेक भयंकर उत्पात प्रकट होने लगे जो राक्षसों की सूचना दे रहे थे।[3] भगवान् विष्णु द्वारा राक्षसों के संहार और पलायन के प्रसंगों में सूर्य मण्डल के समान उद्दीप्त होने वाले काल चक्र सदृश उस चक्र ने अपनी प्रभा से आकाश को उद्भासित करते हुए वहां राक्षस प्रवर माली के मस्तक को काट गिराया।[4] वैसे रामायण में एक स्थल[5] पर काल को राम के वशीभूत और अनुगामी होने की बात कही गई है। एक स्थल पर काल नामक पर्वत का भी उल्लेख आया है।[6]

काल सदा प्राणियों पर प्रहार करता है लेकिन उसे कोई रोक नहीं पाता है।[7] जटायु–मरण–प्रसंग में राम लक्ष्मण को समझा रहे हैं कि जटायु की अवस्था बहुत वर्षों की थी और उन्होंने सुदीर्घकाल तक अपना अभ्युदय देखा, लेकिन वृद्धावस्था में मारे जाने पर आज ये पृथ्वी पर सो रहे हैं क्योंकि "काल का उल्लंघन करना सबके लिए ही कठिन है।"[8] वस्तुतः काल भी काल का (अपनी की हुई व्यवस्था का) उल्लघंन नहीं कर सकता।[9] धर्म, अर्थ और काम भी काल क्रम से ही प्राप्त होते हैं।[10] नारद रावण

---

१. ईदृशानां सहस्त्राणि सायुधानां नराधम।
भक्षितानि मया रोषात् कालेनानुगतो ह्यसि।। उत्तरकाण्ड, ६८/६

२. त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा। अरण्यकाण्ड, ६४/६१

३. भौमाश्चैवान्तरिक्षाश्च कालाज्ञप्ता भयावहाः।
उत्पाता राक्षसेन्द्राणामभावाय समुत्थिताः।। उत्तरकाण्ड, ६/५३

४. तत् सूर्यमण्डलाभासं स्वभासा भासयन् नभः।
कालचक्रनिभं चक्रं मालेः शीर्षमपातयत्।। उत्तरकाण्ड, ७/४३

५. अयोध्याकाण्ड, १/३१, ३२

६. कालं नाम महासानुं पर्वतं तं गमिष्यथ। किष्किन्धाकाण्ड, ४३/१४

७. अरण्यकाण्ड, ६४/७६

८. अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः।
सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः।। अरण्यकाण्ड, ६८/२१

९. न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते।। किष्किन्धाकाण्ड, २५/६

१०. धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः। किष्किन्धाकाण्ड, २५/८

से कहते भी हैं कि सभी मनुष्यों को यमलोक में अवश्य जाना पड़ता है, अतः यमराज को जीत लेने पर रावण सबको जीत सकता है, इसमें संशय नहीं है।[1] यमराज की विशाल सेना असंख्य है। उसमें सैकड़ों–हज़ारों शूरवीर आगे बढ़कर युद्ध करने वाले हैं।[2]

जब काल की प्रेरणा से प्राणियों का विनाश निकट आता है, उस समय मृत्यु के अधीन हुए जीव प्रत्येक कार्य में प्रमाद करने लगते हैं।[3] बालि व सुग्रीव के बीच हो रहे युद्ध के समय श्री रामचन्द्र जी के धनुष की टंकार की ध्वनि से बड़े–बड़े पक्षी और मृग प्रलय काल के समय मोहित हुए जीवों के समान किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए थे।[4] वस्तुतः कारण सदैव काल होता है, मनुष्य या वस्तु तो निमित्तमात्र होती है, लेकिन प्रमादवश मनुष्य सारा श्रेय स्वयं को ही देने लगता है। भोगासक्त होने पर काल का ज्ञान विलुप्त हो जाता है।[5] उत्तरकाण्ड में राजा अनरण्य की मृत्यु का कारण काल था, रावण तो निमित्तमात्र बना।[6]

इसके अतिरिक्त रामायण में काल शब्द का प्रयोग कई स्थलों[7] पर समय के अर्थ में किया गया है। देशकाल के अनुरूप कार्य करने तथा देशकाल को समझने की बात भी कई स्थानों[8] पर की गई है। काल शब्द का प्रयोग मृत्यु और समय दोनों ही अर्थों में बहुतायत से हुआ है। मृत्यु के अर्थ में प्रयुक्त काल

१. अवश्यमेभिः सर्वैश्च गन्तव्यं यमसादनम्।
सन्निगृहीष्व पौलस्त्य यमं पुरंजय।।
तस्मिञ्जिते जितं सर्वं भवत्येव न संशयः। उत्तरकाण्ड, २०/१६, १७

२. उत्तरकाण्ड, २१/२८

३. यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः। अरण्यकाण्ड, ५६/१६

४. किष्किन्धाकाण्ड, १६/३४

५. किष्किन्धाकाण्ड, ३५/८

६. न ह्यहं निर्जितो रक्षस्त्वया चात्मप्रशसिना।
कालेनैव विपन्नोऽहं हेतुभूतस्तु मे भवान्।। उत्तरकाण्ड, १६/२७

७. बालकाण्ड, १६/६ तथा उत्तरकाण्ड, ५७/७; ५७/२४, ६५/३६

८. बालकाण्ड, २ /१३: ३०/१ किष्किन्धाकाण्ड, २२/२०; ३२/२०; ४०/१८; ६२/१२ इत्यादि
युद्धकाण्ड, ५/१८, १७/५६ ६५
सुन्दरकाण्ड, २/३६; ५३/[illegible]
युद्धकाण्ड, ६४/४

विकराल, भयंकर तथा विनाशशील है। इसका तो धर्म ही मृत्यु और नाश है।[1] जीवन शिव और अशिव दोनों का एकीकरण है। केवल प्रकाश, दिन या शुभ से काल का अस्तित्व असम्भाव्य सा हो जाता, यदि उसमें तमस् रात्रि या अशुभ समाहित न होता। पुण्य है तो पाप है। मीठा है तो नमक है। जन्म है तो मृत्यु है।[2]

अन्ततः–साधुदर्शी विवेकी पुरुष को सब कुछ काल का ही परिणाम समझना चाहिए–

किं तु कालपरीणामो द्रष्टव्यः साधु पश्यता।[3]

---

१. उत्तरकाण्ड, ७८/७

२. वानर राज ऋक्षरजा चिरकाल तक वानरो के राज्य का शासन करके अन्त में कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुए।
ततरत्त्वर्क्षरजा नाम कालर्धेमण योजितः। उत्तरकाण्ड, ३६/३८

३. किष्किन्धाकाण्ड, २५/८

महाभारत में काल-चिन्तन

डॉ. राजकुमारी त्रिखा

काल के अवबोध की समस्या भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याओं में से एक है। काल के प्रति भारतीय ऋषि, वैदिक युग से ही सजग रहे हैं। ऋग्वेद में काल शब्द का एक बार ही प्रयोग हुआ है।[१] अथर्ववेद में काल की अधिक गम्भीर धारणा दृष्टिगोचर होती है।[२] वस्तुतः वैदिक साहित्य में काल शब्द दो अभिप्रायों को अभिव्यक्त करता रहा है। सामान्य रूप से समय के अर्थ को; तथा परमतत्त्व के समकक्ष, सृष्टि के मूल तत्त्व के रूप को। यह दूसरा अर्थ श्वेताश्वतरोपनिषद् में भली भांति पल्लवित हुआ है। सृष्टि के अनेक कारणों की सम्भावना में काल की भी कल्पना की गई है।[३] मैत्री उपनिषद् में काल शब्द दो अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। (अ)सूर्य की गतियों पर आधारित व विभाजित काल (आ) ब्रह्म के स्वरूप से सम्बन्धित काल।[४]

महाभारत में काल शब्द का प्रयोग इन उचित काल, सामान्य समय तथा सूर्य की गतियों पर निर्धारित काल के अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थो में किया गया है यथा भाग्य, प्रारब्ध, मृत्यु, यमराज, विष्णु तथा शिव, सृष्टि का सर्वेसर्वा काल। महाभारत में काल के महत्त्व व स्वरूप का भी विस्तृत वर्णन पाया जाता है। यहां हम संक्षेप में उनका विवेचन करेंगे।

काल शब्द के विभिन्न अर्थ

महाभारतकार ने काल के विविध नाम दिये हैं। राजा बलि इन्द्र को उपदेश देते हुए कहते हैं—कुछ लोग इन काल देवता को अग्नि कहते हैं, तथा

---

१. ऋ० १०/ ४३/ ५.

२. अथर्व० १९/ ५३/ १. तथा १९/ ५४/ ५.

३. श्वेताश्वतरोपनिषद १/१–२

४. मैत्री उपनिषद, ६/१५.

कुछ प्रजापति व अन्य लोग इसे परब्रह्म कहते हैं। कुछ उसे ही ऋतु, मास, पक्ष, दिन, क्षण, पूर्वाह्न, अपराह्न, मध्याह्न व मुहूर्त्त भी कहते हैं।[1]

सामान्य अर्थ में काल शब्द का प्रयोग भीष्म पितामह व युधिष्टिर के सम्वाद[2] में पाया जाता है जहां भीष्म पितामह कहते हैं—काल राजा का कारण होता है अथवा राजा काल का कारण होता है। इस विषय में तुम्हें कोई सन्देह नहीं रहना चाहिये। काल राजा की दण्डनीति से प्रभावित होता है; जब राजा दण्डनीति का पूरा–पूरा व ठीक प्रयोग करता है तो काल पृथ्वी पर सत्ययुग की सृष्टि कर देता है। जब राजा तीन चौथाई अंशों में दण्डनीति का अनुसरण करता है तब त्रेतायुग का आरम्भ होता है। जब राजा दण्डनीति के आधे भाग का अनुसरण करता है, तब द्वापर युग, तथा जब सम्पूर्ण दण्डनीति का परित्याग कर, प्रजा को कष्ट देने लगता है, तब कलियुग का आरम्भ होता है।

अधिकांशतः काल शब्द का प्रयोग उचित काल के अर्थ में किया गया है। महाभारतकार का स्पष्ट मत है कि उचित समय आये बिना, व्यक्ति अपने पुरुषार्थ का पूरा फल नहीं पाता। असमय में कोई भी व्यक्ति बुद्धि अथवा ज्ञान से सफलता नहीं पा सकता, परन्तु उचित समय आने पर क्रियाकलापों का महान् फल मिलता है। प्रकृति पर भी काल का प्रभाव पड़ता है। महामुनि व्यास, युधिष्ठिर को महाभारत युद्ध के पश्चात् दुःखी देख कर सान्त्वना देते हुए कहते हैं—न तो कोई कर्म करने से नष्ट हुई वस्तु मिल सकती है, और न चिन्ता से ही। कोई ऐसा दाता भी नहीं है, जो पुरुष को उसकी नष्ट वस्तु दे दे। बारी–बारी से विधाता के विधानानुसार मनुष्य समय पर सब कुछ पा लेता है। बुद्धि अथवा शास्त्रज्ञान द्वारा भी मनुष्य असमय में किसी विशेष वस्तु को नहीं पा सकता और समय आने पर कभी–कभी मूर्ख भी अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त कर लेता है। अतः काल ही कार्यसिद्धि में सामान्य कारण है। अवनति के समय शिल्पकलाऐं, मन्त्र तथा औषध भी कोई फल नहीं देते। वे ही जब उन्नति के समय उपयोग में लाये जाते हैं, तब काल की प्रेरणा से सफल होते हैं व वृद्धि में सहायक बनते हैं। समय पर ही वायु बहती है, बादल जल बरसाते हैं, कमल उगते हैं। कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष, नदियों का तेज वेग से बहना, पशु–पक्षियों का मदमस्त होना, स्त्रियों का गर्भधारण

---

१. आहुश्चैनं केचिदग्निं केचिदाहुः प्रजापतिम्।
ऋतून् मासार्धमासांश्च दिवसांश्च क्षणांस्तथा।
पूर्वाह्णमपराह्णञ्च मध्याह्नमपि चापरे।।
मुहूर्त्तमपि चैवाहुरेकं संतमनेकधा।
तं कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे। शांति. २२४/५२–५४

२. शांतिपर्व, ६६/७०–६६.

करना, ऋतु–परिवर्तन, बालक का जन्म लेना, मरना, बोलना, जवान होना, ये सभी कार्य समय आने पर ही होते हैं। असमय में न तो बोया बीज ही उगता है, न सूर्य–चन्द्रमा उदित व अस्त होते हैं। सभी कार्य उचित समय आने पर ही होते हैं।[1]

यही भाव महाभारत में अनेक स्थलों पर अभिव्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं–कहीं काल शब्द मृत्यु के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। समय आने पर ही मृत्यु होती है, अन्यथा कितनी भी बड़ी दुर्घटना क्यों न हो जाये, प्राणी जीवित रहता है। अनेक अभिभावक अपने पुत्र व दामादों को मृत्यु के भय से सेना व पुलिस जैसे विभागों में पद ग्रहण करने से रोकते हैं, पर युद्ध में सभी सिपाही नहीं मरते तथा घर बैठ कर सुरक्षित जीवन जीने वाले लोग भी अचानक दम तोड़ देते हैं। महाभारतकार का भी यही मत है। विदुर जी राजा धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहते हैं–महाराज ! जो युद्ध नहीं करता, वह भी मर जाता है तथा जो रणभूमि में युद्ध करता है, वह भी जीवित बच जाता है। काल को पाकर कोई उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।[2] एक अन्य प्रसंग में विदुर धृतराष्ट्र को समझाते हैं–जो एक साथ संसार यात्रा में आये हैं, उन सबको एक दिन परलोक प्रस्थान करना ही है। जिसका काल पहले आ गया, वह पहले चला जाता है। जैसे वायु तिनके को सब ओर उड़ाती रहती है, उसी प्रकार सभी प्राणी काल के अधीन होकर इस संसार में आते–जाते रहते हैं।[3]

इन स्थलों पर काल शब्द मृत्यु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शब्दकोषानुसार काल का एक अर्थ यमराज भी है। महाभारत में एकाध स्थान पर

---

१. न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा, नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित्।
पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा, कालेन सर्वं लभते मनुष्यः।।
न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं, प्राप्तुं विशेषम् मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्, कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः।।
नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।
तान्येव कालेन समाहितानि, सिद्ध्यन्ति, वर्धन्ति च भूतिकाले।।
कालेन शीघ्रं प्रवहन्ति वाताः, कालेन सृष्टिर्जलदानुपैति।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलञ्च, कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः।।
नाकालतो स्त्रीषु भवन्ति गर्भाः नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः।
नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः।।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति, नाकालतो रोहति बीजमुप्तम्। शान्ति०, २५/६–११.

२. अयुध्यमानश्च म्रियते, युध्यमानश्च जीवति।
कालं प्राप्य महाराज ! न कश्चिदतिवर्तते। स्त्री० २/५.

३. यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वशः।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ।
एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम्।
यस्य कालः प्रयात्येव तत्र का परिदेवना। स्त्री० २/६–१०

विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीता में यमराज को भी काल कहा गया है। ११वें अध्याय में अर्जुन को विराट्रूप दिखाने के पश्चात् भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—मैं सम्पूर्ण लोकों का विनाश करने के लिये उद्यत हुआ यमराज हूं।[1]

यहां पर जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक है कि क्या काल, मृत्यु व यमराज एक ही तत्त्व हैं, अथवा भिन्न हैं। महाभारत में यद्यपि काल शब्द का प्रयोग मृत्यु व यमराज के अर्थ में भी किया गया है, परन्तु सर्वक्षयकर्ता कालवश ही मृत्यु आती है तथा यमराज मृत्यु का देवता है, अतः कहीं–कहीं काल शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु महाभारतकार के अनुसार काल, मृत्यु व यमराज तीनों भिन्न तत्व हैं। एक गौतमी नामक ब्राह्मणी का पुत्र सांप द्वारा डस लिया गया। एक व्याध ने उस सर्प को पकड़ कर मारने का विचार किया। तब सर्प बोला यद्यपि मैनें इस बालक को डसा है, फिर भी मैं इस विषय में निर्दोष हूं। मैं तो पराधीन हूं। मृत्यु ने मुझे विवश व प्रेरित किया । यदि अपराध है, तो मृत्यु का है। .... तभी वहां मृत्यु आती है व कहती है— मैंने काल द्वारा प्रेरित किये जाने पर ही तुझे इस बालक को डसने को प्रेरित किया था। अतः काल ही इसकी मृत्यु का कारण है। .....तभी काल भी आ पहुंचा व बोला ......न तो सर्प ही इस बालक की मृत्यु का कारण है और न ही मृत्यु अथवा मैं। इस बालक का कर्म ही इसकी मृत्यु का प्रेरक हुआ है।[2] इस कथा में मृत्यु व काल का स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार एक सावित्री मन्त्र के जापक ब्राह्मण की कथा में आता है कि उसका मृत्युकाल आने पर धर्म, काल, मृत्यु व यमराज सभी उसके पास पहुंचे व शरीरत्याग के पश्चात् मिलने वाले उत्तम लोकों की प्रशंसा करने लगे।[3] इस कथा में भी मृत्यु, काल व यमराज का पृथक् उल्लेख किया है।

इन अर्थों के अतिरिक्त महाभारत में कालनियंता भगवान् विष्णु व सर्वसंहारक भगवान शिव को भी काल नाम से अभिहित किया गया है।[4]

महाभारत में एक स्थल पर काल का मानवीकरण भी किया गया है। मौसल पर्व में कहा गया है कि यदुवंश के विनाश के पूर्व काल साक्षात् शरीर धारण करके वृष्णि व अन्धक वंश के वंशजों के घर में चक्कर लगाया करता था।

---

१. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। श्रीमद्भगवद्गीता ११/३३

२. अनुशासन० १/१७–७१.

३. शांति० अध्याय १९९.

४. अनुशासन० १४९/५८ तथा अनुशा०. १७/४७.

वैशम्पायन जनमेजय को काल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसका स्वरूप विकराल तथा वेष भयंकर था। उसके शरीर का रंग पीलापन लिये हुए काला था। वह मूंड मूंडाये हुए पुरुष के वेश में, उनके घरों में प्रवेश करके सबको देखता रहता था व कभी–कभी अदृश्य हो जाता था।[1]

परन्तु यह वर्णन काल्पनिक अधिक प्रतीत होता है क्योंकि एक स्थान पर काल को निराकार कहा गया है।

सूर्य की गति पर आधारित काल

उचित काल व सामान्य समय, शिव, विष्णु, यम, मृत्यु के अतिरिक्त, सूर्यादि ग्रहों की गति पर आधारित काल का भी गम्भीर विवेचन किया गया है। वस्तुतः काल के बोध का आधार सूर्यादि की गति ही है। सूर्योदय होने पर दिन का अनुभव होता है व सूर्यास्त होने पर रात का। काल की दिन, मास व वर्ष इत्यादि में गणना करने की प्रक्रिया सूर्य व चन्द्रमा से सम्बद्ध है। 'कलयति आयुः इति कालः' इस व्युत्पत्ति से प्राप्त काल शब्द सूर्यादि की गति के आधार पर गिने जाने वाले स्वरूप का बोध कराता है। कैलेण्डर शब्द भी काल की गणनात्मक प्रक्रिया का संकेत देता है। महाभारत में भी सूर्यादि की गति के आधार पर गिने गये तथा दिन 'मास' वर्ष इत्यादि में विभाजित काल का विस्तृत वर्णन किया गया है। काल की सर्वाधिक सूक्ष्म इकाई निमेष मानी गई है। पंद्रह निमेष की एक काष्ठा और तीस काष्ठा की एक कला बताई गई है। तीस कला और तीन काष्ठा का एक मुहूर्त्त होता है। तीस मुहूर्त्त का एक दिन–रात होता है। तीस दिनरात का एक मास और बारह मासों का एक संवत्सर बताया गया है। उत्तरायण व दक्षिणायन इन दो अयनों को मिलाकर एक संवत्सर बनता है मनुष्यों के एक मास में पितरों का दिन–रात होता है। शुक्लपक्ष पितरों का दिन व काम काज करने का समय होता है। कृष्णपक्ष उनके विश्रामहेतु रात्रिकाल है। मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन व रात है। उत्तरायण उनका दिन है व दक्षिणायन रात्रि। देवताओं के चार हजार वर्षों का एक सत्ययुग होता है, इसी में चार सौ दिव्य वर्षों की संध्या होती है और उतने ही वर्षों का एक संध्यांश भी होता है। इस प्रकार सत्ययुग ४८०० दिव्य वर्षों का, त्रेता ३६००, द्वापर २४०० तथा कलियुग १२०० दिव्य वर्षों

---

१. कालो गृहाणि सर्वेषां परिचक्राम नित्यशः।
करालो विकटो मुण्डः पुरुष कृष्णपिंगलः।
गृहाण्यावेक्ष्य वृष्णीनां नादृश्यन्त क्वचित् क्वचित्।।
मौसल. २/१–२

का होता है। इस प्रकार एक चतुर्युगी देवताओं के १२००० वर्षो से मिल कर बनती है। एक हजार चतुर्युगी बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है तथा इतने ही युगों की उनकी एक रात्रि भी होती है। भगवान् ब्रह्मा अपने दिन के आरम्भ में संसार की सृष्टि करते हैं तथा अपने भीतर समेट कर योगनिद्रा का आश्रय लेकर सो जाते हैं। फिर अपनी रात्रि की समाप्ति पर जागकर ब्रह्मा जी पुनः जगत् की सृष्टि करने लगते हैं।[१]

इस प्रकार महाभारत में उचित काल, सामान्य काल व सूर्यादि की गति द्वारा निर्धारित काल का विवेचन पाया जाता है।

काल का महत्त्व व स्वरूप

काल के विविध अर्थों के अतिरिक्त काल के महत्त्व व स्वरूप पर भी महाभारत में प्रचुर विवेचन किया गया है। यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है कि यह काल तत्त्व एक अति महत्त्वपूर्ण, शक्तिशाली व दुर्जय शक्ति है। यह एक ऐसी अपरिहार्य शक्ति है, जिसकी सहायता मिलने पर मनुष्य को अपने कार्यों में सफलता मिलती है, तथा जिसके अभाव में निराशा ही हाथ लगती है। इस जगत् में जब सब कुछ काल आने पर ही होता है। काल का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। बलि इन्द्र को समझाते हुए कहते हैं—काल से पीडित हुए मनुष्य को न विद्या, न तप, न दान, न मित्र, और न बन्धु बान्धव ही बचा सकते हैं। . .... कालक्रम से पीड़ित व्यक्ति की कोई रक्षा नहीं कर सकता।[२]

यह कालतत्त्व सदा सावधानीपूर्वक जीवों का नियन्त्रण करता हैं इसकी दृष्टि में न कोई छोटा है न महान्, न कोई इसका प्रिय है और न ही कोई अप्रिय। यह समदृष्टि है तथा सावधानीपूर्वक सबको पकाता है; देहधारी जीव प्रमाद में रहते हैं, परन्तु यह काल सदा सोते हुओं के बीच जागता रहता है व प्रजा का संहार करता रहता है।[३] एक स्थान पर कहा गया है—जैसे कोई ऋण देने वाला व्यक्ति ब्याज का हिसाब जोड़कर ऋण लेने वालों को तंग करता है, उसी

---

१. शांति० अध्याय २३१.

२. न विद्या न तपो दानं न मित्राणि न च बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम्।।
पर्यायैर्हन्यमानानां परित्राता न विद्यते।। शांति० २२७/३१,३३.

३. न कालस्य प्रियः कश्चित्, न ह्यप्रियः कुरुसत्तम।
न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वं कालः प्रकर्षति।।
कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।। स्त्री०, २/२३–२४

प्रकार काल भी दिन, रात, मास, क्षण, काष्ठा, लव व कला तक का हिसाब लगा कर प्राणियों को पीड़ित करता है।[1]

काल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि यह निरन्तर गतिशील है तथा एक बार बीता हुआ समय दुबारा लौट कर नहीं आता। उमा–महेश्वर सम्वाद में भगवान् शिव पार्वती को काल की महिमा समझाते हुए कहते है कि जैसे आकाश में कोई भी जड़ द्रव्य स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार यह काल भी निरन्तर दौड़ लगाता रहता है। एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता।[2] एक अन्य स्थल पर बृहस्पति –इन्द्र–सम्वाद में कहा गया है–समय की प्रतीक्षा करने वाले पुरुष के लिये जो उपयुक्त अवसर आकर भी चला जाता है, वह अभीष्ट कार्य की इच्छा वाले उस पुरुष को पुनः प्राप्त होना दुर्लभ हो जाता है।[3]

महाभारत में काल सृष्टि की उत्पत्ति व संहार के कारणभूत तत्त्व के रूप में भी स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से 'सर्वकलनात्–कालः' यह निरुक्ति सार्थक है। महामुनि व्यास शुकदेव को कालमहिमा समझाते हुए कहते हैं कि काल ही प्रजाओं की सृष्टि करता है और अन्त में वही सबको अपना ग्रास बना लेता है। यह काल नामक तत्त्व प्राणियों की उत्पत्ति, पालन, संहार व नियन्त्रण करने वाला है।[4]

वस्तुतः काल सभी की शक्तियों को क्षीण करने वाला तत्त्व है। अतः सभी प्राणी इसके सामने विवश हो जाते हैं। जड़ हो या चेतन, सभी प्राणी समय बीतने के साथ अपने जीवनकाल की समाप्ति समय बीतने के साथ अपने जीवन काल की समाप्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। जैसे फल पूरी तरह पक कर डाली से अलग हो जाता है, उसी प्रकार काल भी समस्त प्राणियों को पका रहा है।

---

१. अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान् काष्ठान् लवान् कलाः।
सम्पीडयति यः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा।।
शांति०, २२७/६६–६७.

२. यथाकाशे न तिष्ठेत् द्रव्यं किंचिदचेतनम्।
तथा धावति कालोऽयं क्षणं कंचिन्न तिष्ठति।।
अनुशासन; अ० १४५/पृष्ठ ५६७३

३. यो हि कालो व्यतिक्रमेत् पुरुषं कालकांक्षिणम्।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्मचिकीर्षुणा।।
शांति०, १०३/२१.

४. कीर्तितं यत् पुरस्तान्मे सूते यच्चात्ति च प्रजाः।
यच्चेदं प्रभवः स्थानं भूतानां संयमो यमः।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वसृष्टानि भूरिशः।। शांतिपर्व, २३८/१६–२०.

बलि इन्द्र से कहता है–जैसे मनुष्य रस्सी से किसी पशु को बांध लेता है, उसी प्रकार यह भयंकर काल मुझे अपने पाश में बांधे खड़ा है .... वही मुझे वृक्ष में लगे फल के समान पका रहा है।[1]

मनुष्य चाहे अपने जीवनकाल के लिये, बनाई योजनाएं पूरी कर पाये अथवा नहीं, परन्तु काल निश्चित समय पर आ ही जाता है। एक स्थान पर कहा गया है– जैसे नदी का वेग सहसा बढ़ कर किनारे के वृक्ष का हरण कर लेता है, उसी प्रकार यह आज करूंगा और वह कल करूंगा, इस प्रकार कहने वाले पुरुष को काल सहसा आकर हर लेता है।[2] कालाक्रान्त पुरुष के जीवन में कोई आशा नहीं रहती, क्योंकि कालधर्म (मृत्यु) को पाकर कोई कभी पुनः जीवित नहीं हुआ है। काल द्वारा निर्मित पथ के पथिक को भला कौन जिला सकता है।[3]

जगत् की उत्पत्ति, पालन व संहार करने वाले अजेय काल की शान्ति भी समय आने पर स्वतः हो जाती है जिस प्रकार वन में लगी दावानल स्वयं ही कालान्तर में बुझती है। आदि पर्व में कहा गया है–काल ही प्राणियों की उत्पत्ति व संहार करता है। संहार करते हुए इस काल को भी काल ही शान्त करता है।[4] काल ही मृत्यु, तथा सुख व दुःख का स्वामी है।[5]

प्रश्न उठता है कि क्या काल स्वयं ही उत्पत्ति व संहार करता है, अथवा किसी की सहायता से यह सब कार्य करता है। किस प्रकार से काल दिन, मास, काष्ठा व लव तक का हिसाब रखता है व प्राणियों को उचित समय पर फल देता है। महाभारत में अनेक स्थलों पर कहा गया है कि सभी कार्यों का फल भी उचित काल आने पर ही प्राप्त होता है। काल ही कर्मफलप्रदाता है। भीष्म पितामह युधिष्ठिर को महाभारत युद्ध की अपरिहार्यता व कालप्रेरणावश घटित होने

---

१. अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः।
बदध्वा तिष्ठति मां रौद्र पशुं रशनया यथा।
सोऽयं पचति कालो मां वृक्षे फलमिवागतम्।।
वही, २२७/८२–८४.

२. इदमद्य करिष्यामि श्वः कर्त्तास्मीति वादिनम्।
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम्।। शांति०, २२७/६८–६६.

३. न पुनर्जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।
कृतान्तविहिते मार्गे मृतं को जीवयिष्यति।। वही, १५३/१२–१३.

४. कालो सृजति भूतानि, कालः संहरति प्रजाः।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः।। आदिपर्व, १/२४८.

५. शांति०, १२२/३३.

की बात समझाते हुए कहते हैं–जैसे लोहार या बढ़ई का बनाया यन्त्र सदा अपने चालक के अधीन रहता है, उसी प्रकार यह सारा जगत् कालयुक्त कर्म की ही प्रेरणा से सचेष्ट हो रहा है।[१] यह काल नामक तत्त्व प्रजा के कर्म का साक्षी है। वह कर्म की डोरी का सहारा लेकर भविष्य में मिलने वाले सुख–दुःख का उत्पादक होता है व समयानुसार कर्मों का फल प्रदान करता है।[२] गौतमी व सर्प की कथा में हम पीछे देख चुके हैं कि बालक के कर्मों से प्रेरित होकर काल ने मृत्यु को प्रेरित किया व मृत्यु ने सर्प को काटने के लिये प्रेरित किया। इस प्रकार बालक की मृत्यु का प्रमुख प्रेरक कारण उसका कर्म था, जिससे प्रेरित हुए काल ने बालक के प्राण हर लिये। काल स्वयं स्वतन्त्र रूप से उत्पत्ति व संहार नहीं करता। सभापर्व में कहा गया है–काल डंडा उठा कर किसी का सिर नहीं काटता। यह काल का ही प्रभाव है कि पुरुष गलतफहमी का शिकार हो जाता है।[३] इतना ही नहीं, कालवश मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा वे आपस में ही लड़–लड़ कर मर जाते है। यह काल का ईश्वरीय रूप कहा गया है।[४] काल के वश ही भावनाएं प्रभावित होती हैं। सब प्रकार की प्रवृत्ति–निवृत्ति व उनकी विकृतियां काल के ही स्वरूप कही गई हैं।[५] काल से ही प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है। कभी कभी तो मानव अपने मूल स्वभाव के विपरीत आचरण भी कर बैठता है, तथा बाद में पश्चात्ताप की अग्नि में जलता हुआ सोचता है, कि हे भगवान् ! यह मुझे क्या हो गया था.... ऐसा मैंने कैसे कर डाला। .... इस प्रकार के अनिच्छित व अनभीष्ट कार्यों की सम्पन्नता कालवश ही होती है। भीष्म पितामह युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं–काल के उलट फेर से प्रभावित तथा स्वभाव से प्रेरित हुआ मनुष्य विवश सा होकर उत्तम, मध्यम व अधम कर्म करता है।[६] यहां पर्याय शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका तात्पर्य है कि काल के उलट फेर से ही सज्जन व्यक्ति भी अधम कार्य कर बैठता है तथा दुर्जन भी उत्तम कार्य कर गुजरता है।

---

१. त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टते जगत्।। शांति०, ३३/२२

२. कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहताः।
कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः।
सुखदुःखोदर्कं कालं कालफलप्रदम्।। वही, ३३/१७–१६

३. न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्य चित्।
कालस्य बलमेतद् हि विपरीतार्थदर्शनम्।। सभा०, ८१/११

४. यद् हन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम्। शांति०, ३३/१८

५. प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिन्स्तथैव च निवृत्तयः।
तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम्।। अनुशासन० १/५४

६. कालसंचोदितो लोकः कालपर्यायनिश्चितः।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः।। शांति०, ६२/१०

यदि इस प्रकार काल की प्रभुसत्ता मान लें तो प्रश्न उठता है कि क्या परमपिता परमात्मा के अंशभूत हम सब मानव, काल के हाथों मात्र कठपुतली ही हैं, जिन्हें काल अपनी इच्छानुसार नचाता रहेगा ? क्या हम काल का कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकते ? यदि वास्तव में ऐसा ही मान लिया जाये, तब तो हमारी विद्या, बुद्धि, कर्मठता, परिश्रम सब व्यर्थ ही है। ऐसी स्थिति में आगामी दुःखों से बचने के लिये किये जाने वाले प्रगति के कार्यों का क्या प्रयोजन है ? यदि नदियों में बाढ आने के कारण जनधन हानि होनी ही है, तो नदियों पर बांध बनवाने के लिये करोड़ों रूपये क्यों खर्च किये जायें ? इसी प्रकार यदि काल वश मृत्यु होनी ही है तो रोगी का इलाज क्यों करवाया जाये ?

महाभारत ने ऐसे ही अनेक प्रश्नों को एक कथा में उठाया है व उनका तर्कसंगत समाधान भी दिया है। एक पूजनी नामक चिड़िया राजा ब्रह्मदत्त के महल में अनेक वर्षों तक रही। एक बार राजकुमार ने उसके बच्चे मार डाले, व चिड़िया महल छोड़ कर जाने लगी। राजा उसे रोकते हुए बोला कि मानव काल के ही प्रभाव से सब क्रियाएं करता है। इसमें कोई किसी का अपराध नहीं करता। इस पर चिड़िया ने उत्तर दिया कि यदि आप काल को ही सब क्रियाओं का कारण मानते हैं, तब तो किसी का भी किसी के साथ वैरभाव नहीं होना चाहिये। फिर अपने भाई तथा सम्बन्धियों के मारे जाने पर उनके सगे–सम्बन्धी बदला क्यों लेते हैं ? यदि कालवश ही जन्म, मृत्यु, सुख–दुःख, उन्नति व अवनति होती है तब पूर्वकाल में देवताओं व असुरों ने परस्पर युद्ध व वध क्यों किया ? वैद्य लोग रोगियों की दवा करने की अभिलाषा क्यों करते हैं ? यदि काल ही सबको पका रहा है तो औषधियों का क्या प्रयोजन है ? फिर कर्म करने वालों के लिये विधिनिषेधरूपी धर्म के पालन का नियम क्यों बनाया गया है।[1]

पूजनी चिड़िया के ये शब्द किसी भी बुद्धिजीवी के हृदय के उद्‌गार हो सकते हैं। महाभारत में ही किसी अन्य प्रसंग में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया

---

१. यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद् भवेत्।
कस्मात् त्वपचितिं यान्ति बान्धवाः बान्धवैर्हतैः।।
कस्माद्देवासुराः पूर्वमन्योन्यमभिजघ्निरे।
यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ।।
भिषजो भेषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः।
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम्।
प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः।
यदि कालः प्रमाणं कस्मात् धर्मोऽस्ति कर्तृषु।। शांति०, १३६/५४–५७

है। महाभारतकार कहते हैं कि जब काल का प्रभाव पड़ता है तो सर्वप्रथम व्यक्ति की बुद्धि ही नष्ट हो जाती है। तुलसीदास ने कहा है–**विधाता जाकू दारूण दुःख देई। ताकी मति पहले हर लेई।** और जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक ही नष्ट हो जाये तब तो व्यक्ति का विनाश निश्चित ही है।[1] एक अन्य स्थल पर कहा गया है–कालपीडित व्यक्ति शोकमोहित अथवा भ्रान्तचित्त भी हो सकता है, क्योंकि कालाक्रान्त पुरुष की बुद्धि संकटग्रस्त होकर फटी हुई नौका के समान शिथिल हो जाती है।[2] परन्तु जो संकट के समय भी धैर्य धारण रख सकता है, बुद्धि द्वारा समस्या का हल सोच सकता है, वही काल से अपनी रक्षा कर सकता है। महर्षि व्यास, शुकदेव को उपदेश देते हुए कहते हैं–बुद्धिमान् और धीर पुरुष बुद्धिरूपी नौका द्वारा कालरूपी नदी को पार कर लेते हैं।[3]

अब जिज्ञासा होती है कि क्या बुद्धि द्वारा सभी व्यक्ति काल से अपनी सुरक्षा कर सकते हैं, अथवा कुछ विशिष्ट व ईश्वर कृपाप्राप्त महात्मा ही इसमें सफल होते हैं। महाभारत का उत्तर है–सभी काल से अपनी सुरक्षा नहीं कर पाते। अविवेकी जन तो काल के प्रवाह में बह जाते हैं क्योंकि वे कामनाओं में आसक्त व चंचलबुद्धि वाले होते हैं। कालरूपी नदी में कामरूपी ग्राह से पीड़ित होने के कारण, उनके लिये ज्ञान भी नौका नहीं बन पाता।[4] परन्तु यह निश्चित है–**धीरा हि तरन्त्यापदम्**। यदि काल का प्रतिकार करना अभीष्ट है, तो वह केवल बुद्धिबल द्वारा ही सम्भव है। व्यासमुनि, शुकदेव को उपदेश देते हैं कि मनुष्य बुद्धिबल के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से सैकड़ों आघात करके भी आने वाले अनर्थ को नहीं रोक सकता।[5] परन्तु अविवेकी तो काल की चक्की में पिसते रहते हैं। यह दुर्जय कालचक्र उनके कर्मानुसार मनुष्यों को सुख–दुःख, उत्थान–पतन व जीवन–मृत्यु प्रदान करता रहता है।

यहां एक समस्यामूलक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि काल ही कर्मफल देने वाला तथा जगत् की उत्पत्ति व संहार करने वाला तत्त्व है, तो फिर

---

१. बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २

२. कालेनाभ्याहतः शोचेन्मुह्येद् वाप्यथ विभ्रमेत्।
नित्यं कालपरीतस्य मम वा मद्विधस्य वा।
बुद्धिर्व्यसनमासाद्य भिन्ना नौरिव सीदति। शांति०, २२७/३७–३८

३. एतत् प्रज्ञामयैर्धीरा निस्तरन्ति मनीषिणः।
प्लवैरप्लवन्तो हि ......। वही २२५/१८

४. कामग्राहगृहीतस्य ज्ञानमप्यस्य न प्लवः। वही०, २१

५. नागामिनमनर्थं हि प्रतिघातशतैरपि।।
शक्नुवन्ति प्रतिवोदुमृते बुद्धिबलान्नराः। शांति० २२७/३२

ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च शक्ति परब्रह्म क्या है ? उसे सब गतिविधियों का नियामक कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि एक स्थान पर तो काल को ही ब्रह्म मान लिया गया है। बलि इन्द्र को उपदेश देता है[१]—कुछ विद्वान् कहते हैं कि यह सब कालसंज्ञक ब्रह्म है। इसका इसी रूप में चिन्तन करना चाहिये। .... यह कालरूप ब्रह्म अनन्त जल से परिपूर्ण महासागर के समान गम्भीर, अनादि व अनन्त है, उसे ही क्षर एवं अक्षर रूप कहा गया है। तत्त्वदर्शी विद्वानों का निश्चित मत है कि यह काल ब्रह्म स्वयं निराकार होते हुए भी समस्त प्राणियों के भीतर जीव का प्रवेश कराता है।

प्रसंगवश काल की एक और विशेषता सामने आई कि काल निराकार है। इसे इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। उसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियां (मास, पक्ष, अहोरात्र, ऋतु एवं वर्ष) पांच भेदों से युक्त काल का अनुभव नहीं कर पातीं।[२]

इस प्रकार आपाततः तो काल परब्रह्म का समकक्ष जैसा ही प्रतीत होता है, परन्तु महाभारत में परब्रह्म व काल की भिन्नता प्रतिपादित करते हुए, परब्रह्म को ही काल का उत्पत्तिकर्ता व नियन्त्रक माना गया है। महर्षि व्यास शुकदेव को समझाते हुए कहते हैं[३] कि काल रूपी महान् नद बह रहा है। इसमें वर्ष रूपी भंवरें सदा उठती रहती हैं। मास इसकी ऊंची ऊंची लहरें है। ऋतुएं वेग है। पक्ष लता व तृण हैं। निमष उन्मेष फेन हैं व दिन तथा रात जलप्रवाह हैं। कामदेव भयंकर ग्राह हैं। वेद व यज्ञ नौका है। धर्म प्राणियों का आश्रयभूत द्वीप है। सत्यभाषण व मोक्ष दोनों किनारे हैं। हिंस्ररूपी वृक्ष इस कालरूपी प्रवाह में बह रहे हैं। ब्रह्म ही इस कालरूपी नदी को उत्पन्न करने वाला पर्वत है।[४]

ब्रह्मा के एक दिन के पश्चात् आने वाली रात्रि में जो प्रलय होती है, उस ब्राह्म प्रलय तथा महाप्रलय के वर्णन में प्रलय की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया गया है तथा अन्त में कहा गया है कि काल ज्ञान (समष्टि बुद्धि) को ग्रस

---

१. गम्भीरं गहनं ब्रह्म महत्तोयार्णवं यथा।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च।
सत्त्वेषु लिंगमावेश्य निर्लिंगमपि तत् स्वयम्।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः।। शांति० २२४/४८–४६

२. तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानुपश्यन्ति पंचधा। शांति० २२४/५२

३. शांति. २३५/१४–१६

४. युगह्रदौघमध्येन ब्रह्मप्रायभवेन च। शांति० २३५/१७

लेता है, शक्ति उस काल को अपने अधीन कर लेती है, फिर महाकाल शक्ति को और परब्रह्म महाकाल को अपने अधीन कर लेता है।[1]

इस प्रकार परब्रह्म ही काल तत्त्व का नियामक है तथा उससे परे भी है। परब्रह्म को ऐसी शक्ति कहा गया है, जहां काल भी पकाया जाता है, अर्थात् जो काल का भी काल है।[2] यह काल चक्र यद्यपि निराकार व इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, तथापि बुद्धि द्वारा अनुभव किया जाता है। व्यास मुंनि शुकदेव जी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि यह काल तत्त्व बुद्धिरूपी गुफा में स्थित है।[3]

इसका अर्थ हुआ कि काल का ज्ञान बुद्धिसापेक्ष है; यदि किसी की बुद्धि (व्यावहारिक अर्थमें) ठीक न हो तो क्या उसे काल का ज्ञान नहीं होगा। पागल व्यक्ति को काल की अवधि का अहसास नहीं होता कि उसने कब अथवा कितने दिन पूर्व स्नान किया अथवा खाया था। एक बात और, जब हम किसी भी कार्य में तल्लीन हो जाते हैं, तब बुद्धिमान् पुरुष को भी यह अनुभव नहीं होता कि उसे अमुक कार्य करते करते कितना काल बीत गया है। आइंस्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धांत के अुनसार काल ज्ञान सापेक्ष है व संक्षेप में उनका मत है कि पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण के कारण घड़ी की सुइयां तेजी से घूमती हैं तथा वायुयान द्वारा अन्तरिक्ष में जाते समय धीरे घूमती हैं, क्योंकि अन्तरिक्ष गुरुत्वाकर्षण की सीमा से बाहर है। वैज्ञानिकों का मत है कि एरियल स्पेसक्राफ्ट में यात्रा करते हुए यदि एक वर्ष बीतता है तो पृथ्वी पर उसी अवधि में बीस वर्ष बीत जाते हैं। इस प्रकार मनुष्यों की एक हजार चतुर्यगी से ब्रह्मा का एक दिन बनता है, यह पौराणिक मान्यता भी वैज्ञानिक प्रतीत होती है, क्योंकि अन्तरिक्ष से ऊपर के क्षेत्र में गुरुत्वाकर्षणशक्ति अन्तरिक्ष की गुरुत्वाकर्षणशक्ति की अपेक्षा और भी कम होती जाती है।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्तानुसार मानव शरीर में भी कहीं पृथ्वी तत्त्व अधिक प्रबल होता है तो कहीं वायु तत्त्व। कुण्डलिनी योग में सुषुम्णा स्थित मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध आदि चक्रों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश की स्थिति बताई है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में अन्तरिक्ष में कालगति धीमी है व पृथ्वी पर तेज है, उसी प्रकार शरीर में भी अवश्य ही ऐसे

---

१. कालो गिरति विज्ञानं कालं बलमिति श्रुतिः।
बलं कालो ग्रसति तु तं विद्वान् कुरुते वशे। शांति० २३३/१६

२. यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं वेदेह न कश्चन। वही, २३६/२५

३. तत् कालचक्रं निहितम् गुहायाम्। शांति० २४५/३२

स्थान होते होंगे, जहां पर मन एकाग्र होने पर कालगति का अनुभव नहीं होता। शिवसंहिता में कहा गया है कि जब योगी विशुद्ध चक्र पर ध्यान एकाग्र करता है तो वह काल पर विजय पा लेता है। इसी स्थिति में, वह हजारों वर्षों तक शरीर रख सकता है। समाधि से जागने पर उसे एक हजार वर्ष भी एक क्षण के समान प्रतीत होते हैं।[1]

महाभारतकार का भी स्पष्ट मत है कि योगसाधना द्वारा काल को जीता जा सकता है। महामुनि व्यास शुकदेव को अध्यात्मज्ञान का उपदेश देते हुए कालजय की प्रक्रिया समझाते हैं व कहते हैं कि सब प्रकार के संकल्पों का नाश करके चित्त को सूक्ष्म बुद्धि में लीन करो। इस प्रकार बुद्धि में चित्त का लय करके साधक काल पर विजय प्राप्त कर सकता है।[2]

इस भाँति, निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि महाभारत एक ही व्यक्ति अथवा एक ही समय की रचना नहीं है तथापि इसमें कालतत्त्व के सभी बिन्दुओं पर गम्भीर विवेचन किया गया है।

---

१. ध्यानं करोति यो नित्यं य योगीश्वरपण्डितः।
किंत्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे।।
तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः।
संवत्सरसहस्त्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै।।
यदा त्यजति तद्ध्यानं योगीन्द्रोऽवनिमण्डले।
तदा वर्षसहस्त्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती।। शिवसंहिता ५/११७–१२१

२. यथाहृत्य सर्वसंकल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत्
सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालंजरो भवेत्।। शांति० ८/६/६

भगवद्गीता में काल-स्वरूप

प्रो. बलदेवराज शर्मा

१. भगवद्गीता परिचय-उपनिषत्सार, स्मृति-ग्रन्थ, साम्प्रदायिकता से ऊपर, लोकप्रिय ग्रन्थ

(क) भगवद्गीता, उपनिषद् –ज्ञान रूपी गौओं से दोहित, ज्ञानामृत दुग्ध है–

सर्वोपनिषदो गावो....दुग्धं गीतामृतं महत्। श्रुतम्

(ख) गीता वस्तुतः श्रुति के अर्थ का मनन तथा अनुसरण करती है, श्रुति के अर्थ का मनन अनुसरण करने के कारण इसे स्मृति कहा जाता है क्योंकि स्मृति सदैव श्रुति का अनुसरण करती है–

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।[1]

(ग) यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक भेदभाव की शैली से उभर कर लिखा गया है इसलिये किसी को ठेस पहुँचाए बिना यह सब की मानसिक उलझनों और बौद्धिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने के कारण विश्वविख्यात लोकप्रिय ग्रन्थ बना।

२. भगवद्गीता का मुख्य विषय-जीव को अपने स्वरूप ब्रह्म में स्थापित करना

(क) भगवद्गीता का मुख्य विषय तथा लक्ष्य सामर्थ्यानुरूप उपायों के अनुष्ठान द्वारा जीव को अपने परम स्वरूप–ब्रह्म में स्थापित करना है। यथा–

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।

---

१. रघुवंशम्. २/२

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।[1]

(ख) **काल-भगवद्गीता का गौण विषय** –फिर भी इस के सभी पक्षों का निर्वाह अतः काल विवेचन गीता का मुख्य विषय न होकर गौण विषय है परन्तु गौण स्थिति के बावजूद काल के सभी पक्षों का निर्वाह हो पाया है।

(ग) **काल के स्वरूपज्ञान के लिये परम तत्त्व ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान अपरिहार्य**

भगवद्गीता में काल स्वरूप–ज्ञान के लिए परम तत्त्व (ब्रह्म) के स्वरूप का ज्ञान अनिवार्य है।

३. परमतत्त्व-परीक्षण द्विविध–स्वरूपतः तथा स्वभावतः

भगवद्गीता में परम तत्त्व का दो प्रकार से परीक्षण हुआ है। (i) स्वरूपतः तथा (ii) स्वभावतः।

(i) **स्वरूप विवेचन**

परम तत्त्व ब्रह्म अजर, अमर अविनाशी, अव्यय, अविभक्त, अनन्त, आनन्दमय, सर्वव्यापक, अव्यक्त, चेतन, नित्य तत्त्व है। यह ब्रह्म का स्वरूप धर्म है। यथोपनिषदुक्त ब्रह्म के स्वरूपधर्म "सच्चिदानन्द" की अपेक्षा गीता में तत्पर्यायों का प्रयोग किया गया है।[2]

---

१. भ.गी. १२/८.११

२. अविनाशि तु तद्विद्धि ....। वही २/१७
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः। २/२४
यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति। ८/२०
अव्यक्तोयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। २/२५
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम् । १३/१७
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। ७/१०
वेत्तासि वेद्यम्। ११/३८
प्रभुः साक्षी। ६/१८
भूतानामस्मि चेतना! १०/२२
ज्ञानं ज्ञानवतामहम् । १०/३८
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणम्। १३/१४
बहिरन्तश्च भूतानाम् । १३/१५
दूरस्थं चान्तिके च तत्। १३/१५
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। १३/१६
विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति। २/६४
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। ६/२८

(ii) स्वभाव विवेचन–माया, प्रकृति, महद्ब्रह्म अभिधाना ब्रह्म की अभिन्न स्वभावशक्ति

माया, प्रकृति, महद् ब्रह्म गीता में परमतत्त्व के स्वभाव धर्म बताए गये हैं। इस धर्म अथवा शक्ति से वह जगत् रूप में आविर्भूत होता है। इसी शक्ति से परमतत्त्व सृष्टि कर्म करता है। यदि वह स्वभाव शक्ति कर्मपरक न हो तो लोक नष्ट हो जायें और सर्वत्र शून्य ही शून्य हो जाये।[1]

परमतत्त्व, स्वरूप परिवर्तन के बिना ही स्वभावभूत प्रकृति शक्ति के माध्यम से नामरूपमय जगत् के रूप में आविर्भूत होता है।[2]

४. प्रकृति अथवा स्वभाव शक्ति-परमतत्त्व की कूटस्थ कल्पना शक्ति

परमतत्त्व की अभिन्न शक्ति, जिस के द्वारा सारा चराचर जगत् रचा जाता है–वह भी भूतों के रूप में परिणमित नहीं होती। भूत उस के मात्र काल्पनिक रूप हैं। वह उन रूपों में कूटस्थ बनी रहती है।[3]

क्षरणशील भूत, भावरूप, काल्पनिक होने के कारण तत्प्रवर्तयित्री शक्ति कूटस्थ तथा अपरिणामी बनी रहती है।

---

१. (i) यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यन्द्रितः। ..३/२३
(ii) उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
अतः संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः। ३/२४
(iii) ....वर्त एव च कर्मणि। ३/२२

२. (i) अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।। वही,४/६
(ii) प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। वही, ३/२७
(iii) ....स्वभावस्तु प्रवर्तते। वही., ५/१४
(iv) प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। वही, ६/८
(v) मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। वही,६/१०
(vi) मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।। वही, १३/३
(vii) सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। वही; १४/४

३. (i) ममात्मा भूतभावनः। वही ., ६/५
(ii) भावा मानसा जाताः वही १०/६
(iii) भूतभावन। वही.,१०/१५

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।[1]

कूटस्थ शक्ति स्वयं अपरिवर्तित रहते हुए भाव मात्र से जगत् की रचना के कारण स्वभाव शक्ति के नाम से भी जानी जाती है।

.......**स्वभावस्तु प्रवर्तते।**[2] वही.,५/१४

५. प्रकृति से जगत् का संरचना क्रम-त्रिगुणाविर्भावपूर्वकः सत्त्व-रजस्-तमस् क्रम से

प्रकृति जब संरचनोन्मुखी होती है तो उस से तीन गुणों का क्रमपूर्वक आविर्भाव होता है–गुणों द्वारा लौकिक वस्तुओं का आविर्भाव, अस्तित्व तथा विनाश क्रम प्रचलित होता है।[3]

६. सत्त्व रजस् तमस्-शक्ति के प्रकाशन (प्रारूपण) प्रवृत्ति (रूपायन) प्रमाद (विलयन) क्रम (प्रक्रिया) से अथवा तपस्-सृजन-लय प्रक्रिया से ही–कालचक्र प्रवर्तन–कर्मचक्र प्रवर्तन

त्रिगुण वस्तुतः वस्तुओं के प्रारूपण (प्रकाशन) रूपायन (प्रवृत्ति/प्रकलन) तथा विलयन (प्रमाद/अप्रवृत्ति) प्रक्रिया के प्रतीक हैं–ऐसा उन के धर्म निरूपण से स्पष्ट है, क्योंकि सत्व को प्रकाशक, धृत्युसाही (भ.गी., १४/६; १८/ २६), रजस् को रागात्मक, कर्मसंगी, फलप्रेप्सु (भ. गी., १४/७; १८/२७) तमस् को मोहात्मक, अप्रवृत्तिपूर्ण, प्रमादी तथा स्तब्ध (भ.गी., (१४/८; १८/२८) कहा गया है। भगवद् गीता में प्रकृति–संरचना क्रम के संकेतक सत्त्व, रजस्, तमस्–उपनिषद् युगीन, तपस् सृजन तथा लय के प्रतिनिधि अथवा उन के (तपस्, सृजन और लय के) ही नवीन नाम हैं। प्रकृति की सत्त्व रजस् तमसात्मक धड़कन (स्पन्दन) ही कर्म/काल चक्रप्रवर्तन है।

(i) **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः**[4]

(ii) **कालः कालयतेर्गतिकर्मणः।**[5]

७. सृष्टि–प्रक्रिया (कर्म) और काल सम्बन्ध

जैसे कि पूर्व निर्दिष्ट प्रकृति शक्ति के त्रिगुण–निरूपण से स्पष्ट है और प्रत्यक्षतः लोक व्यवहार से भी स्पष्ट है कोई भी लौकिक वस्तु उत्पत्ति के पश्चात् धीरे–धीरे वृद्धि को प्राप्त करती है। यह वृद्धि, संख्या तथा आकार–उभयात्मक होती

---

१. वही, १५/१६
२. वही ५/१४
३. वही ३/२७, १४/५, १३/१६
४. वही. ८/३
५. निरुक्त, २/२५

है। यह उभयात्मक वृद्धि पुनः ह्रास तथा विनाश में लीन हो जाती है एवं सभी वस्तुओं का आदि मध्य और अन्त है। उत्पत्ति, वृद्धि और ह्रास क्रम की स्थिति विशेष को कला कहते हैं। ऐसी अनेक कलाओं की संरचना से ही वस्तु /वस्तुएँ अस्तित्व में आती हैं और पुनः उन के ह्रास तथा विनाश से वे विलीन होती हैं। अखण्ड तथा अविभक्त परम तत्त्व अपनी शक्ति के सम्बन्ध से इन कलाओं में विकीर्ण सा दिखाई देता है।

कलिश्च कलाश्च किरतेः विकीर्ण मात्राः।[१] निरुक्त, ११/१२

शक्ति से प्रभु/परमतत्त्व, कलाओं की उत्पत्ति वृद्धि, ह्रास, तथा विनाश करता है हा। इसी प्रक्रिया में कर्म तथा काल के स्वरूप की समस्या का समाधान निहित है।

(क) भूत कलाओं की सरंचना–प्रक्रिया का ही नाम कर्म है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः।[२]

(ख) कलाओं के आदि, मध्य, अन्त अथवा उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास, विनाशक्रम अथवा उस क्रम की परम्परा की गणना ही काल है। इसे क्षरणशील काल कहते हैं।

(i) **मुहुर्मूह्र इव कालः।**

कालः कालयतेर्गतिकर्मणः ।[३]

(ii) **एवं परम्पराप्राप्तम्........। स कालेनेह.................. ।।**[४]

(ग) शक्ति के माध्यम से सृष्टि प्रारूपण, प्रकलन और विलयन रूप निरन्तर प्रवर्तमान चक्र के प्रवर्तयिता के रूप में परम–तत्त्व अथवा ईश्वर को भी काल संज्ञा से अभिहित किया गया है। उसे अक्षय काल कहा गया है।

(i) **अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।**[५]

(ii) **कालः कलयतामहम्।**[६]

(iii) **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः।......**[७]

इस प्रकार से भगवद्गीता में काल के दो रूप उजागर होते हैं। (i) क्षरण शील काल तथा (ii) अक्षय काल।

---

१. निरुक्त, ११/१२
२. भ.गी. ८/३
३. निरुक्त २/२५
४. भ.गी ४/२
५. वही १०/१३
६. वही १०/३०
७. वही

८. स्वभाव, शक्ति और कर्म-काल के पर्याय तथा इस का हेतु

क्षरणशील काल हो अथवा अक्षय काल, पूर्वनिर्दिष्ट स्वभाव शक्ति अथवा कर्मज्ञान के बिना उस को समझ पाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है। वस्तुतः स्वभाव, कर्म, काल परस्पर अयुतसिद्ध है। इसीलिये उत्तरवर्ती काल में कभी–कभी वे परस्पर पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते देखे गये हैं। करम, होनी, भावी, राम विधि इत्यादि शब्द पर्याय के रूप में इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

(i) **समय करै नर क्या करै, समय बड़ा बलवान्।।**

भीलों डोला लूट लिया वही अरजन वही बान।।– परम्परा से –(काल–कर्मकर्ता ईश्वर के रूप में)

(ii) **करम गति टारे नाहीं टरे।**

होनी हो के रहे।। कबीर– (करम (कर्म) = होनी (भावी) स्वभाव)

(iii) **सुनहु भरत भावी प्रबल विहसि कहे मुनिनाथ।**

हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ।। (विधि और कर्म सम्बंध) भावी–रामचरितमानस

(iv) **होई वही जो राम रचि राखा का करि तर्क बड़ा बई साका।**

रामचरितमानस

(iv) **रहिमन चुप करि बैठि रहो देखि दिनन को फेर।**

जब नीके दिन आएंगे बहुरि न लागे बेर।। रहीम

(ईश्वर = काल= कर्म)

९. कर्म परम्परा की गणना -लौकिक काल तथा दिव्य काल द्वारा

क्षरण शील काल का दो प्रकार का आकलन गीता में दृष्टिगोचर होता है (i) लौकिक काल तथा (ii) दिव्य काल काल के समान, कर्म का भी भगवद्गीता दो प्रकार का विभाग मानती है– ऐसा उस की घटनाक्रम की गणना शैली से स्पष्ट है।

भगवद्गीता में कर्म विभाग दो प्रकार का उपलब्ध होता है– मनुष्यकृत कर्म जिससे कि मनुष्य के कर्मों का इतिहास बनता है और दूसरा सृष्टि कर्म जिससे सृष्टि के उद्भव, स्थिति और प्रलय क्रम का दिग्दर्शन होता है। उसे सृष्टि का इतिहास कहते हैं। मानव कर्म के इतिहास की गणना लौकिक काल से की जाती है और सृष्टि–इतिहास की घटनाओं की गणना दिव्य काल से होती है।

१०. लौकिक काल के प्रमापक मानः क्षण, अहोरात्र, पक्ष, अयन, वर्ष

लौकिक काल के प्रमापक के रूप में भगवद्‌गीता में क्षण, अहोरात्र, पक्ष,अयन तथा वर्ष मानों का उल्लेख है।[1]

११. दिव्य काल प्रमापक मानः युग, महायुग, कल्प इत्यादि

दिव्य काल के प्रमापक के रूप में भी लौकिक मानों का ही प्रयोग किया गया है।[2] गीता में दिव्य काल प्रमापक मान के रूप में युग और सहस्रयुग का कथन है। सहस्र युग ब्रह्मा का एक दिन माना गया है और इतने ही मान की रात्रि मानी गई है। ब्रह्मा के दिव्य दिन में सृष्टि होती है और रात्रि में प्रलय हो जाती है। इसे काल्पिक सृष्टि प्रलय कहते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रिविदो जनाः ।।[3]

दिव्य काल के सम्बन्ध में इतना कहकर और अहोरात्रविदों अथवा कालविदों का उल्लेखात्मक संकेत करके दिव्य काल के प्रमापकों के ज्ञान के लिए गीता ने पाठकों को कालविदों की शरण लेने का संकेत कर दिया है।

कालविदों के अनुसार भगवद्‌गीता में उल्लिखित युग चतुर्युगी के अर्थ में है। चतुर्युगी में कलि, द्वापर, त्रेता तथा सत युग–चार युग होते हैं। चतुर्युगी जब सहस्र बार व्यतीत होती है तो वह महायुग[4] होता है । यह ब्रह्मा का एक दिन तथा इसी मान की ब्रह्मा की एक रात्रि होती है। तीस दिव्य अहोरात्रि के मान से ब्रह्मा का एक दिव्य मास और बारह दिव्य मासों से एक दिव्य वर्ष और सौ दिव्य वर्षों

---

१. (क) भ. गी. ३/४ (ख) वही, ८/२४–२६

२. (क) कलियुग–४३२०००
द्वापर "–८६४०००
त्रेता " १२६६०००
सत "–१७२८०००
(ख) Monier Williams, Skt. Eng. Dic. see under- 'कल्प'

टिप्पणी–ऐसे दिव्य काल का ज्ञान योगियों को दिव्य दृष्टि से ही सम्भव है इसीलिए मानव की बुद्धि से ऐसे काल की गणना नितान्त असम्भव है।

३. भ. गी., ८/१७

४. १००० महायुग (चतुर्युगी) ४३२ ० ० ० ० × १००० = दिव्य दिन / कल्प
४३२०००० × १००० = दिव्य रात्रि / कल्प
८६४०००० × १००० × ३६० = दिव्य वर्ष
८६४०००० × १००० × १०० = ब्रह्मा की आयु

से ब्रह्मा की पूर्ण आयु है। इस के पश्चात् ब्रह्मा विलीन हो जाता है और उसकी संपूर्ण सृष्टि भी लीन हो जाती है। इसे महाप्रलय कहते हैं। महाप्रलय के अनन्तर नये ब्रह्मा और नयी सृष्टि का उदय होता है इसीलिए गीता में कहा गया है कि ब्रह्मा से लेकर सम्पूर्ण सृष्टि निरन्तर पुनरावृत्ति वाली है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।[१]

१२. ज्योतिसम्पन्न काल जीव का उत्थानकारक और तमः प्रधान काल जीव की अधोगति का कारण

भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीव का गमन काल जब अग्नि (दीप–ज्योति) अथवा आकाशीय ज्योतिपिण्डों से सम्पन्न होता है जिन का स्पष्टतया दिन, शुक्ल, पक्ष, उत्तरायण काल के रूप में उल्लेख किया गया है, तब जीव ब्रह्मलोकों को प्राप्त होता है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।[२]

पुनः कहा गया है कि जो तमः प्रधान काल यथा धूमपूर्ण काल रात्रि कृष्णपक्ष दक्षिणायन में देह त्यागते हैं वे पुनरावृत्ति मात्र को प्राप्त होते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।[३]

यद्यपि यह ज्योति तथा तमः प्रधान काल ज्ञान और अज्ञान के प्रतीक हैं परन्तु ज्योतिष शास्त्र के सौजन्य से जाना जाता है कि प्रकाश प्रधान ग्रहों के योग से व्यक्ति ऊर्जस्वी होता है और क्षीण अथवा तमः प्रधान ग्रहों के योग से वह ग्लानि पूर्ण जीवन व्यतीत करता है।

१३. कर्मचक्र अथवा कालचक्र में पुरुष (ईश्वर तथा जीव) की स्थिति

चेतन पुरुष[४] और प्रकृति दोनों नित्य हैं। प्रकृति वस्तुतः पुरुष से भिन्न नहीं अपितु उसका स्वभाव है। इसी स्वभाव शक्ति से वह कर्म तथा उससे उद्भूत काल चक्र का निर्माण करता है। तत्पश्चात् उन से रागवश उनका अनुगमन करता है। एवं परम पुरुष परमात्मा ही देह में भोक्ता जीव सा, अनीश सा बनता है।

---

१. भ.गी., ८/१६

२. वही, ८/२४

३. वही, ८/२५

४. पुरुष यहाँ ईश्वर और जीव दोनों का वाचक है। शक्ति सम्पन्नता की दृष्टि से पुरुष ईश्वर है। शक्ति से रचित नामरूपों के साथ तादात्म्य की दृष्टि से पुरुष जीव है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गस्य सदसद् योनिजन्मसु।।
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।[1]

१४. कालचक्र और कर्मचक्र प्रवर्तन निरन्तर और अपरिहार्य

पुरुष में निहित प्रकृति शक्ति उस का नित्य स्वभाव होने के कारण प्रकृति से प्रवाहित कर्मचक्र/ कालचक्र भी निरन्तर चलता रहता है। इस कर्मचक्र का त्याग करने का प्रयास करने वाला व्यक्ति गीता में पापायु और आलसी पुरुष कहा गया है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।[2]

गीता में पुनः कहा गया है कि कर्मचक्र और कालचक्र का त्याग करना मानव के लिए वस्तुतः संभव ही नहीं है। इस सम्बन्ध में निग्रह करना भी उस के वश में नहीं, कर्म उसके लिए अपरिहार्य है।[3]

१५. कर्मचक्र और कालचक्र से तादात्म्य अथवा बन्धन का कारण रागात्मकता

यदि यह कर्मचक्र और कालचक्र अपरिहार्य ही है तो जीव के प्रयासं तथा शास्त्र में जीव के मोक्ष की चर्चा किस काम की? इस सम्बन्ध में भगवदगीता का कथन है कि यद्यपि कर्मचक्र या कालचक्र अबाधगति से चलता है और वह जीव के लिए अपरिहार्य है परन्तु वह जीव के बन्धन का कारण नहीं। जीव के बन्धन का कारण तो उसका अपना दृष्टिकोण है और अपने रागात्मक दृष्टिकोण के कारण

---

१. .भ. गी., १३/१९, २१, २२
२. वही , ३/१६
३. (क) न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
(ख) प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।
(ग) न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
(घ) स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।

वह कर्मचक्र और कालचक्र में प्रवाहित होने वाली वस्तुओं से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही दृष्टिकोण उसे वस्तुओं के साथ प्रवाहित कर देता है। यही उसकी दुर्गति है। यही उस का बन्धन है। यही उसका अनीश्वर अर्थात् जीव भाव है।[1]

१६. कर्मचक्र कालचक्र से मुक्ति का मार्ग पद्मपत्र के समान असम्पृक्त भाव

गीता पुरुष को विशेष रूप से सम्बोधित करती है कि पुरुष की प्रकृति अथवा कर्मशक्ति तो नित्य प्रवाहित होती रहेगी। पुरुष की कर्म शक्ति से प्रवाहित होने वाली कर्म सन्तति तो पुरुष से ही उद्भूत होती है। पुरुष यदि इस तथ्य को समझकर अपने से उद्भूत कर्म सन्तति से राग द्वारा तादात्म्य स्थापित नहीं करता तो यही उस की मुक्ति है। कर्मचक्र प्रवाहित होता रहेगा और इस दृष्टिकोण से वह उस का द्रष्टा बना रहेगा। ऐसे दृष्टिकोण से, कर्म सन्तति से वह विचलित नहीं होगा। और उसे अवश्य ही परिवर्तन प्रवाह में रहते हुये भी नित्यता तथा शान्ति मिलेगी।[2]

भगवद्गीता कहती है कि रागात्मक तादात्म्य स्थापित किये बिना प्रकृति से प्रवाहित कर्मजाल उस के बन्धन का कारण नहीं बन सकता। जलान्तर्वर्ती पद्मपत्र जो जल से ही पुष्ट होता है और जल में ही रहता है फिर भी उससे असम्पृक्त रहता है, इसी प्रकार से अपने अन्तरङ्ग स्वरूप में अथवा परमात्मभाव में दृढ़ निष्ठा रखते हुए असम्पृक्त भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति, कालचक्र में रहते हुए भी कालचक्र से अप्रभावित रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स ''पापेन''[3] पद्मपत्रमिवाम्भसा।।[4]

---

१. वही १३/२१ (पूर्वोद्धृत)

२. (i) यः एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। १३/२३
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोभिजायते।।

(ii) यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते। १८/११

(iii) त्यागात् शान्तिर् अनन्तरम्। १२/१२

३ ''पापेन'' अर्थात् कर्म और काल के साथ रागात्मक तादात्म्य के कारण होने वाले सुखदुःख से, रागरहित,स्वरूपापन्न द्रष्टा लिप्त नहीं होता । ऐसी अवस्था में काल और कर्मचक्र उसे शक्ति से संचालित ईश्वर की लीला रूप दिखाई देते हैं। हैरीटेज ऑफ इंडिया, रामाकृष्ण मिशन, भाग ३ पृ० २८८.२८६

४. भ.गी., ५/१०

मनुस्मृति में काल का मापदण्ड

डॉ. उर्मिला रुस्तगी

मनुस्मृति में काल शब्द का प्रयोग विभिन्न विभक्तियों तथा समस्त पदों के रूप में कुल छत्तीस बार आया है। अधिकांशतः काल शब्द का प्रयोग परिस्थिति के अर्थ में आया है। यथा राजा, देश तथा काल का विचार करके पशु आदि चुराने तथा हल आदि चुराने वाले को दण्ड देवे[१] राजा देश, रूप तथा काल देखकर व्यवहार करे[२] आदि। इन उदाहरणों में काल की निश्चितता तनिकमात्र भी नहीं है। दूसरी ओर, कुछ शब्द विशिष्ट परिस्थिति का परिचय देते हैं जिनसे उस काल के आस–पास का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है यथा 'कालकारिते विप्लवे'[३] शब्द द्वारा राज्य में विप्लव आने पर द्विजातियों द्वारा शस्त्रग्रहण करने की बात कही गई है; कालवृद्धि शब्द प्रत्येक मास बढ़ाये गए व्याज के लिए प्रयुक्त है तथा 'कालपक्वै'[५]; तथा 'कालपक्वभुक्'[६] विशेष ऋतु की ओर संकेत है जिसमें अन्न पकते हैं। कहीं कहीं निश्चित अवधि भी बताई गई हैं यथा 'ऊर्ध्वं तु कालात्'[७] शब्द द्वारा ऋतुमती कन्या को तीन वर्ष तक पिता द्वारा वरण किए गए वर की प्रतीक्षा करनी चाहिए और इसके बाद वह स्वयं वरण करे। इस सबके अतिरिक्त 'कालशाकम्'[८] एक विशेष प्रकार का शाक है तथा 'कालसूत्रम्'[९] एक विशेष नरक अर्थात् यहां काल शब्द का अपना कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार केवल काल शब्द मात्र पर

---

१. मनु ८/३२४, तथा ६/ २६३
२. वही, ८/४५
३. वही, ८/ ३४
४. वही, ८/१५३
५. वही, ६/२१
६. वही, ६/१७
७. वही, ६/६०
८. वही, ३/२७२
९. वही, ३/२४६

आधृत रहकर कालतत्त्व पर चिन्तन करना कठिन ही नहीं परन्तु असम्भव ही है। हां, 'कालसंरोधात्' तथा 'कालं कालेन पीडयन्'[1] जैसे प्रयोग काल–चिन्तन में सहायक हो सकते हैं।

फिंर भी मनुस्मृति के बाह्य तथा आन्तरिक कलेवर से काल के विषय में जो कुछ ज्ञान संगृहीत हो सका वह इस प्रकार है–

मनुस्मृति पर अनेक अध्ययन हुए–कुछ सम्मिलित रूप से अर्थात् अन्य स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के साथ और कुछ केवल मात्र मनु तथा मनुस्मृति पर। मनु तथा मनुस्मृति से सम्बद्ध अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या २६५ है। इन विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन–काल में पाँच प्रकार के वर्षों का उल्लेख प्राप्त हुआ। इन पुस्तकों के रचयिता, सम्पादकों, अनुवादकों आदि का काल ईस्वी सन् के अतिरिक्त जिन अन्यप्रकारीय संवत्सर–गणना से प्राप्त हुआ वह इस प्रकार है– (१) विक्रम सम्वत् – यह सम्वत् ईस्वी सन् से ७८ वर्ष आगे है, (२) शक सम्वत्– यह ईस्वी सन् से ५८ वर्ष पीछे है, (३) मलयालम वर्ष–यह ईस्वी सन् से ८२४. ५वर्ष पीछे है, (४) बंगला वर्ष–यह ईस्वी सन् से ५६४ वर्ष पीछे है ५ दयानन्द वर्ष जो ईस्वी सन् से १८२४ वर्ष पीछे है तथा इन सबके अतिरिक्त आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित विशुद्ध मनुस्मृति के मुख–पृष्ठ के पीछे सृष्टिसंवत् १, ६६, ०८, ५३, ०८२ (१ अरब ६६ करोड़ ०८ लाख ५३ हजार ८२) वर्ष का भी उल्लेख है जिसके अनुसार इस समय सृष्टि संवत् १ अरब, ६६ करोड़, ०८ लाख, ५३ हजार तथा ०६३ चल रहा है। इस प्रकार हम पाते हैं कि कालगणना के अनेक प्रकार समय के साथ उत्पन्न हुए तथा आज तक प्रचलित हैं। मनुस्मृति –ग्रन्थ के पृष्ठों को खोलते ही एक बड़ी ही आर्कषक पंक्ति पढ़ने को मिलती है 'कालं कालेन पीडयंन् अर्थात् काल जाते रहे और नए काल आते रहे। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है–

एवं सर्वं संसृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।

आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्[2]।।

अर्थात् अचिन्त्य सामर्थ्य वाले ब्रह्मा मुझे (मनु को) तथा इस समस्त स्थावर तथा जङ्गम सृष्टि को सृजन करके काल को (सृष्टि–काल को) काल से (प्रलय काल से) पीड़ित करते हुए पुनः स्वयं में अन्तर्धान हो गए। प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त भूयः पद काल के पुनः पुनः आने–जाने के वैशिष्टय को दर्शाता है। अतः सर्वप्रथम यह जानना अपेक्षित होगा कि यह सृष्टिकाल और प्रलयकाल क्या है?

मनुस्मृति के अनुसार जब ब्रह्मा जागता है तब यह विश्व चेष्टा करता है तो

---

१. वही, तथा १/५१
२. वही, १/५१

यह सृष्टिकाल हुआ और जब यह शान्तात्मा सोता है तब यह सर्वस्व नष्ट हो जाता है अर्थात् यही काल प्रलयकाल है।[1] अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा के दिन (सृष्टिकाल) तथा रात (प्रलय काल) को मापना किस प्रकार सम्भव है? अर्थात् ब्रह्मा मनुष्य–वर्षों के हिसाब से कितने वर्ष जागता है तथा कितने वर्ष सोता है?

इस विषय का विस्तृत वर्णन करने से पूर्व मनुष्य द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले अहोरात्र को समझना होगा। मानुष एवं दैव दोनों ही अहोरात्र सूर्य द्वारा विभक्त किए जाते हैं। रात्रि जीवों के सोने के लिए होती है तथा दिन कार्य करने के लिए।[2] मनुस्मृतिकार के अनुसार १८ निमेष की एक काष्ठा होती है, ३० काष्ठा की एक कला, ३० कलाओं का एक मुहूर्त अथवा दो घटी अथवा आज के ४८ मिनट तथा ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र अथवा ६० घटी अथवा २४ घण्टे।[3] दूसरी ओर, आज का अहोरात्र २४ घण्टे का होता है, एक घण्टा ६० मिनट का तथा एक मिनटा ६० सैकण्ड का। अहोरात्र के इस द्विप्रकारीय विभाजन में एक बात तो यह स्पष्ट हो रही है कि मनुस्मृतिकार ने ३० की संख्या पर बल दिया है और आज ६० की संख्या पर बल दिया जाता है। इस गणना से यह भी स्पष्ट होता है कि एक मुहूर्त का अभिप्राय है ४८ मिनट तथा निमेष से अभिप्राय है ८/४५ सैकेण्ड का काल।

काल के अहोरात्र के माप के अतिरिक्त अन्य माप इस प्रकार हैं– ३० अहोरात्र = एक मास तथा १२ मास = एक वर्ष । एक मास का शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष में विभाजन भी मान्य रहा है। सम्पूर्ण वर्ष को दो अयनों में विभक्त किया जाता है–उत्तरायण जिसमें सूर्य मकर से मिथुन राशि में संक्रमण करता है, तथा दक्षिणायन जिसमें सूर्य कर्क राशि से धनु राशि में संक्रमण करता है।

मनुष्यों के बीच अर्थात् मनुष्य लोक में काल का जो विभाजन मान्य रहा वह बता दिया गया है। मनुष्यलोक के अतिरिक्त तीन अन्य लोक भारतीय संस्कृति में माने जाते हैं। वे हैं पितृलोक, देवलोक तथा ब्रह्मालोक। इन तीनों लोकों में काल का क्या मापदण्ड है– मनुस्मृति के अनुसार इसे जानना भी आवश्यक है। मनुस्मृति

---

१. यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति।। वही, १/५२

२. अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः।। वही, १/६५

३. निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ।। वही

में कहा गया है कि पितरों का अहोरात्र मनुष्यों के एक मास के बराबर है जिसमें शुक्लपक्ष पितरों की रात्रि है तथा कृष्ण पक्ष उनका दिन हैं।[1] देवों का एक अहोरात्र मनुष्यों का एक वर्ष हैं जिसमें उत्तरायण देवों का दिन है तथा दक्षिणायन रात्रि है।[2] ब्रह्मा का एक दिन देवों के १००० युग के बराबर है तथा रात्रि भी देवों के १००० युग के बराबर है।[3]

अब जो प्रश्न उभरकर आता है वह है कि यह देव–युग क्या है? देवयुग को समझने के लिए हमें सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग के काल को जानना होगा। मनुस्मृतिकार के अनुसार इन चारों युगों का परिणाम इस प्रकार है[4]—

युग का नाम	**युग का काल**	**संध्या (पूर्व)**	**संध्या (उत्तर)**	**कुल योग**
	दिव्य वर्ष	**दिव्य वर्ष**	**दिव्य वर्ष**	**दिव्य वर्षों में**
१. सत्ययुग	४०००	४००	४००	४८००
२. त्रेतायुग	३०००	३००	३००	३६००
३. द्वापरयुग	२०००	२००	२००	२४००
४. कलियुग	१०००	१००	१००	१२००
चारों युग	१०ए०००	१०००	१०००	१२ए०००

एक दिव्य दिन = एक मानुष वर्ष = ३६० दिन

एक दिव्य वर्ष = ३६० मानुष वर्ष

---

१. पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्बरी ।। वही १/६६

२. देवे रात्र्यहनी वर्ष प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याददक्षिणायनम्।। वही १/६७

३. दैविकानां युगानां तु सहस्त्रं परिसंख्यया।
ब्रह्मामेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिमेव च।। वही १/७२

४. चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।। वही, १/ ६९.
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च।। वही, १/ ७०.

१२,००० दिव्य वर्ष = ४३२०००० (४३ लाख २०,०००) मानुष वर्ष = एक दिव्य युग

ब्रह्मा का अहोरात्र = २००० दिव्य युग

= ४,३२००० ग २००० = ८६४ ००००००० (८६४ करोड़) मानुष वर्ष

अतः स्पष्ट है कि एक देवयुग मनुष्यों के ४३ लाख, २०,००० वर्ष के बराबर होता है, अतः ब्रह्मा का एक दिन १००० देवयुग के बराबर होने के कारण ४३२ करोड़ मानव–वर्ष का हुआ तथा ब्रह्मा की एक रात्रि ४३२ करोड़ मानव–वर्ष हुई इस प्रकार ब्रह्मा का एक अहोरात्र ८६४ करोड़ मानव वर्ष का हुआ। मनुस्मृतिकार के अनुसार सृष्टिकाल और प्रलयकाल का समय बराबर आँका गया है क्योंकि ब्रह्मा के दिन और रात[1] एक ही परिणाम के हैं। पुनश्च, ब्रह्मा के सोने पर सर्वस्व उसमें विलीन हुआ बताया गया है।[2] दूसरे शब्दों में सृष्टिकाल की स्थिति का समय ४३२ करोड़ मानव वर्ष है तथा प्रलयकाल की स्थिति का समय भी ४३२ करोड़ मानववर्ष । यह प्रलयकाल का समय सभी क्रियाओं से रहित आंका गया है।[3] चारों युगों को पुनः सृष्ट करने का अर्थ है सृजन की समस्त योजनाओं का नए सिरे से प्रारम्भ । किसी भी सृष्टि के लिए चाहिए उसका बीजारोपण, उस परिपक्व शक्ति का बाहर आना और फिर सृष्टि से सम्बद्ध अनेकानेक क्रियाओं का सूत्रपात 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में अवश्य ही बीजारोपण हुआ होगा और वह बीज गर्भ में आवश्यक काल तक रहा भी होगा। मनुस्मृतिकार के अनुसार जलों में अण्डे का स्थापन हुआ जिसमें ब्रह्मा एक वर्ष तक अर्थात् इकतीस खरब दस अरब चालीस करोड़ मानुष वर्षों तक रहे और फिर उस अण्ड के द्विधा विभक्त होने पर सृष्टि का कार्य प्रारम्भ हुआ।[4] सरल शब्दों में चारों युगों की प्रथम सृष्टि तथा द्वितीय सृष्टि के मध्य ४३२ करोड़ मानव वर्ष का प्रलयकाल तथा ३१ खरब वर्ष १० अरब ४० करोड़ मानव–वर्षों का ब्रह्मा के द्वारा गर्भ में रहने के काल का अन्तर आ जाता है अर्थात् एक सृष्टि के बाद दूसरी सृष्टि ३१ खरब, १० अरब तथा ४७२ करोड़ मानव वर्ष के बाद होती है।

---

१. वही १/ ७२

२. वही १/ ५२ (पूर्वोदधृत)

३. युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि ।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ।। वही १/ ५४.

४. तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा।। वही, १/ १२.

इन सभी बिन्दुओं पर दृष्टिपात करने के उपरान्त एक प्रश्न मन में बना ही रहता है —वह है कि ब्रह्मा ने अण्डे को द्विधा विभक्त करने की क्रिया से लेकर द्युलोक, पृथिवीलोक, प्राणिजगत् आदि की सृष्टि करने में (द्र० श्लोक ५ से ५० तक) कितना समय लिया? कच्चे माल से किसी भी पार्थिव वस्तु को तैयार करने में जो समय लगता है वैसा ही कुछ समय तो ब्रह्मा को भी सत्ययुग बनाने में लगा ही होगा। यदि युगों के पूर्व और उत्तर संध्या कालों को इस सृजन काल के लिए लिया जाए तो इस निर्माण काल में अर्थात् अण्डे के द्विधा विभक्त होने से लेकर द्युलोक आदि सर्वस्व सृष्ट करने मे ४०० दिव्य वर्ष लगे होंगे अर्थात् एक लाख ४४ सहस्र मानुषवर्ष। परन्तु यह गणना भी भ्रामक सी प्रतीत होती है क्योंकि सत्ययुग की उत्तरसंख्या तथा त्रेतायुग की पूर्व संख्या का कुल समय २ लाख ५२ सहस्त्र मानुष वर्ष होता है अर्थात् एक युग को दूसरे युग में बदलने के लिए २ लाख ५२ सहस्र वर्ष चाहिए तथा द्विधा विभक्त अण्डे से सत्ययुग का निर्माण करने में अपेक्षाकृत कम समय अर्थात् केवलमात्र एक लाख ४४ सहस्र मानव वर्ष । अथवा फिर हम इसे यह मानकर अपना लें कि कच्चे माल से नई वस्तु के निर्माण में कम समय लगता है तथा उस निर्मित वस्तु को तोड़–फोड़कर, उसका जीर्णोद्धार कर उसे नया रूप देने में अधिक। ऐसा सोचना तर्कसंगत भी लगता है क्योंकि प्रत्येक युग का काल १००० दिव्यवर्ष कम होता चला गया है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि बारम्बार बनाये जाने वाली वस्तु की आयु कम होती चली जाती है। यह एक विचारणीय विषय है। पुनश्च, मनु ने मन्वन्तर काल ८ लाख ५२ हजार दिव्य वर्ष बताया है जो चारों युगों के समय (१२,००० दिव्य वर्ष) का इकहत्तर गुना है।[1] दूसरे शब्दों में एक मन्वन्तर का काल ३० करोड़ ६७ लाख २० हजार मानुष वर्ष है। इन मन्वन्तरों, सर्ग तथा संहार की संख्या असङ्ख्य बताई गई है जिनकी उत्पत्ति परमेष्ठी के द्वारा खेल खेल में की गई बताई है।[2] प्रलयकाल आने तक की मन्वन्तरों की संख्या चौदह बताई जाती है। इस प्रकार एक मन्वन्तर का समय ब्रह्मा के दिन का १/१४ वाँ भाग है। एक मन्वन्तर का काल ३० करोड़ ६७ लाख २० हजार मानुष वर्ष है तथा १४ मन्वन्तरों का काल होगा ४२६ करोड़ ४० लाख ८० हजार मानव वर्ष जो ऊपर बताए गए ब्रह्मा के एक दिन के ४३२ करोड़ मानुष वर्ष के बहुत समीप है। इन दोनों कालों का अन्तर २ करोड़ ५६ लाख २० हजार मानव वर्ष है। इस प्रकार इन १४ मन्वन्तरों के काल तथा ब्रह्मा के अहोरात्र के काल में ४३४

---

१. यत्प्राग्द्वादशसहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते।। वही, १/ ७६.

२. मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः।। वही, १/ ८०.

करोड़ ५६ लाख तथा २० हजार मानव वर्ष का समय है और इस काल को द्युलोक आदि के निर्माण का काल माना जा सकता है। यह मनुस्मृति से स्पष्ट भी होता है कि उस परमेष्ठी ने सर्वप्रथम सृष्टिनिर्माण करने की इच्छा कर प्रमुख काल बनाया और फिर उसे विभिन्न सृष्टियों के लिए विभक्त कर दिया और फिर उस विभक्त काल के अनुसार बनाए नक्षत्र, ग्रह, नदियाँ, सागर, पर्वत आदि।[1]

जहाँ तक कालविभाजन का प्रश्न है, कई बार तो हम समय की निश्चित गणना कर लेते हैं यथा १२ महीने २० दिन अथवा ४ घण्टे आदि; परन्तु कई बार यह गणना निश्चित आँकड़ों में नहीं हो पाती है फिर भी काल का कुछ माप तो रखा ही जाता है इस तरह के काल को मनुस्मृतिकार ने विभिन्न शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया है–

(क) ज्येष्ठ, कनिष्ठ, ज्यायस्, यवीयस् शब्दों के द्वारा [2]

(ख) पीढ़ी शब्द के प्रयोग के द्वारा[3]

(ग) अनन्तकाल शब्द के प्रयोग द्वारा[4]

अपि च आजीवन शाश्वती सनातनी आदि शब्दों के द्वारा[5]

(घ) ब्रह्मचर्यकाल आदि शब्दों के प्रयोग के द्वारा[6]

---

१. कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च । वही, १/ २४.

२. (क) ब्राह्मण ज्येष्ठ अर्थात् पहले उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ कहे गए हैं। वही, १/६३
(ख) आयु में छोटे मामा, चाचा के लिए अभिवादन का तरीका वही है जो श्वसुर, ऋत्विज तथा गुरुओं के लिए है। वही २/ १३०
(ग) बड़ी बहन में ब्रह्मचारी मातृवत् व्यवहार करे। वही २/ १३३.

३. (क) मनुशास्त्र का अध्येता अपनी सात पीढ़ियों को पवित्र करता है–
पुनाति पंक्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।। वही १/ १०५
(ख) मरने के उपरान्त माना जाने वाला अशौच सात पीढ़ी तक माना जाता है
दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। ५.५६
(ग) पिता तथा माता की सात पीढ़ियों तक अग्न्याधानादि कर्म तथा मैथुनकर्म का निषेध है–
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।। वही, ३/५

४. काल, शाक आदि पितरों की अनन्तकाल तक तृप्ति करते हैं–
कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ।। वही, ३/ २७२

५. वही २/२४६, १/६८ तथा ३/२८४

६. वही, ३/१

(ड.) कन्या शब्द के प्रयोग द्वारा विवाह की आयु दर्शाना क्योंकि ऋतुकाल तक बालिका कन्या कहलाती है और ऋतुकाल का समय प्रत्येक बालिका के साथ भिन्न होता है [१]

(च) ब्राह्ममुहूर्त जैसे शब्दों के द्वारा [२]

कभी–कभी यह भी देखने को मिलता है कि श्रेष्ठता का मापदण्ड 'काल' नहीं है परन्तु उसका सांगोपांग वेदज्ञान अर्थात् ज्ञान उसकी ज्येष्ठता का मापक है।[३]

मनुष्य की पूर्ण आयु तथा उसका विभिन्न आश्रमों में विभाजन

मनुष्य की पूर्ण आयु के लिए निश्चित अङ्क नहीं है परन्तु श्रुति के अनुसार वह 'शतायुः' (शतायुर्वै पुरुषः) कहा गया है। पूर्ण आयु को चार आश्रमों में बाँटा गया है–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास।

ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार के उपरान्त होता है तथा उपनयन संस्कार के लिए सभी की आयु भिन्न–भिन्न बताई गई है यथा ब्राह्मण –पुत्र की आठ वर्ष, क्षत्रिय की ग्यारह वर्ष तथा वैश्य की बारह वर्ष।[४] उपनयन की अधिकतम सीमा ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाइस वर्ष तथा वैश्य के लिए चौबीस वर्ष उक्त है।[५] ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य काल पूर्णायु का चौथा भाग अर्थात् २५ वर्ष कैसे सम्भव हो सकता है? पुनश्च, ब्रह्मचर्य काल से अभिप्राय है वेदाध्ययन–काल । तीनों वेदों के सांगोंपांग अध्ययन में ३६ वर्ष अथवा १८ वर्ष अथवा ९ वर्ष का समय बताया गया है।[६] इसलिए न तो ब्रह्मचर्यकाल को प्रारम्भ करने की आयु निश्चित है और न ही इसे समाप्त करने की। ऐसी अवस्था में अन्य आश्रमों

---

१. वही, ३/८

२. विद्वान् ब्राह्ममुहूर्त में उठकर धर्म तथा अर्थ का चिन्तन करें–
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्। वही, २/१५४

३. न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।। वही, २/१५४

४ गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। वही २/३६

५. आषोडशोद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।। वही २/३८

६. षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।। वही ३/१

का काल–निर्णय भी सम्भव नहीं है। परन्तु मनुस्मृति को तृतीय अध्याय के दूसरे श्लोक के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए तीनों वेदों का अध्ययन आवश्यक नहीं था प्रत्युत यह अध्ययन उसकी अपनी इच्छा अथवा आयु पर निर्भर करता होगा। यहाँ केवल मात्र ब्रह्मचर्यव्रत के अखण्डित रूप में पालन करने पर बल दिया गया है।[1] अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी के लिए एक निश्चित काल तक गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना आवश्यक था परन्तु यह आयु कितनी हो? इसका प्रत्युत्तर स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया गया है। गृहस्थाश्रम से निवृत्त होकर व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में कब प्रवेश करें? इसके उत्तर में भी निश्चित आयु का तो विधान प्राप्त नहीं है परन्तु जब गृहस्थी का चर्म सिकुड़ने लगे, बाल पकने लगे तथा उसे पौत्र प्राप्त हो जाए तब वह अरण्य में चला जाए। स्पष्ट है कि शारीरिक तौर पर गृहस्थ का भार वहन करने में असमर्थ वह जब एक अन्य पीढ़ी का घर में आगमन देख ले तो वानप्रस्थ धारण कर ले क्योंकि पारिवारिक एवं सामाजिक सुव्यवस्था के लिए भी यह आवश्यक लगता है। अन्यथा पीढ़ियों का अन्तर तथा उनकी संस्कृति का अन्तर पारस्परिक विरोध का कारण बन जाता है। इन तीनों आश्रमों के जीवनयापन में हम पाते है कि व्यक्ति का किसी न किसी रूप में समाज तथा परिवार के प्रति आकर्षण बना रहता हैं ये तीनों आश्रम तीन ऋणों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए हैं। ये तीन ऋण हैं –ऋषिऋण, पितृऋण तथा देवऋण जिनका निपटारा क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों का शास्त्रानुसार पालन करने पर ही सम्भव है। इन तीनों ऋणों से मुक्त हुआ वह इन्द्रिय संयम करने में सशक्त होता है और अब वह मोक्ष के लिए अपने मन को लगा सकता है[2] यही संन्यास कहलाता है।

अतः स्पष्ट है कि काल–विभाजन के लिए किसी निश्चित गणना की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत सामाजिक एवं स्वयं की सुविधानुसार कार्यों के विभाजन में भी काल–मापन की श्रेष्ठता निहित रहती है क्योंकि कार्यों के अनुसार किए गए विभाजन में भी प्राथम्य काल को ही दिया जाता है चाहे वह काल निश्चित आँकड़ों में न आँका जा सके।

मनुस्मृति के अध्ययन से ब्राह्मणों के एक वर्गीकरण प्रकार का पता चलता है। यह वर्गीकरण काल के आधार पर ही किया गया है चार प्रकार के ब्राह्मण

---

१. वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रहमचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।। वही, ३/२

२. ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ।। वही ६/३५

हैं– कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्याहिक तथा ऐकाहिक। ऐकाहिक का दूसरा नाम अश्वस्तनिक भी है। [1]परिवार के पोषण के लिए तीन वर्ष अथवा अधिक वर्षों तक अन्न को संग्रहीत करने वाला ब्राह्मण कुसूलधान्यक, एक वर्ष तक के लिए अन्न का संग्रहकर्ता कुम्भीधान्यक, तीन दिन के लिए अन्न संग्रहीत करने वाला त्र्याहिक तथा तत्काल अन्न लेकर खाने वाला अर्थात् दिनमात्र के लिए अन्न का संचयी ऐकाहिक अथवा अश्वस्तनिक कहलाता है।

काल के अनेक विभाजन मनुस्मृति के अध्ययन से स्पष्ट होते हैं यथा तिथि[2], पक्ष[3], ऋतु[4], मास, वर्ष[5] आदि। मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में विभिन्न निषेध दर्शाये गए हैं जिनका सम्बन्ध काल से ही है। स्पष्ट है कि सृष्टि के रचने से लेकर उसके प्रलय तक समस्त सूक्ष्म एवं स्थूल प्रक्रियाएँ, मन की अनुभूतियाँ, विभिन्न चेष्टाएँ एवं प्रयत्न सभी का सम्बन्ध काल से ही है।

काल का ही सब पर शासन है और सब काल के आधीन हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी कुछ काल के आधीन है। हमें क्या करना है तथा क्या नहीं, यह सर्वस्व भी कालाधीन है; अतः काल का प्रभाव अनश्वर है तथा आदिकाल से ही है। काल का आदिकाल है भी और नहीं भी परन्तु अन्तकाल नहीं है क्योंकि नित्य और विभु काल सर्वत्र विद्यमान रहता है। मानव–सृष्टि का प्रत्येक अंश, जीवन से लेकर मृत्यु तक काल से सञ्चालित है भले ही उसका मापदण्ड सही आँकड़ों में व्यक्त किया जा सके अथवा नहीं।

---

१. कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा।। वही, ४/७

२. वही, ३/२७३ए २७४ २७७

३. वही, ३/२७८ ४/६८

४. वही, ३/२८१

५. वही, ३/२६७.२७१

वाक्यपदीय में काल की अवधारणा

डॉ. रघुवीर वेदालंकार

क्रिया की सबसे बड़ी शक्ति काल ही है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में काल के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। उन्होंने क्रिया–समुद्देश के पश्चात् काल–समुद्देश को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। भर्तृहरि ने वहाँ पर काल की अन्य परिभाषाओं को उदधृत करते हुए यह परिभाषा दी है कि जब अन्य क्रियाओं से पृथक् करके केवल एक ही क्रिया की ओर इंगित किया जाता है तब जिस वस्तु का परिणाम हमें ज्ञात होता है, उसे काल कहते हैं।[1] भर्तृहरि के अनुसार यह काल कथित या कथ्यमान क्रिया ही है।[2] भर्तृहरि की दृष्टि में काल का सम्बन्ध सत्ता से होता है वस्तु से नहीं। इसी को उन्होंने 'भूतो घटः' का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जब हम 'भूतो घटः' कहते हैं तो भूत का संकेत सत्ता की ओर ही होता है, वस्तु की ओर नहीं।[3]

काल–समुद्देश के प्रारम्भ में भर्तृहरि 'एके' कहकर वैशेषिकों का मत भी दिखलाते हैं कि यह काल क्रिया से अतिरिक्त है, नित्य, विभु तथा द्रव्य है।[4] वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्यों में काल की गणना भी की गयी है।[5] भर्तृहरि भी काल को विभु तथा स्वतंत्र स्वीकार करते हैं।

उनके अनुसार इसका 'काल' नाम इसीलिए है कि यह एक ही सत्ता की विविध कलाओं को जलयन्त्र की गति की तरह घुमाता लगातार घुमाता रहता है

---

१. क्रियान्तर परिच्छेदे प्रवृत्ता या क्रिया प्रति।
निर्ज्ञातपरिमाणा सा काल इत्यभिधीयते।। वा०प०३/७७

२. अतः क्रियान्तरभावे सा क्रिया काल इष्यते। वही ३/७८

३. भूतो घट इतीयं च सत्ताया एव भूतता। वही ३/७९

४. व्यापारव्यतिरेकेण कालमेके प्रचक्षते। नित्यमेकं विभुं द्रव्यं परिमाणं क्रियावताम्।। वही

५. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। १/५(वैशे०)

या खण्डित करता रहता है।[1] यहाँ पर जो यह खण्ड रूप में दिखकर भी अखण्ड रूप में प्रतीति होती है, यह काल के कारण ही है। संसार की प्रत्येक प्रक्रिया तथा जीवन का प्रत्येक व्यापार काल की प्रक्रिया से अनुस्यूत है इसीलिए भर्तृहरि काल को स्वयं एक ऐसा व्यापार मानते हैं जिसके अंगभूत होकर ही विश्व के अन्य व्यापार प्रवृत्त होते हैं।[2] इस प्रकार समस्त संसार का सूत्रधार काल ही है।

यद्यपि भर्तृहरि काल को एक अखण्ड तथा अविच्छेद्य सत्ता मानते हैं पुनरपि उसके प्रवाह की दो सीमाएं–प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा के रूप में स्वीकार करते हैं। काल की इन्हीं दो शक्तियों के कारण उसका कथित विभाजन सम्भव हो पाता है।[3] काल की इन दो शक्तियों को इस रूप में समझा जा सकता है कि कोई भी पदार्थ एकदम सम्पूर्ण रूप में उत्पन्न नहीं हो जाता क्योंकि प्रतिबन्धक नामक कालशक्ति ने उसे रोका हुआ है। किन्तु इसकी उत्पत्ति सर्वथा ही नहीं रुक गयी है अपितु शनैः शनैः हो रही है। यही है काल की अभ्यनुज्ञा नामक शक्ति। ये शक्तियाँ प्रत्येक पदार्थ के साथ लगी हैं। भर्तृहरि इसे इस रूप में कहते हैं कि यदि काल अपनी इन दोनों शक्तियों के द्वारा पदार्थों को नियंत्रित न करें तो उत्पत्ति में पौर्वापर्य नहीं रह पायेगा[4] जिससे बीज में अंकुर, नाल, फूल, फल आदि एक ही साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए। ऐसा नहीं होता, क्योंकि काल ने प्रतिबन्धक नामक शक्ति के द्वारा उनको रोका हुआ है। यह प्रतिबन्ध स्थायी नहीं है अतः अभ्यनुज्ञा नामक शक्ति के द्वारा वे क्रम से जन्म भी लेते हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि इसलिए पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के काल को ही कारण मानना चाहिए[5]। हेलाराज ने यहां पर उदाहरण दिया है कि कुछ वनस्पतियां वसन्त में उत्पन्न होती हैं तो कुछ शरद्काल में। इनका निमित्त काल ही है।

प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा के रूप में इन विभागों के रहने पर भी काल के स्वरूप में अन्तर नहीं आता, वह तो त्रैकालिक दृष्टि से अखण्ड ही रहता है। इन दोनों शक्तियों को स्वीकार करके काल के निरन्तर प्रवाह में अवयव, क्रम, विभाग आदि

---

१. जलयन्त्र भ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः।
 स कलाः कालयन् सर्वाः कालाख्यां लभते विभुः।। वही ३/१४
२. प्रत्यवस्थं तु कालस्य व्यापारोऽव्यवस्थितः।
 काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते।। वही ३/१२
३. प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते।। वही ३/३०
४. यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबन्धं न नोत्सृजेत्।
 अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौवापर्यं विना कृता।। वही ३/५
५. वही ३/३

का आभास उसी प्रकार होने लगता है जैसे–अखण्ड शरीर के अवयवों में पार्थक्य का आभास। इस प्रकार प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा के द्वारा विभक्त दिखलाई देने पर भी काल अखण्ड ही बना रहता है।[१] प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा के बीच के अन्तर को भर्तृहरि इस रूप में स्पष्ट करते हैं जिस प्रकार घटी यन्त्र की तली में लगी नाली के छिद्र में से कुछ पानी तो बाहर निकल जाता है तथा कुछ अन्दर ही बना रहता है उसी प्रकार काल के सतत प्रवाह में एक अवधि को इस रूप में माना जा सकता है जिससे निर्गत काल को बद्ध भाग के रूप में कह सकते हैं।[१] यहाँ पर प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा ने पानी को नियंत्रित किया हुआ है। ये दोनों काल शक्तियाँ भी परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें से एक पानी की पूर्ववर्ती स्थिति को बतला रही है तो दूसरी परवर्ती स्थिति को। इनमें पहले की स्थिति को अनागत तथा परवर्ती स्थिति को भूत या गत कहा जा सकता है।

इन दोनों शक्तियों–प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा के बीच के अन्तर को भी वर्त्तमान समझना चाहिए। यही इन दोनों को पृथक् करने वाला तत्त्व है। नालिका के छेद से जो पानी गुजर रहा है वह वर्तमानकालिक ही है। वर्तमान की यह अवधि एक क्षण से लेकर सुदीर्घ काल तक भी हो सकती है। यह प्रयोक्ता पर ही निर्भर करता है कि वह इसका कितना परिमाण माने यथा 'आजकल' शब्द के द्वारा एक–दो दिन से लेकर वर्षों तक के समय को कह दिया जाता है। यह सब वर्त्तमान काल ही है जो कि भूत तथा भविष्य के मध्य एक सीमा का आभास देता है।

'वर्त्तमाने लट्[३]' सूत्र पर महाभाष्य में पतञ्जलि ने प्रसंग चलाया है कि 'इहाधीमहे', 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' इत्यादि प्रयोगों में भी लट् लकार का विधान करना चाहिए क्योंकि इन प्रयोगों में वर्त्तमानकालता न होने के कारण 'वर्त्तमानेलट्' से लट् लकार प्राप्त नहीं होगा। अध्ययन करते हुए तथा भजन करते हुए बीच में भोजन आदि कार्य भी करने होते हैं। तब वर्तमान काल नहीं रहता यद्यपि अध्ययन तथा भजन आदि दीर्घ काल तक चलते रहते हैं। इसी प्रकार 'तिष्ठन्ति पर्वता' यहाँ भी 'लट्' का विधान करना चाहिए क्योंकि यहाँ पर भूत–भविष्य तथा वर्त्तमान का कोई भेद नहीं है। पतञ्जलि ने इन दोनों शंकाओं का उत्तर दिया है कि देवदत्त नामक व्यक्ति भोजन करते हुए भी तो पानी पीता है। बातचीत भी करता है। उस

---

१. प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्याऽस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानासौ भजते क्रमरूपताम्। वही ३/३०

२. प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां नालिकाविवराश्रिते।
यदम्भसि प्रक्षरणं तत्कालस्यैव चेष्टितम्।। वही ३/१७०

३. पा. ३/२/१२३

क्षण में अक्षण क्रिया की वर्त्तमानकालता समाप्त हो जाती है। पुनरपि 'भुङ्क्ते देवदत्तः' प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'इह याजयामः' आदि प्रयोग भी सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि वहाँ भी वर्तमानकालता है।[1] पतञ्जलि वर्तमान की परिभाषा देते हैं कि जबसे क्रिया प्रारम्भ की गयी है जब तक वह पूर्ण विराम को प्राप्त न हो तब तक वर्तमान काल ही कहलायेगा, भले ही यह काल कितना ही दीर्घ न हो।[2] भर्तृहरि ने इस प्रसंग को वाक्यपदीय में पतञ्जलि के अनुसार ही तीन श्लोकों में प्रकट किया है।[3]

यद्यपि भर्तृहरि काल को एक अखण्डात्मक इकाई ही स्वीकार करते हैं तथापि वे लोक व्यवहार की दृष्टि से इसके भूत, भविष्य तथा वर्तमान के रूप में क्रियाकृत तीन भेद मानते हैं। परमार्थतः काल एक ही है।[4] क्रिया की समाप्ति पर भूतकाल कह दिया जाता है। सम्भावित क्रिया को दृष्टि में रखकर भविष्यत् काल कहा जाता है तथा प्रवाह रूप में वर्त्तमान क्रिया के कारण उस काल को भी वर्तमान कह दिया जाता है भले ही क्रिया का वह प्रवाह एक क्षण से लेकर सुदीर्घकाल तक ही क्यों न हो। यद्यपि काल एक ही है तथापि भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान के रूप में उसकी तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों के आधार पर ही पदार्थों के जन्म तथा विनाश होते हैं। वस्तुतः ये जन्म तथा विनाश विद्यमान पदार्थों के ही काल की इन्हीं शक्तियों के कारण—आविर्भाव तथा तिरोभाव ही है।[5]

इस प्रकार काल के अखण्ड प्रवाह को स्वीकार करके भी भर्तृहरि भावों के दर्शन तथा अदर्शन भेद से बुद्धि सीमा में गृहीत तथा अगृहीत काल को ही भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान के रूप में विभक्त करते हैं। अदर्शन की दृष्टि से भूत तथा वर्त्तमान में भी बहुत अधिक अन्तर नहीं है। ये दोनों समान महत्त्व रखते हैं। ये दोनों ही अदृष्ट हैं। जो वर्त्तमान की दृष्ट स्थिति से पहले था, उसे अतीत कह दिया जाता है तथा जो वर्त्तमान दृष्टि से परे स्थित है उसे ही भविष्य कह दिया जाता है। भर्तृहरि कहते हैं कि इसी आधार पर कुछ लोग भूत तथा भविष्य में अन्तर ही नहीं मानते। क्योंकि अदर्शन की दृष्टि से दोनों समान हैं।[6] भर्तृहरि भी जानते

---

१. अस्ति च मुक्त संशये विरामः। (म.भा. ३/२/१२३,वा४)
२. न्याय्या त्वारम्भानपवर्गात्। वही, वा.३
३. वा. प. ३/८२–८४
४. तस्याभिन्नकालस्य व्यवहारे क्रियाकृताः।
भेदाइव त्रयः सिद्धा याँल्लोको नातिवर्त्तते।। वही ३/४८
५. एकस्य शक्तयस्तिस्रः कालस्य समवस्थिताः।
यत्सम्बन्धेन भावानां दर्शनादर्शने सताम्।। वही ३/४६
६. वही ३/५६

हैं कि दार्शनिक दृष्टि से भूत तथा भविष्य में अधिक अन्तर नहीं किया जा सकता है। पुनरपि इन दोनों में सूक्ष्म सा अन्तर वे खोज ही लेते हैं। प्रतिबन्ध तथा अभ्यनुज्ञा इसी अन्तर को प्रकट करते हैं। उनके अनुसार अनागत उस काल शक्ति का नाम है जो जन्म होने की क्रिया में प्रतिबन्ध या बाधा बन कर नहीं आती अपितु वह उसके साथ ही रहती है। इसके विपरीत अतीत या भूत के रहने पर किसी वस्तु के जन्म की सम्भावना भी नहीं की जा सकती।[१] इस प्रकार अखण्ड काल का भूत, भविष्य तथा वर्तमान के रूप में त्रैविध्य भर्तृहरि को स्वीकृत है।

इतना ही नहीं अपितु भर्तृहरि भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान के अवान्तर विभाग भी करते हैं। उन्होंने भूत को पांच प्रकार का, भविष्य को चार प्रकार का तथा वर्त्तमान को दो प्रकार का मानकर काल के ग्यारह विभाग भी किये हैं।[२] हेलाराज ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि भूत सामान्य, अद्यतनीयभूत, अनद्यतनीयभूत इन दोनों के समुदाय से भिन्न तथा जो भविष्यत् होते हुए भी क्रियातिपत्ति या अतिदेश से भूत के कार्यों को प्राप्त करता है[३] वह, इस प्रकार ये पांच भेद भूत के हैं। भविष्य के चार भेद इस प्रकार हैं–सामान्य भविष्य, अद्यतनीय भविष्य, अनद्यतनीय भविष्य तथा इन दोनों का समुदाय वर्त्तमान के दो भेद हैं। मुख्य वर्त्तमान तथा अमुख्य वर्त्तमान–अमुख्य वर्त्तमान वह है जो भूत तथा भविष्य दोनों की सीमाओं का स्पर्श करता है। पाणिनि भी भाषावैज्ञानिक नियम के रूप में सूत्र के द्वारा इसका निर्देश करते हैं।[४]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि कालतत्त्व नित्य, विभु तथा अखण्ड है। इसमें दिन–मास–वत्सर आदि का विभाग लोक व्यवहार की दृष्टि से ही है। काल की कोई अवधि या सीमा नहीं है। कदाचित् इसी आशय से भवभूति ने भी 'कालो ह्ययं निरवधिः' कहा होगा।

---

१. अनागता जन्मशक्तेः शक्तिरप्रतिबन्धिका।
अतीताख्या तु या शक्तिस्तया जन्म विरुध्यते।। वही,३/५१

२. भूतः पञ्चविधस्तत्र भविष्यं च चतुर्विधम्।
वर्त्तमानो द्विधा ख्यात इत्येकादश कल्पना।। ३/५२

३. लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ। पा. ३/३/३९

४. वर्त्तमान सामीप्ये वर्त्तमानवद्वा। पा०३/३/१३१

जैन दर्शन में काल का स्वरूप

डॉ. प्रतिभा जैन

"कलयति इति कालः" जो व्यतीत होता है या जाना जाता है वह काल है।[1] यह कल्पित द्रव्य है। इसका कोई तात्त्विक रूप नहीं है। फिर भी इसे द्रव्य कहा जाता है।[2] कोई–कोई आचार्य काल को स्वतंत्र नहीं मानते, इनका अभिप्राय है कि धर्म आदि जड़ और चेतन द्रव्यों की पर्याय ही काल है। इनके मत से लोक, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांच अस्तिकाय रूप हैं। जो आचार्य काल को स्वतंत्र छठवां द्रव्य मानते हैं, उनके मतानुसार इस लोक में छहों द्रव्य पाए जाते हैं। अतएव लोक षडात्मक है।[3]

'कालश्च' ।।३६।।

अर्थात् काल भी द्रव्य है। 'च' शब्द परस्पर समुच्चय अर्थ में है। इस 'च' कार से जाना जाता है कि केवल धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल ही द्रव्य नहीं हैं अपितु द्रव्य लक्षण से युक्त होने से काल भी द्रव्य है। जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है तथा जो गुण और पर्याय वाला है वह द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य का दो प्रकार से लक्षण कहा है। काल में ध्रुवता स्व–निमित्तक है क्योंकि काल स्वभाव से सदा अवस्थित रहता है। काल का उत्पाद और व्यय परनिमित्तक (घटिका, मास आदि के निमित्त से) होता है। काल का उत्पाद और व्यय केवल परनिमित्तक ही नहीं होता अपितु अगुरु लघु गुणा की हानि और वृद्वि की अपेक्षा स्वनिमित्तक भी होता है। काल के दो प्रकार के गुण भी हैं। साधारण और असाधारण। उनमें साधारण गुण अचेतनत्व, अमूर्त्तत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरु लघुत्व आदिक है और असाधारण गुण काल का वर्तना हेतुत्व है। तत्त्वार्थ सार में कहा है:–

---

१. तत्वार्थवृत्ति, प्रो. महेन्द्र कुमार जैन पृ. ४४

२. जैन धर्म व दर्शन,गणेश ललवाणी वृ. ७२

३. षड्दर्शन समुच्चय, संपा. डा. महेन्द्र क्मार

स कालो यन्निमित्ताः स्यु; परिणामादिवृत्तयः।

वर्तनां लक्षणां तस्य कथयंति विपश्चितः[१]।। ४०।।

अर्थात् काल वह कहलाता है जिसके निमित्त से परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व होते हैं। विद्वान् लोग वर्तना को काल का लक्षण कहते हैं।

वर्त्तना का लक्षण-

अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम्।

अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना[२]।।४१।।

अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के एक–एक समयवर्ती परिणाम में जो स्वसत्ता की अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते हैं।

काल-द्रव्य की हेतुकर्तृता का वर्णन

आत्मना वर्त्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः।

वर्त्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम्[३]।।४२।।

अर्थात् सब द्रव्यें अपनी अपनी पर्यायों रूप परिणमन स्वयं करती हैं फिर भी वर्तना का करण होने से काल द्रव्य हेतुकर्तृता को प्राप्त होता है। अर्थात् यह स्वयं परिवर्त्तन करते हुए अन्यद्रव्यों के परिवर्तन में सहायक होता है,[४] कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मादि द्रव्य अपनी–अपनी पर्यायों की निवृत्ति के प्रति स्वयं ही वर्तन करते हैं किन्तु बाह्य उपकार के बिना वह संभव नहीं है। अतः उनकी वर्तना में जो निमित्त–मात्र होता है वह काल है। जैसे कुम्हार के चाक में घूमने की शक्ति मौजूद है। किन्तु कील का साहाय्य पाये बिना वह घूम नहीं सकता। वैसे ही संसार के पदार्थ भी काल द्रव्य का साहाय्य पाये बिना परिवर्तन नहीं कर सकते। अतः काल द्रव्य उनके परिवर्तनों में सहायक हैं किन्तु वह भी वस्तुओं का बलात् परिणमन नहीं कराता है। और न एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य रूप परिणमन कराता है, किन्तु स्वयं परिणमन करते हुए द्रव्यों का सहायक मात्र हो जाता है।[५]

---

१. तत्वार्थवृत्ति, प्रो. महेन्द्र कुमार जैन, पृ. ४४
२. तत्त्वार्थसार, संपा. पन्नालाल साहित्याचार्य पृ. ६२
३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, डा. नेमि चन्द शास्त्री, पृ. ३६६
४. वही, पृ. ६८
५. गोम्मटसार (जीवकांड), संपा. ए.एन.उपाध्याय, पृ. ८०५–८०६

काल-द्रव्य की हेतुकर्तृता का समर्थन-

न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते।।४३।।

अर्थात् यद्यपि काल द्रव्य स्वयं निष्क्रिय है तथापि इसकी हेतुकर्तृता विरूद्ध नहीं है। क्योंकि निमित्त मात्र में भी हेतुकर्तृता मानी जाती है। भाव यह है कि जिस प्रकार 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' कंडे की आग पढ़ाती है, यहाँ अग्नि स्वयं निष्क्रिय होकर भी पढ़ाने में निमित्त मानी जाती है, उसी प्रकार काल द्रव्य स्वयं निष्क्रिय होकर भी पदार्थों के परिणमन में निमित्त या हेतुकर्तृक माना जाता है।

काल द्रव्य एक प्रदेशी है, इसलिये उसे अणुरूप कहा जाता है। उन अणुरूप काल द्रव्यों की संख्या असंख्यात है। आगम में लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या भी असंख्यात बताई गई है। इस तरह लोकाकाश के एक–एक प्रदेश पर एक–एक काल द्रव्य अवस्थित है, यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसके लिये रत्न राशि का दृष्टांत दिया जाता है। जिस प्रकार राशि में स्थित रत्न एक दूसरे रत्नों से स्पृष्ट होने पर भी स्वतंत्र हैं उसी प्रकार कालद्रव्य भी परस्पर एक दूसरे कालद्रव्य से स्पृष्ट होने पर भी स्वतन्त्र हैं। कालाणु को स्वतंत्र इसलिये कहा जाता है कि वह जितना भी है उतना अपना कार्य करने में समर्थ रहता है उसके लिये दूसरे काल द्रव्य की सहायता अपेक्षित नहीं रहती। मनुष्य के हाथ में पांच अंगुलियां हैं परन्तु भोजन का ग्रास उठाने में पांचों अंगुलियां एक–एक कर समर्थ नहीं है उसके लिये पांचों अंगुलियों का मिलना आवश्यक रहता है। इसलिये हाथ अवयवी है और अंगुलियां अवयव कहलाती हैं। अवयवी का एक अवयव कार्य करने में असमर्थ रहता है यह बात काल द्रव्य में नहीं है क्योंकि वह अपना कार्य करने में अलग रहकर भी समर्थ है। यही कारण है कि कालद्रव्य को बहुप्रदेशी नहीं माना गया है।

काल द्रव्य अरूपी द्रव्य है, अतः उसका बोध पुद्गल द्रव्य के माध्यम से होता है। पुद्गल द्रव्य में परिणाम क्रिया तथा परत्व और अपरत्व का जो व्यवहार होता है वह मूर्तिक होने के कारण सबकी दृष्टि में होता है इसलिये आचार्यों ने इन्हीं के द्वारा व्यवहार काल का बोध–कराया है। यह परिणाम तथा क्रिया आदि रूप परिणमन वास्तव में पुद्गल द्रव्य का है परन्तु उसमें कालद्रव्य निमित्त होता है। इसलिये परिणाम आदि को काल द्रव्य का लिंग बतलाया गया है।

---

१. जैनधर्म, के. सी. शास्त्री, पृ. १०४

परिणाम का लक्षण–

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः

परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः।।४६।।

अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में है उसका उसी रूप जो परिणमन होता है। वह परिणाम कहलाता है। इस परिणाम में हलन चलन रूप क्रिया की विवक्षा नहीं है। वास्तव में क्रिया रूप परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही होता है। परन्तु परिणाम रूप परिणमन सभी द्रव्यों में होता है।

क्रिया का लक्षण

प्रयोगविस्रंसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते।

द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया।।४७।।

प्रेरणा और स्वभाव इन दो निमित्तों से द्रव्यों में जो हलन चलन रूप परिणति होती है उसे क्रिया जानना चाहिये।

क्रिया के दो भेद हैं (१) प्रायोगिकी और (२) वैस्त्रासिकी। मनुष्य आदि के प्रयत्न से रेल, मोटर आदि में जो क्रिया होती है उसे प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं और मेघ आदि में जो अपने आप क्रिया होती है उसे वैस्रासिकी क्रिया कहते हैं। यह क्रिया यद्यपि जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में होती है। अतः उन्हीं का परिणमन है। परन्तु उस परिणमन में जो क्रम है वह कालद्रव्यकृत है इसलिये क्रिया को कालद्रव्यकृत का कार्य बताया है[1] हालांकि क्रिया तो धर्म द्रव्य का कार्य है न कि काल द्रव्य का। यहाँ दोनों द्रव्य (धर्म,काल) के कार्य में कथन का अन्तर है, जैसे एक स्थान से अन्य स्थान की प्राप्ति रूप जो क्रिया है वह धर्मद्रव्य का कार्य है। परन्तु उस क्रिया में जो क्रमबद्धता है वह काल का कार्य है।

परत्व और अपरत्व का लक्षण

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत्सन्निकृष्टता।

ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणाहि।।४८।।

अर्थात् दूरी को परत्व और निकटता को अपरत्व कहते हैं। यहाँ काल द्रव्य का प्रकरण होने से दूरी और निकटता कालकृत ही ग्रहण करना चाहिये।[2]

---

१. तत्त्वार्थसार, पृ. १००–१०१

२. वही

दूरी और निकटता क्षेत्रकृत (एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी एवं निकटता) भी होते हैं पर यहाँ काल द्रव्य का प्रकरण होने से कालकृत परत्व और अपरत्व को लिया गया है। जैसे यज्ञदत्त २० वर्ष का है, और जिनदत्त १५ वर्ष का है। यहाँ जिनदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त में परत्व है और जिनदत्त में अपरत्व है। यह व्यवहार काल द्रव्यकृत है।

काल दो प्रकार का है

कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च[१]

(१) परमार्थकाल या निश्चयकाल और (२) व्यवहारकाल। परमार्थ काल वर्तना लक्षण वाला है और परिणाम आदि लक्षण वाला व्यवहार काल है[२]। दूसरे शब्दों में लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जुदे–जुदे कालाणु (काल के अणु) स्थित हैं। उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं। अर्थात् कालद्रव्य नाम की वस्तु वे कलाणु द्रव्यकाल एक प्रदेशी है अथवा परमाणु प्रमाण है इसलिये इसे कालाणु कहते हैं[३] उन कालाणुओं के निमित्त से ही संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। उन्हीं के निमित्त से प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व कायम है।[४] आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल का एक परमाणु मन्दगति से जितनी देर में उस प्रदेश में लगे हुए दूसरे प्रदेश पर पहुँचता है तब तक उसमें जो काल लगता है उसी के समान कालाणु द्रव्य की सूक्ष्म समय नाम की पर्याय होती है– यही व्यवहार काल है।[५] व्यवहारकाल जीव पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न है तथा जीव और पुद्गलों का परिणाम निश्चय कालाणु रूप काल द्रव्य से संभूत है। जीव और पुद्गल के परिणमन को देखकर व्यवहारकाल का ज्ञान होता है और चूंकि बिना निश्चय काल के जीव पुद्गलों का परिणमन नहीं हो सकता इसलिये जीव पुद्गल के परिणमन से निश्चय काल का ज्ञान होता है।

व्यवहार काल पर्याय प्रधान होने से क्षणभंगुर है और निश्चय काल द्रव्य प्रधान होने से नित्य है। "यह काल है" इस प्रकार जिसका व्यपदेश –उल्लेख होता है वह अपना सद्भाव बताता हुआ नित्य द्रव्य है। जिस प्रकार "सिंह" यह

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग–२ पृ.७६
२. सर्वार्थसिद्धि, संपा. सिद्धांताचार्य पं. फूलचंद शास्त्री पृ. २२३
३. बृहद् द्रव्य संग्रह, आ. श्री नेमिचन्द्र सिद्धांति देव, पृ. ४२
४. जैन धर्म, कैलाश चन्द्र शास्त्री, पृ.१०
५. पवचणसारो, डा. श्रेयांस कुमार जैन, पृ. ३४७

शब्द सिंह शब्द वाच्य मृगेन्द्र अर्थ का प्ररूपक है उसी प्रकार "काल" यह शब्द काल शब्द वाच्य निश्चय काल द्रव्य का प्ररूपक है।[1] निश्चय काल की पर्याय स्वरूप समय, घड़ी दिन वगैरह यही व्यवहार काल है। दूसरे शब्दों में व्यवहारकाल और मंडल की गति और घड़ी वगैरह के द्वारा जाना जाता है तथा इसके द्वारा ही निश्चयकाल अर्थात् काल द्रव्य के अस्ति का अनुमान किया जाता है। संसार में यह बड़ा यह छोटा यह नवीन, यह पुराना, या जल्दी हो गया यह देरी से हुआ इत्यादि व्यवहार जो सर्वजनप्रसिद्ध है इसलिये भी इसका कारणभूत व्यवहार काल माना जाता है। इसीलिये ही 'परिणामादि लक्खों' अर्थात् वह व्यवहार काल परिणामादि लक्ष्य कहिये परिणाम क्रिया परत्व अपरत्व इत्यादि से जाना जाता है, कहा है। वर्षा ऋतु में यद्यपि मेघ बरसते हैं परन्तु स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए मेघ की बूंदें ही सीप में पड़कर मोती रूप परिणमती हैं। इसी तरह फल के काल में फूल और फल लगने के समय में फूल मिल सकते हैं आदि बातें बिना काल के अस्तित्व सिद्ध किये नहीं रह सकती हैं यही प्रतीतिसिद्ध जो काल है वह व्यवहार काल है।[2]

व्यवहारकाल तीन प्रकार का होता है अतीत, अनागत और वर्त्तमान[3]

भूतश्च वर्त्तमानश्च भविष्यन्निति च त्रिधा।

परस्परव्यपेक्षत्वाद् व्यपदेशो ह्यनेकशः।।५०।।

अर्थात् वह काल भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार का होता है।[4]क्योंकि परस्पर की अपेक्षा से होने वाला व्यवहार अनेक प्रकार का होता है।

जिस प्रकार पंक्तिबद्ध वृक्षों को क्रम-क्रम से पार करने वाला मनुष्य जिस वृक्ष के पास पहुँचता है उसमें वर्त्तमान का, जिसे छोड़कर आया है उसमें भूत का और जिसे आगामी काल में प्राप्त करेगा उसमें भविष्यत् का व्यवहार होता है। उसी प्रकार क्रम-क्रम से परिणाम करने वाले द्रव्य जिस कालाणु का वर्तमान में अवलंबन ले चुके हैं उनमें भूत का और जिनका अवलंबन आगे लेंगे उनमें भविष्यत् का व्यवहार होता है। कालाणु अपने अपने स्थानों पर स्थित हैं उनका निमित्त पाकर संसार के पदार्थों में परिणमन चल रहा है। जो कालाणु किसी द्रव्य के परिणमन में निमित्त हो चुकने से भूत का व्यवहार प्राप्त करता है वही कालाणु किसी अन्य द्रव्य के

---

१. कुन्दकुन्द भारती, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य पृ. २०
२. जैन सिद्धान्त दर्पण, स्व. पं. गोपाल दास बरैया द्वारा विरचित पृ. १६६
३. गोम्मटसार (जीव कांड) पृ.८११
४. तत्त्वार्थसार, पृ. १०२-१०३

परिणमन में आगे निमित्त होने के कारण भविष्यत् का व्यवहार प्राप्त करता है तथा किसी अन्य द्रव्य के वर्त्तमान परिणमन में निमित्त होने के कारण वही वर्त्तमान का व्यवहार करता है। इस प्रकार कालाणु में यह भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान का व्यवहार मुख्य तथा गौण रूप से चलता रहता है। प्रत्येक द्रव्य का यह प्रति समय परिणमन ही पर्याय है। एक पर्याय एक क्षण अथवा एक समय रहती है। एक समय के पश्चात् वह पर्याय अतीत हो जाती है और उसका स्थान दूसरी पर्याय ले लेती है[१]। द्रव्यों की अतीत, अनागत और वर्त्तमान पर्यायों की संख्या इस प्रकार है– अतीत पर्याय अनंत है। भावि पर्याय अनंत गुनी होती है और वर्त्तमान पर्याय एक ही होती है।[२] तीनों कालों के लिये संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं– इस समय पर्याय के उत्पन्न होने के पहले जो अपनी पूर्व–पूर्व समय पर्यायों में अन्वय रूप से बराबर चला जोयगा वह कालद्रव्य नामा पदार्थ है। यद्यपि यह समय पर्याय पूर्वकाल की ओर उत्तर काल की समयों की संतान की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात तथा अनंत समय रूप है तथापि वर्त्तमान काल का समय उत्पन्न होकर नाश होने वाला है। किन्तु जो पूर्व में कहा हुआ द्रव्य काल (निश्चय काल) है वह तीनों कालों में स्थायी होने से नित्य है। इस तरह काल द्रव्य को पर्याय रूप और द्रव्य स्वरूप जानना योग्य है।[३]

काल द्रव्य को अन्य दार्शनिकों ने भी माना है किन्तु उन्होंने व्यवहार काल को ही द्रव्य काल मान लिया है। काल द्रव्य नाम की अणु रूप वस्तु को केवल जैनों ने ही स्वीकार किया है। काल द्रव्य के विशेष भाव हैं–

'पंचदसा पुण काले दव्वसहावा चा णायव्वा'।

सद्, असद्, नित्य, अनित्य, अनेक, भेद, अभेद, स्वभाव, अचैतन्य, अमूर्त्त, एक प्रदेशत्व, शुद्ध, उपचरित, एकांत, अनेकांत स्वभाव।

वैशेषिक दार्शनिक काल को एक और व्यापक द्रव्य मानते हैं, परन्तु नित्य और एक द्रव्य में जब स्वयं अतीतादि भेद नहीं है, तब उसके निमित्त से अन्य पदार्थों में अतीतादि कैसे नापे जा सकते हैं? किसी भी द्रव्य का परिणमन किसी समय में ही होता है। बिना समय के उस परिणमन को अतीत, अनागत या वर्त्तमान कैसे कहा जा सकता है? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश–प्रदेश पर विभिन्न द्रव्यों के जो विलक्षण परिणमन हो रहे हैं, उनमें एक साधारण निमित्त काल है, जो अणु

---

१. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा,
२. वही, १५४
३. प्रवचनसार, संपा. पं. अजीतकुमार शास्त्री एवं रतनचन्द्र मुख्तार, पृ. ३६६
४. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग–२, पृ.८३

रूप है और जिसकी समय पर्यायों के समुदाय में हम घड़ी घंटा आदि स्थूल काल का माप बनाते हैं। अलोकाकाश में जो अतीतादि व्यवहार होता है वह लोकाकाशवर्ती काल के कारण ही है। चूंकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखंड द्रव्य है अतः लोकाकाश में होने वाला कोई भी परिणमन समूचे आकाश में ही होता है। काल एक प्रदेशी होने के कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता; क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्यों की ही अस्तिकाय संज्ञा है।

बौद्ध परंपरा में काल केवल व्यवहार के लिये कल्पित होता है। यह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्ति मात्र है[1]। किन्तु अतीत, अनागत और वर्त्तमान आदि व्यवहार मुख्य काल के बिना नहीं हो सकते जैसे कि बालक में शेर का उपचार मुख्य शेर से सद्भाव में ही होता है। उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य काल के बिना नहीं बन सकते।[2]

जैन परंपरा के काल की उपर्युक्त विस्तृत व्याख्या में निश्चय और व्यवहार दो भेद दृष्टिगोचर हैं। इनमें से निश्चय काल के आश्रय से व्यवहार काल की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवहार काल वर्तना लक्षण रूप निश्चय काल द्रव्य के द्वारा प्रवर्त्तित होता है और भूत, भविष्य तथा वर्तमान रूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिये समर्थ होता है। यह व्यवहार काल समय, आवलि, उच्छ्वास आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है।[3] जैसे–

असंख्यात समय=आवलि

संख्यात आवलि = १ उच्छ्वास

संख्यात आवलि=१ निःश्वास

१ उच्छ्वास–निःश्वास =१ प्राण

७ प्राण=स्तोक

७ स्तोक=१ लव

७७लव=१ मुहूर्त्त

३० मुहूर्त्त=१ अहोरात्र

१५ अहोरात्र=१ पक्ष

२ पक्ष=१ मास

---

१. अट्ठशालिनी, १/३/१६

२. जैन दर्शन, डा. महेन्द्र कुमार जैन, पृ.१३८

३. जैन भारती, पू. अर्चिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी, पृ. ११७

२मास=१ ऋतु

३ऋतु=२ अयन

२ अयन=१ संवत्सर

५संवत्सर=१ युग

२०युग=१ वर्षशत

१०वर्षशत=१ वर्ष सहस्र

१००वर्ष सहस्र=१ वर्षशतसहस्र

८४ वर्षशतसहस्र=१ पूर्वांग

८४ पूर्वांग शतसहस्र=१पूर्व

८४ पूर्वशत सहस्र=१त्रुटितांग

८४ त्रुटितांगशतसहस्र=१त्रुटित

८४ त्रुटितशतसहस्र=१ अडडांग

८४ अडडांगशतसहस्र=१अडड

८४ अडडशतसहस्र=१ अववांग

८४ अववांगशतसहस्र=१अवव

८४ अववशतसहस्र=१हूहुकांग

८४ हूहुकशतसहस्र=१उत्पलांग

८४ उत्पलांगशतसहस्र=१ उत्पल

८४ उत्पल शतसहस्त्र=१ पद्मांग

८४ पद्मांगशतसहास्र=१पद्म

८४ पद्मशतसहस्र =१नलिनांग

८४ नलिनांगशतसहस्र=१ नलिन

८४ नलिनशतसहस्र= १अस्तिनीपूरांग

८४ अस्तिनीपूरांगशतसहस्र=१अस्तिनीपूर

८४ अस्तिनीपूरशतसहस्र=१ अयुतांग

८४ अयुतांगशतसहस्र=१ अयुत

८४ अयुतशतसहस्र=१ नयुतांग

८४ नयुतांगशतसहस्र=१नयुत

८४ नयुतशतसहस्र=१ प्रयुतांग

८४ प्रयुतांगशतसहस=१ प्रयुत

८४ प्रयुतशतसहस्र=चुलिकांग

८४ चुलिकांगशतसहस्र=१चुलिका

८४ चुलिकाशतसहस्र=१ शीर्षप्रहेलिकांग

८४ शीर्षप्रहेलिकांग=१ शीर्षपहेलिका[1]

व्यवहार काल के उपर्युक्त भेद होते हुए उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी इन दो बड़ें भागों में विभक्त हैं। अर्थात् जिस तरह बैलों के द्वारा घुमाए हुए चक्र की फिरन से रहट की घड़ियां जिस समय जल व जल के प्रान्त भाग में रहती है भरी रहती है और जिस समय ऊपरी भाग में आती है क्रम से खाली होती है। और फिर बराबर इसी क्रम से भारी और खाली होती हैं। इस ही तरह काल चक्र की फिरन से भरत ऐरावत क्षेत्र में रहने वाले जीवों की आयु बल, शरीर की उंचाई आदि में हाानि व वृद्धि होती रहती है। जिस समय इनकी क्रम से वृद्धि होती जाती है उस काल को उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिस समय इनकी क्रम से हानि होती जाती है उस काल को अवसर्पिणी काल कहते हैं। दोनों कालों का प्रमाण दश–दश कोड़ाकोड़ी (एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जो लब्ध हो उसको एक कोड़ा कोड़ी कहते हैं) सागर है।[2] (इस प्रकार दोनों काल मिलकर एक कल्पकाल होते हैं। इन दोनों में प्रत्येक के छह भेद हैं जैसे–

अवसर्पिणी	**उत्सर्पिणी**
१. सुषमा–सुषमा (चार कोड़ा कोड़ी सागर)	१. दुषमा–दुषमा
२. सुषमा (तीन कोड़ा कोड़ी सागर)	२. दुषमा
३. सुषमा–दुषमा (दो कोड़ा कोड़ी)	३. दुषमा–सुषमा
४. दुषमा–सुषमा (४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागर का होता है)	४. सुषमा–दुषमा
५. दुषमा (२१ हजार वर्ष)	५. सुषमा
६. दुषमा–दुषमा (२१ हजार वर्ष)	६. सुषमा–सुषमा

इन नामों में समा शब्द समय का वाची है और सु,दु ये दोनों अच्छे और बुरे के कहने वाले दो उपसर्ग हैं।

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, डा. जगदीशचन्द्र व डा. मोहनलाल मेहता, पृ. ११४–११६

२. जैन सिद्धान्त दर्पण, पृ. १६६–२००

१. सुषमा-सुषमाः

इसमें भूमि, रज, धूम, अग्नि, हिम,कंटक आदि से रहित एवं शख, बिच्छू, चींटी, मच्छर आदि जीवों से रहित होती है। इस काल में पुरुष स्त्री का युगल जोड़ा पैदा होता है। इनके शरीर की ऊंचाई छह हजार धनुष अर्थात् 'तीन कोस तथा आयु तीन पल्य (असंख्यात वर्षों का एक पल्य होता है) होती है। इस काल में नर–नारी के अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं होता है और गांव नगर भी नहीं होता है। केवल दस प्रकार के कल्पवृक्ष[1] होते हैं।

२. सुषमा

इस काल के आदि में मनुष्य के शरीर की ऊंचाई चार हजार धनुष –दो कोस, आयु दो पल्य प्रमाण और शरीर का वर्ण चंद्र सदृश धवल होता है। इस काल में उत्पन्न हुए बालक युगल शय्या पर सोते हुए अपने अंगूठे के चुसने में पांच दिन व्यतीत करते हैं। इस काल में पहले काल की अपेक्षा ऊंचाई, बल, ऋद्धि, आयु और तेज आदि उत्तरोत्तर हीन–दीन होते जाते हैं।

३. सुषमा-दुषमाः

इस काल में मनुष्य की ऊंचाई दो हजार धनुष (२४ अंगुल का एक हाथ और चार हाथ का एक धनुष) एक कोस, आयु एक पल्य प्रमाण और वर्ण प्रियंगुफल के समान होता है। इस काल में उत्पन्न हुए बालकों के शय्या पर सोते हुए अंगूठे के चूसने में सात दिन व्यतीत होते हैं। उपर्युक्त तीनों कालों में चोर, शत्रु, आदि की बाधाएं असि मसि आदि छह कर्म शीत, आतप, प्रचंड वायु एवं वर्षा आदि नहीं होती हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव इसी काल में हुए थे।

४. दुषमा-सुषमाः

इसी काल में महान् पुण्यवान् पुरुषों का जन्म होता है। अर्थात् इसी काल में तीर्थंकर चक्रवर्ती, नारायण, प्रति नारायण, नारद बलभद्र आदि त्रेशठ शलाका के महान पुरुष जन्म लेते हैं। उस काल के प्रथम प्रवेश में उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि और शरीर की ऊंचाई पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण थी। तीनों प्रारंभ के कालों में भोग भूमि थी, चौथे काल के प्रारंभ से कर्म भूमि का प्रारंभ होता है।[2]

५. दुषमाः

इस काल के प्रथम प्रवेश में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष, ऊंचाई सात हाथ होती है। इस काल में मनुष्य कर्म को क्षय कर मोक्ष नहीं जा सकेंगे। मनुष्य भ्रष्ट आचरण करने वाले होंगे, अधिकतर मनुष्य दुःख के भोगने वाले होंगे।

---

१. कल्पवृक्षों के नाम–मतांग, भृतांग, त्रुटितांग, दीपशिखा, ज्योतिष्क, चित्रांग, चित्ररस, मणिअंग, गेहागार और अणिगण।

२. जैन भारती, पृ. ३०–४३ त्रैलोक्य तिलक,पृ. ३४–४१ जैन सिद्धान्त दर्पण; पृ. २००–२०७

६. दुषमा-दुषमाः

वह काल महा भयानक होगा। इस काम में धर्म–कर्म सब नष्ट हो जायेंगे। दया, क्षमा, व्रत आदि गुणों का नाम भी नहीं होगा, सभी मनुष्य मांसाहारी होंगे। काल के अंत में मनुष्य एक हाथ के लंबे शरीर वाले होंगे और उनकी आयु करीब २० वर्ष की होगी।

इस छठे काल में भयंकर वायु बहेगी, दिशाएं धूम्र और धूलि से भर जायेंगी। चन्द्रमा में शीतलता और सूर्य में उष्णता शेष न रहेगी, मेघों से अग्नि और पत्थरों की वर्षा होगी, जिससे मनुष्य पशु, पक्षी, और वनस्पति आदि नब नष्ट हो जायेंगे। केवल एक 'वैताढय पर्वत' बाकी बचेगा।[1] उस पर्वत के आस पास रहने वाले जीव उसमें घुस जाते हैं अथवा दयावान देव और विद्याधर मनुष्य युगल आदि अनेक जीवों को उठाकर इस पर्वत की गुफा वगैरह निर्बाध स्थानों में ले जाते हैं।

वर्त्तमान कालः

इस समय पंचम काल चल रहा है, इस काल के ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं, अभी साढ़े अठारह हजार वर्ष श्रावण कृष्ण प्रतिप्रदा से उत्सर्पिणी काल 'का प्रारंभ होगा। तब आयु, कार्य, बल, बुद्धि आदि उत्तरोत्तर बढ़ते जायेंगे। यह काल अवसर्पिणी काल से उल्टा होगा इस काल के प्रारंभ में जल, दूध, घृत, अमृत, सुगंधित पवन आदि की शुभ वर्षायें होगी उससे सर्वत्र शांति होगी। वह दिन भाद्र शुक्ला पंचमी का दिन होगा। इसी कारण से इस दिन से अनादि काल से पर्युषण पर्व चला आ रहा है। विजयार्ध–पर्वत, गुफाओं में बचे हुए जीव तब बाहर निकलेंगे, उनसे संसार बढ़ेगा। उत्सर्पिणी काल का पहला और दूसर अवसर्पिणी के पांचवे और छठे काल के समान होता है। दूसरे काल (दुखमा काल) का अंतिम समय आता है तब १४ कुलकर होंगे।[2] जब तीसरा काल प्रारंभ होगा तब तीर्थंकर नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती आदि त्रेशठशलाका के पुरुष उत्पन्न होंगे। उस काल में मनुष्य मुनि होकर कर्मों का क्षय कर मोक्ष भी जायेंगे।

जब चौथा काल सुखमा–दुखमा नामक प्रारंभ होगा उस काल में जघन्य भोगभूमि की रचना होगी। उसके पश्चात् पांचवां काल सुखमा प्रारंभ होगा उसमें

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, डा. जगदीश चन्द्र जैन व डा. मोहन लाल मेहता, पृ. ११६

२. त्रैलोक्य तिलक, पं. महेन्द्र कुमार "महेश" शास्त्री पृ. ४३

मध्यम भोग भूमि की रचना होगी। उसके पश्चात् सुखमा–सुखमा नाम का सबसे बडा छठवां काल आयेगा उसमें उत्तम भोग भूमि की रचना होगी।[१]

अवसर्पिणी १/२/३/४/५/६ काल की रचना उत्सर्पिणी ६/५/४/३/२/१ काल की रचना के समान है। यह स्पष्ट है कि आयु, काय आदि क्रम से अवसर्पिणी काल में हानि होती है और उत्सर्पिणी काल में वृद्धि होती है। इस प्रकार यह काल निरंतर ही घूमता रहता है जिससे कि पदार्थों में प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। यानि पदार्थ अपनी हालतें बदलते रहते हैं। इसलिये नहीं मालूम कि इस समय से दूसरे समय में क्या होने वाला है। गया हुआ वक्त फिर नहीं मिल सकता है। इसलिये हमेशा ही अपने कर्त्तव्य कर्म को बहुत ही होशियारी के साथ जल्दी करना चाहये।[२]

---

१. वही

२. जैन सिद्धांत दर्पण, पृ. २०७

योगदर्शन में कालचिन्तन

डॉ. चन्द्रहास शर्मा

योगदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य प्रकृति और पुरुष का विवेक है। उस विवेकज्ञान का फल सत्त्व–बुद्धि और पुरुष दोनों की शुद्धि की साम्य अवस्था उपपन्न तथा आसादित कर कैवल्य पद की प्राप्ति है।[१] विवेक ज्ञान के विषय में महर्षि पतञ्जलि कृत स्वरूप–लक्षण है–

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

अर्थात् सब विषयों की पूर्व अवस्थाओं का ज्ञापक तथा क्रमरहित संसार–सागर से तारने वाला प्रतिभोत्पन्न युगपद् होने वाला विवेकज्ञान होता है।[२]विवेकज ज्ञान की उपलब्धि काल के अति सूक्ष्म आयाम 'क्षण' और उसके प्रवाह का क्रम दोनों पर संयम करने से होती है।[३] विवेकज्ञान इतना सूक्ष्म होता है कि जाति, लक्षण और देश की भिन्नता की पहचान यथार्थ रूप से हो सकती है चाहे दो समान पदार्थों में पृथक्ता का कितना ही अभाव हो। जैसे दो भिन्न जातियों के खट्टे–मीठे आमों को एक ही थैले में रख लेने पर विवेकज ज्ञान से उनके तोड़ने के क्षण और रखने के काल–क्रम के अंतर में धारणा, ध्यान, समाधि रूपी संयम करने पर उनका परस्पर अंतर जाना जा सकता है। ज्ञांता और ज्ञेय के मध्य परिणाम के रूप में घटित होने वाला ज्ञान का घटक काल और देश है। योगदर्शन में चित्त प्रकृति का गुणात्मक सूक्ष्म परिणाम है। धर्मी रूप चित्त में काल के द्वारा व्युत्थान, एकाग्रता और निरोध के अभिभव और प्रादुर्भाव के क्रम से चित्त के परिणाम घटित होते हैं। जब चित्त का व्युत्थान होना सर्वथा बंद हो जाए तब निरोध परिणाम के संस्कारों के दृढ़ होने पर चित्त वृत्तिनिरोध रूप योग का अन्वर्थ 'समाधि परिणाम' घटित होता है।

---

१. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। योगसूत्र, ३/५५

२. वही, ३/५४

३. वही, ३/५२

परिणाम, प्रवाह अथवा परिवर्तन के क्रम के साथ काल की मुख्य भूमिका है क्योंकि सर्वार्थक चित्त में विषयों के उदय–अस्त के साथ एक क्षण का जाना और उसके स्थान पर दूसरे क्षण का उदय होना ही वर्तमान कहलाता है। इस प्रकार क्षण और उनके क्रम के उदित और अस्त होने पर तथा अनागत अवस्थापन्न होने पर भूत–वर्तमान–भविष्यत् काल की संकल्पना होती है यदि चित्त में परिणामक्रम की समाप्ति हो जाए तो काल का भी अभाव हो जाएगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्पन्न होता है कि परिणामशीला प्रकृति काल के आधीन होकर ही प्रलय और सृष्टि करती रहती है। सामान्य अर्थ में काल को तिरोधान शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। काल राज्य मृत्यु राज्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में एकादश अध्याय के विश्वरूप दर्शन में भगवान् स्वयं को कालरूप कहते हैं–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।[1]

संसार को ग्रसित करने के लिए कालरूप मैं ही हूँ। इस कथन से काल को पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्रकृति के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरे स्थान पर कहा गया है–

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।[2]

जो त्रिगुणातीत होकर स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों में होने वाले जरा–मृत्यु–जन्म से वियुक्त होकर योग–युक्त हो जाता है, वह काल राज्य की सीमा से परे हो जाता है अर्थात् वह अक्षर तथा कूटस्थ स्थिति में नित्यस्थित हो जाता है। उस कालातीत सत्ता को अव्यय पद भी कहा गया है–

गच्छन्ति मूढाः पदमव्ययम् तत्।[3]

इस कथन का निहितार्थ यह है कि काल अनादि हो सकता है पर अनन्त नहीं। काल से अतीत जो सत्ता है उसे ही कूटस्थ और अक्षर कहा गया है। 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' के शैव योग चिन्तन में इस अपरिणामिनी शक्ति को 'चिति' नाम से अभिहित किया गया है। उस चिति से ही देश, काल और आकार भेद प्रकट होते हैं और उसी में प्रतिप्रसव क्रम से लीन हो जाते हैं। यह काल चिति की ही क्रीड़ा है अथवा स्पंदन का एक क्रम है। यह स्वयं में स्वतन्त्र और अखण्ड सत्ता

---

१. गीता, ११/३२

२. वही, १४/२०

३. वही, १५/५

नहीं है। जब तक जीव कर्म तथा तज्जन्य संस्कारों द्वारा जन्म–मरण में घूमता है तब तक महाभारत की यह उक्ति–

"कालः पचति भूतानि" सार्थक घटित होती है। कालराज्य में पूर्वपर क्रम तथा 'अहम्'–'त्वम्' प्रत्यय विभाग का बोध होता रहता है। काल के साथ देश का भी सापेक्ष संबंध है। देश और काल की सापेक्षता से गति अर्थात् क्रिया का उद्‌भव होता है और यह परिणाम की क्रिया पूर्वापर क्रम विभाग द्वारा वस्तु सत्ता में कालगत छः भाव विकार लाती रहती है। इन विकारों का ही 'कलन' काल का मुख्य कार्य है। **जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते एवं नश्यते** ये षट्‌विकार कालगत परिणाम के रूप हैं। मनुष्यलोक की तरह देवलोकों में भी आविर्भाव, स्थिति और तिरोभाव–ये परिणाम सूक्ष्म रूप से घटित होते हैं। महामनीषी पं. गोपीनाथ कविराज का अभिमत है कि यह सब खण्डकाल के अंतर्गत घटित होता है। इसी खण्डकाल में ही अतीत, वर्तमान एवं अनागत का भेद विद्यमान है। महाकाल में यह भेद नहीं होते। वहाँ सब नित्य वर्तमान रूप से ओत–प्रोत हैं। "जैसे समग्र विश्व भगवान् के अभेद रूप में एक अहं रूप से स्थित है, वैसे ही महाकाल रूपा महासृष्टि में समग्र विश्व भगवान में, नित्य वर्तमान इदं रूपेण भासित होता है। . . . . . . वहाँ काल के परिणाम स्वरूप क़ाल की क्रीडा नहीं रहती।. . . . . .काल–संकर्षण क्रिया के फलस्वरूप असंख्य काल–राज्यों में प्रलय होता है। और समग्र विश्व अखण्ड भावेन महाकाल में अधिष्ठित परिणाम ही उदयास्त विहीन होकर परमात्मा के नित्य दृष्टरूप में परिणत होता है।"[१] इस सिद्धान्त के आधार पर ही एक देश और एक काल में अनेक देश और अनेक कालों में स्थित विश्वरूप के दर्शन का विज्ञान समझ में आ सकता है। योग दर्शन में कालातीत सत्ता को ईश्वर अथवा पूर्व–पूर्व का भी गुरु स्वीकार किया गया है। उसे ही अन्यान्य दर्शनों में संभवतः महाकाल माना है। ईश्वर का लक्षण करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने उसे पुरुष विशेष, अविद्या आदि पंच क्लेशों से रहित,कृष्ण–शुक्ल आदि त्रिविध कर्मों से एवं उनके कर्मफलों से असंपृक्त तथा संस्कार–आशय से असंग, सर्वातिशायी सर्वज्ञत्व का बीज माना है। जैसे बीज में मूल वृक्ष, शाखाएं, पत्र, पुष्प, फल सब एकत्रित हैं उसी प्रकार ईश्वर को भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में समस्त अनन्त सृष्टि का ज्ञान और सृष्टि, स्थिति, संहार तीनों अवस्थाओं का ज्ञान युगपद् रहता है। इन लक्षणों से भी विशिष्ट लक्षण है– **"सर्वेषाम् अपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"**[२] व्यास भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि – 'यत्र अवच्छेदार्थेन

---

१. प्र० ७, सम्बोधि, पं. गोपीनाथ कविराज

२. योग सूत्र १/२६

कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथा अतिक्रान्त सर्गा दिष्वपि प्रत्येतव्यः' ईश्वर या पुरुष विशेष की सत्ता परिणाम धर्म काल से सर्वथा स्वतंत्र सत्ता है। योगसाधना का चरम लक्ष्य महाकाल के स्वरूप को जानकर उसमें प्रविष्ट होना है। जिससे गुणों का गुणों में अवस्थान होकर जन्म–मरण और प्रलय के ताण्डव–नृत्य की काल–क्रीडा से निरपेक्षता हो सके। उस ब्राह्मी स्थिति की भूमिका में अवस्थित होकर ही पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण यह उद्घोष करते हैं–

वेदाऽहम् समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि माम् तु वेद न कश्चन।।[1]

तीनों कालों की अवस्थाओं को बिना क्षण में अवस्थित हुए नहीं जाना जा सकता। क्षण में अनादि अनंत महाकाल प्रकाशित हो उठता है। काल में क्रम है किन्तु क्षण में क्रम नहीं है। जब आवरण क्रम–शून्य भाव में चला जाता है तब एकमात्र क्षण ही वहाँ रह जाता है। उस क्षण में ही विश्व का समग्र परिणाम संघटित हो जाता है। काल से क्षण में प्रविष्ट होने के उपायों का अवलंबन कर पाने पर क्षण में प्रवेश करने के लिए 'साधन पाद' में अनेक क्रियाओं का उपदेश मिलता है। यथा– 'विशोका वा ज्योतिष्मतिः' आदि क्रिया योग के उपायों से चिति शक्ति निरावरण होने लगती है। जिससे काल की मात्रा क्षीण हो जाती है। वहाँ काल–सन्धि प्रकाशित होती है। और क्रम का लोप होकर क्षण का प्रकाश होता है। क्षण जब स्थायी रूप से प्रतिष्ठित होता है तो वहाँ गुणों की परिणामधर्मिता समाप्त होकर केवल वस्तु सत्ता रहती है। पं. कविराज जी ने इस अवस्था को 'काल संकर्षिणी' की संज्ञा दी है। उनके अनुसार क्रमहीन काल का नाम ही क्षण है। क्षण नित्य व स्वयं प्रकाश है। काल शक्ति अपनी बहिर्मुख प्रेरणा के द्वारा जीव को संसार के आवागमन चक्र में डाले रखती है। केवल काल संकर्षिणी शक्ति जीव को इससे हटाने में समर्थ है। यह शक्ति ही अनुग्रह शक्ति के रूप नें कार्य करती है। जीव में चिति–शक्ति अपनी स्वतंत्र–क्रीडा करने लगती है। तो वहाँ देश–काल और आकारगत भेद विलीन होकर एक विमर्शात्मा अखण्ड व्यापक चिति में समाहित हो अव्यक्त भावापन्न हो जाते हैं। ऐसा शैव कुण्डलिनी योग का अभिमत है–**देशकालाकारभेदः संविदो नहि युज्यते**। देश के साथ काल का अन्योन्याश्रय संबंध है। काल–निवृत्ति के साथ देश–निवृत्ति हो जाती है। उस अवस्था में आत्मा देश और काल से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है।

काल–चिन्तन के विषय में एक दूसरे प्रकार की संकल्पना गीता की योगिराज श्रीश्यामा चरण लाहिड़ी महाशय की आध्यात्मिक दीपिका टीका एवं उस पर

---

१. गीता, ७/२६

श्री भूपेन्द्रनाथ सान्याल की व्याख्या में देखने को मिलती है। ग्यारहवें अध्याय के ३२ वें श्लोक की व्याख्या में वे लिखते हैं कि महाकाल अनन्त है। उसका ध्वंस नहीं होता परन्तु घटस्थ काल अन्तयुक्त है। इसी कारण देहरूप घट में २१,६०० बार अजपा जप रूपी श्वास दिन–रात में स्फुरित होता है। यह काल ही लोक–संहार करता है। श्वास के इस बहिर्गमन को रूद्ध किए बिना किसी का भी परित्राण नहीं है। केवल योगी योगाभ्यास के द्वारा कालातीत अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। समाधि के समय श्वास–प्रश्वास की गति रुद्ध होने पर योगी काल को प्रवंचित कर सकते हैं। सारे ही जीव कर्मानुसार श्वास की पूँजी लेकर जन्म ग्रहण करते हैं। इसकी संख्या समाप्त हो जाने के बाद उनका देहपात होता है। प्राणायाम के अभ्यास से इस आयुकाल की वृद्धि होती है। समाधि की स्थिरावस्था ही काल का स्वरूप है। इस यौगिक व्याख्या में भी प्रकारान्तर से क्षण की अवस्था को प्राप्त करना ही व्याख्याकार का अभीष्ट प्रतीत होता है। काल के साथ चक्र की संकल्पना साभिप्राय है। काल आविर्भाव और तिरोभाव तथा कर्म और संस्कार तथा तज्जन्य कर्म, आयु और भोग का कारण है। श्रीमद्‌भागवत महापुराण के एकादश स्कंध के अध्याय २४ में सर्ग–प्रतिसर्ग प्रक्रिया का उल्लेख काल–चक्र के रूप में मिलता है। महत् तत्त्व अपने सत्त्वादि गुणों में लय होता है। वे तीनों गुण अपनी अव्यक्त प्रकृति में लीन होते हैं और प्रकृति अविनाशी काल में लीन होती है। वह काल मायामय जीव में और जीव अजन्मा आत्मा में लय होता है।[१] काल के प्रयोजन का निरूपण करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं कि कर्मों को नियमित करने के लिए देश–काल आदि वस्तुओं में गुणों का निधान किया है। उत्तम देश में और स्थान व पात्र में किए हुए कर्मों का फल सत्वर मिलता है। इसलिए जिस काल में द्रव्य के संयोग से कर्म हो सकते हैं ऐसा पुण्य काल शुद्ध माना जाता है। इस अर्थ में काल का अभिप्राय परिणाम प्रवाह के उन क्रमों के पूर्वापर का देश और पात्र से संयोग है जिसके फलस्वरूप काल सापेक्षता से शुभाशुभ परिणाम घटित होते हैं। इन काल की गतियों को बिन्दु रेखा और वृत्त के रूप नें तन्त्रयोग में अभिव्यक्ति मिली है। काल की चक्र गति से भिन्न एक दूसरी गति भी है जिसे काल की सरल गति कहा जा सकता है। माया राज्य को पार करने पर काल की वक्र गति से आगे सरल गति के प्रकाश में पहुँचा जा सकता है। उस प्रकाश में भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल एक अखण्ड, वर्तमान रूप में प्रकाशित होते हैं। इस काल की सरल गति के बाद केन्द्र स्थान में काल गति को स्थिर किया जाता है। स्थिर काल ही महाकाल रूप में परिणति प्राप्त कर परम पुरुष रूप में प्रकाश करता

---

१. भागवतपुराण ११, २४./२६, २७

है। सर्वदेश और सर्वकाल एक महाबिन्दु के बीच प्रकाशित होते हैं वहाँ देश और काल का व्यवधान एवं दूरी नहीं रहती। आचार्य भर्तृहरि का अभिमत है कि–

आविर्भूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम्

अतीतानागतज्ञानम् प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।

अर्थात् महाप्रकाश रूप महाबिन्दु के आविर्भाव होने पर तमोगुण जन्य किसी भी प्रकार का आवरण तिरोहित हो जाता है तथा रजोगुण जन्य चित्त की चंचलता भी नष्ट हो जाती है। निश्चल चित्त में निरावरण प्रकाश आविर्भूत होता है। जिससे सब कुछ नित्य वर्तमान रूप से प्रत्यक्षवत् उपलब्ध हो सकता है। उस समय जो अवस्था अभिव्यक्त होती है वह महासृष्टि के भी अतीत है। यह मृत्युंजय कालातीत अवस्था है।

पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार काल का कार्य सदृश और विसदृश परिणाम उत्पन्न करना है। तीनों गुण जब साम्य अवस्था में होते हैं तो यह प्रकृति का निज स्वरूप है। वैषम्य से सृष्टि का उदय होता है और सदृश अवस्था में तीनों गुण अपने–अपने रूप में लीन होते हैं। प्रकृति का यह परिणाम सांख्य में पुरुष के संयोग से घटित माना है किन्त गुणों का पाक–कर्म काल सापेक्ष है। गुणों के परिपाक हुए बिना विसदृश परिणाम या तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होते। तत्त्वान्तर परिणाम कर्म–संस्कार के द्वारा होते हैं। यदि कर्म और संस्कार बीज रूप में विद्यमान है तो गुणों का परिपाक नहीं होगा। उनके अपरिपक्व रूप में सृष्टि नहीं हो सकती। जिस प्रकार ऋतु एवं सूर्य–चन्द्र के चक्र से बीज वृक्ष के रूप में परिणत होता है। उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम गुण में आवरण आदि परिणत होते हैं। तत्त्वान्तर परिणाम अथवा विसदृश परिणाम ३ प्रकार के हैं– धर्म, लक्षण, और अवस्था परिणाम। प्रकृति धर्मी ही धर्म रूप में परिणत होती है। इसके बाद अतीत अनागत एवं वर्तमान इन तीन कालों के रूप में लक्षण परिणाम घटित होता है। अनागत अवस्था में जो सत्ता वर्तमान रहती है वर्तमान अवस्था में वही अवस्था प्रादुर्भूत होती है, अनागत अवस्था में वह अव्यक्त रहती है। वर्तमान में वह अव्यक्त व्यक्त हो जाती है। अव्यक्त से व्यक्त करने का कार्य काल का है। वर्तमान लक्षण में प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है और यह क्रम से होता है, इसे ही अवस्था परिणाम कहते हैं काल–क्रम का अवलम्बन लेकर क्रम अपना कार्य करता है। इस क्रम के द्वारा पूर्व और अपर का बोध होता है यह क्रम एक क्षण के पीछे दूसरे क्षण का परिवर्तन ही है। जैसा कि योगदर्शन के कैवल्यपाद के ३३वें सूत्र में निर्दिष्ट है। **''क्षण प्रतियोगी परिणामोपरान्त निर्ग्राह्यक्रमः।''** योगज दृष्टि से काल बौद्धेय बोध से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। बुद्धि के बाहर काल नहीं है, वहाँ क्रमकाल है। क्षण क्रम के अनुसार काल में परिणाम व्याप्त होता हैं। योगी उससे ऊपर प्रातिभ ज्ञान प्राप्त

करते हैं जहाँ बिना क्रम के तथा शब्द, अर्थ और प्रत्यय बोध के क्रमरहित त्रिकाल का पूर्णज्ञान उदित होता है। उस स्थिति में ज्ञेय अथवा दृश्य प्रपंच स्वप्नवत् अल्प रह जाता है और ज्ञान अनंत हो जाता है। यही योगी की कालातीत अवस्था है। काल की गति एवं मात्रा देश–भेद से भिन्न–भिन्न होती है। जैसे ब्रह्माण्ड का अधिपति ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ को माना जाता है जिनकी आयु १०० दिव्य वर्ष है। आयु समाप्ति के साथ ही इस ब्रह्माण्ड का महाप्रलय हो जाता है। ब्रह्मा के एक दिन की समाप्ति पर कल्प का प्रलय घटित होता है। ब्रह्मा के १ दिन में १४ मनुओं का आविर्भाव–तिरोभाव होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से चित्त–वृत्ति काल के अधीन होकर संस्कारवश चंचल रहती है। इसलिए यह इस दृश्य–प्रपंच में ही आवर्तित होती रहती है। इस दृश्य प्रपंच को अभिव्यक्त करने वाला काल है। जब तक चित्त का चाञ्चल्य है, तब तक क्रिया और गति एवं क्रम और क्षण की सत्ता है। काल क्षणों की समष्टि है। काल बुद्धि से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। क्षण के क्रम से ही काल का ज्ञान उत्पन्न होता है। अविभक्त में विभक्त अनेक रूप और अनेक क्षणों की प्रतीति बुद्धि में होती है। जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तो उसमें अल्प और ज्ञान अनन्त होने लगता है। महाज्ञान के प्रकाश में क्रम नहीं रहता। उस एक क्षण का ही बोध होता है। जहाँ सब कुछ एक सरल रेखा में विद्यमान है। उस स्थिति में स्थित होकर मल और आवरण नष्ट होने से क्षण का विस्तार काल के रूप में नहीं प्रतीत होता। उस स्थिति के लिए ही कैवल्यपाद में कहा गया है–

ततः कृतार्थानाम् परिणामक्रमसमाप्तिः गुणानाम्।।

अर्थात् जो अपना भोग और मोक्ष दोनों कार्य समाप्त कर चुके हैं उनके गुण साम्यावस्था में स्थित हो जाते हैं और उनके परिणामक्रम (कालप्रवाह) की समाप्ति हो जाती है।

न्याय-वैशेषिक में काल-विवेचन

डॉ. शशिप्रभा कुमार

आस्तिक भारतीय षड्दर्शनों में अन्यतम न्याय–वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी, बहुतत्त्ववादी एवं अनुभववादी विचारधारा के रूप में मान्य हैं। इस दर्शन–परम्परा में काल एक स्वतन्त्र, नित्य एवं विभु द्रव्य माना गया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि न्याय–दर्शन में स्वीकृत षोडश पदार्थों या द्वादश प्रमेयों के अन्तर्गत 'काल' की पृथक्शः गणना नहीं है, किन्तु अनुमान के त्रिकालविषयत्व–निरूपण के अवसर पर प्रसङ्गवश काल के सम्बन्ध में चर्चा हुई है। दूसरी ओर वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत सात पदार्थों में से प्रथम पदार्थ द्रव्य के नौ भेदों में से एक 'काल' माना गया है तथा उसकी सिद्धि एवं स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है जो न्याय–दर्शन में भी पूर्णतः स्वीकार्य है[1]–अतः यहाँ दोनों को एक समन्वित सिद्धान्त मानकर ही काल–विवेचन अभीष्ट है।

वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य माने गये हैं – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन[2] तथा इन्हें ही सब प्रकार के भौतिक एवं अभौतिक कार्यों का उपादान कहा गया है। इनमें से प्रथम चार भौतिक जगत् के आधार कहे गये हैं तथा परमाणुओं के रूप में वे नित्य माने गये हैं। शेष पाँचों द्रव्य स्वरूपतः नित्य हैं; उनमें से भी तीन–आकाश, काल एवं दिक्–एक, विभु तथा सभी मूर्त्तद्रव्यों के आधार माने गये हैं[3] जबकि आत्मा एवं मन अनेक माने गये हैं। तदनुसार 'काल' वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत षष्ठ द्रव्य है।

वस्तुतः न्याय–वैशेषिक में वर्णित सृष्टि–प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक कार्य अपने–अपने कारण से ही उत्पन्न होता है। अतः इस प्रक्रिया में एक ऐसे तत्त्व

---

१. (i) समानतन्त्रे दिक्कालौ वैतत्येन चिन्तितौ।
तन्नेह लिख्यते, लोके द्वेष्या हि बहुभाषिणः।। न्यायमंजरी, भाग १, पृ० १२८
(ii) इत्युक्त्या वैशेषिकतन्त्रसिद्धान्त एव कालविषये नैयायिकानामभिमतः। का.सि.द. पृ०२६

२. पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिग् आत्मा मन इति द्रव्याणि। वै.सू. १/१/५

३. आकाशकालदिशाम् एकैकत्वाद् अपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति, आकाशः कालो दिग् इति। प्र. पा. भा. पृ०३६

की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है जो सभी जन्य वस्तुओं का कालिक आधार हो तथा जिससे परत्व–अपरत्व, युगपत् चिर, क्षिप्र आदि प्रतीतियों की व्याख्या हो सके। ऐसा द्रव्य ही न्याय–वैशेषिक की पारिभाषिक पदावली में काल कहा गया है।[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल एक स्वतन्त्र, स्थिर, सर्वव्यापक एवं वस्तुतः सत् द्रव्य है, केवल बौद्धिक धारणा नहीं जैसा कि योगीजन मानते हैं, न ही यह एक शक्तिविशेष है जो ईश्वर से संपृक्त है, जैसा कि शैव, शाक्त एवं वैष्णव आगमों ने माना है। वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार कुछ विशेष गुणों का आश्रय होने से काल एक बाह्यतः सत् द्रव्य के रूप में अवस्थित है तथा जागतिक प्रक्रिया में इसका अपना एक विशेष कार्य तथा प्रयोजन है, केवल अस्पष्ट स्थिति नहीं है जैसी कि अरस्तू ने मानी है।[2] जगत् की सभी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय रूपी क्रियाओं के पीछे काल विद्यमान रहता है, इसीलिए न्याय–वैशेषिक में काल को प्रत्येक क्रिया की अनिवार्य प्राग्दशा के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] काल ही वह स्थिर आश्रय है जिस पर आश्रित होकर सभी क्रियायें घटित होती हैं तथा काल से ही उनका पौर्वापर्य, यौगपद्य–अयौगपद्य, चिरत्व–क्षिप्रत्व आदि निर्धारित होता है।

'काल' की सिद्धि

यहाँ यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि काल की सत्ता तो स्वतःसिद्ध है, किन्तु उसके द्रव्यत्व में क्या प्रमाण है? काल में रूप, रसादि जैसा कोई भौतिक गुण न होने से उसका बाह्य प्रत्यक्ष तो संभव नहीं[4]; उसका मानस प्रत्यक्ष भी असंभव है क्योंकि मन भी किसी बाह्येन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ही किसी वस्तु का प्रत्यक्ष कर सकता है। अतः प्रश्न होता है कि काल की सिद्धि में क्या प्रमाण है?

इस प्रश्न का उत्तर वैशेषिक दर्शन में यह दिया गया है कि काल का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं अपितु अनुमान से होता है। सूत्रकार महर्षि कणाद ने काल की सिद्धि के लिए परत्व–अपरत्व, युगपत्, चिर तथा क्षिप्र–ये पाँच अनुमापक हेतु दिये हैं[5] तथा भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी काल के अनुमान में इन्हीं पाँच लिङ्गों का

---

१. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः। भाषापरिच्छेद, कारिका ४५
२. Bhaduri, S.N. Studies In N.V. Metaphysics. P.183
३. Misra, Umesh, Conception of Matter In N.V., P.160
४. उल्लेख्य है कि भाट्ट मीमांसक एवं वेदान्ती काल को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं तथा उनके मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हुए न्याय–वैशेषिक परम्परा के मान्य आचार्य जयन्तभट्ट भी काल–प्रत्यक्षत्व के समर्थक ही प्रतीत होते हैं, किन्तु यहाँ अधिकांशतः स्वीकार्य एवं परम्पराप्राप्त न्याय–वैशेषिक मत के आधार पर काल की सिद्धि विवेच्य है।
५. परस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि। वै.सू. २/२/६

निर्देश किया है।[1] तात्पर्य यह है कि संसार की प्रत्येक घटना को हम अतीत, अनागत या वर्तमान, पहले या बाद में, शीघ्र या विलम्ब से इत्यादि रूप में देखते या समझते हैं, अतः हमारा यह अनुभव ही काल नामक एक पृथक् द्रव्य की अनिवार्यता प्रतिपादित कर देता है। काल ही सब कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु है, क्योंकि काल से ही उन–उन वस्तुओं की उत्पत्ति आदि का कथन किया जाता है, जैसे–प्रातः उत्पन्न हुआ, दोपहर तक स्थित हुआ तथा सायं विनष्ट हुआ आदि। इसी भाँति क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र अर्धमास, मास, ऋतु, अयन संवत्सर, युग कल्प, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय आदि हमारे व्यवहारों का भी हेतु काल ही है[2] अतः काल की सिद्धि हो जाती है।

स्पष्टतः यहाँ काल की सिद्धि अनुमान द्वारा की गई है और इस अनुमान के साधक लिङ्ग हैं– परत्व–अपरत्व, यौगपद्य, चिर एवं क्षिप्र। इन परत्वादि प्रतीतियों की व्याख्या न्याय–वैशेषिक में सूर्य परिर्वतनों[3] के सम्बन्ध में की गई है और सूर्य–परिवर्तनों के साथ जिस द्रव्य का सम्बन्ध स्थापित किया गया है,वही काल कहा गया है। आशय यह है कि सूर्य की गतियाँ या आदित्य–परिवर्तन जिसने अधिक संख्या में देखे हैं, वह अपेक्षाकृत पर या बड़ा है तथा जिसका कम सूर्यपरिवर्तनों के साथ सम्बन्ध रहा है, अपर या छोटा है[4]। इसी भाँति यौगपद्य का अर्थ एककालता, अयौगपद्य का अनेककालता, चिरत्व का दीर्घकालता तथा क्षिप्रत्व का अल्पकालता समझना चाहिए तथा इन सबमें काल शब्द से सूर्य–परिवर्तनों या काल की उपाधियों को ही जानना चाहिए[5]। जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु को देखते हैं, वहीं सूर्य–परिवर्तन विशेषण के रूप में उपस्थित हो जाता है क्योंकि पर का तात्पर्य है जिसके जीवन में अधिक दिन व्यतीत हो चुके हैं और दिन स्वयं ही सूर्य–परिवर्तन से जुड़ा हुआ है।[6] अतः यह सिद्ध हो जाता है कि परत्वापरत्वादि प्रतीतियाँ सूर्य–परिवर्तन से सम्बद्ध हैं।

---

१. कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्। प्र. पा. भा., पृ ४१

२. प्र. पा. भा. पृ० ४३ एवं उस पर व्योमवती, पृ० ३४६–५०

३. The Nyaya-Vaisesika followed the primitive belief that the sun revolves around the earth, which was supposed to be static.- Prasad, H.S., Time as a Substantive Reality In Nyaya-Vaisesika, East & West, Vol. 34, Sept. 1984, p. 237.

४. तथाहि जन्मनःप्रभृत्येकस्यादित्यपरिवर्तनानि भूयांसीति परत्वम्, अन्यस्य चाल्पीयांसीत्यपरत्वम्। व्योम. पृ. ३४३

५. सूक्ति, पृ. ३३३–३४

६. न्या. ली. कण्ठाभरण, पृ. २८३–८४

अब प्रश्न यह उठता है कि परत्वापरत्व एवं सूर्य परिवर्तनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का आश्रय द्रव्य कौन सा हो सकता है। परत्व–अपरत्व गुण हैं, और गुण सदा किसी न किसी द्रव्य में आश्रित होकर ही रहते हैं, अतः यह तो निश्चित है कि पर यॉं अपर कही जानेवाली कोई वस्तु होनी चाहिए जिसे न्याय–वैशेषिक में 'द्रव्य' कहा जाता है। परत्वापरत्व के आश्रय का सूर्य परिवर्तनों के साथ सीधा 'संयोग' सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि दोनों एक–दूसरे से बहुत दूर हैं, अतः कोई परोक्ष सम्बन्ध ही हो सकता है और वह परोक्ष सम्बन्ध भी किसी द्रव्य के माध्यम से ही सम्भव है। इस परोक्ष सम्बन्ध को वैशेषिक दर्शन में **'संयुक्तसंयुक्तसमवाय'** नाम दिया गया है–यानि वह पर या अपर कहा जानेवाला व्यक्ति या वस्तु किसी ऐसे द्रव्य के साथ **संयुक्त** है, जो सूर्य के साथ **संयुक्त** है, जिस सूर्य में उसकी गति **समवेत** रहती है, वही सूर्य के साथ संयुक्त द्रव्य ही काल है।[1]

यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन–ये पाँच द्रव्य तो परत्व–अपरत्व के आश्रयरूप में सभी वस्तुओं के साथ सम्बद्ध हो नहीं सकते क्योंकि ये विभु नहीं हैं। अतः यह भी निश्चित है कि वह द्रव्य कोई विभु द्रव्य ही होना चाहिये और वैशेषिक दर्शन में विभु द्रव्य चार माने गये हैं–आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा। इन चारों में से आकाश, दिशा एवं आत्मा भी वह द्रव्य नहीं हो सकते जो परत्व–अपरत्व तथा सूर्य–परिवर्तनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित कर सकें[2]–ऐसा युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के पश्चात् वैशेषिक दर्शन में यही प्रतिपादित किया गया है कि 'काल' नामक एक अतिरिक्त द्रव्य मानना पड़ता है जो संयुक्तसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से सूर्य–परिवर्तनों से जुड़ा हुआ है और परत्व–अपरत्व, चिर–क्षिप्र आदि प्रतीतियों का हेतु है। इस प्रकार अनुमान द्वारा काल नामक द्रव्य की सिद्धि की गई है। सूर्य–परिवर्तनों पर आधृत परत्वापरत्व–प्रतीतियों के आश्रय–रूप में काल–सिद्धि का यह प्रकार न्याय–वैशेषिक परम्परा में सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र[3] ने अपनाया एवं तदनन्तर अन्य आचार्यों ने भी इसी का आश्रय लिया ।

जैसा कि स्पष्ट ही है, काल–सिद्धि का पूर्वोक्त प्रकार अत्यन्त जटिल एवं लम्बा प्रतीत होता है, इसलिए न्याय–वैशेषिक परम्परा के ही एक व्याख्याकार ने यह विचार व्यक्त किया है कि सूर्य–परिवर्तनों से वृद्ध एवं युवक में परत्व–अपरत्व का व्यवहार समीचीन नहीं है क्योंकि सूर्य की गति के साथ उस वृद्ध और युवक

---

१. किरणावली, पृ.११५ तथा कणादरहस्य, पृ. ३२

२. विस्तारहेतु द्रष्टव्य, वैशेषिक दर्शन में पदार्थ–निरूपण, शशिप्रभा कुमार, पृ. १४७–४८

३. न्या. वा. ता. टी., पृ. ४०४–४०६

का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, अतः असम्बद्ध वस्तु को कारण मानने में अतिप्रसङ्ग दोष होगा[1]। इसलिए उन्होंने काल–सिद्धि हेतु कुछ भिन्न तर्क दिये हैं जो अधिक सरल एवं सुबोध हैं, तद्यथा–

(क) काल परत्वापरत्व का कारण है– एक वस्तु की उत्पत्ति और दूसरी वस्तु की स्थिति–इन दोनों का एक ज्ञान से ग्रहण ही परत्व और अपरत्व की प्रतीति है। यह प्रतीति अपने सहकारिकारण काल से ही उत्पन्न होती है। अतः काल कुछ ऐसी प्रतीतियों का कारण है जो घटनाओं के साथ सम्बद्ध होती हैं और जिनकी अन्य किसी विधि से व्याख्या नहीं की जा सकती।

(ख) काल सब कार्यों की उत्पत्ति का निमित्त है– प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में 'प्रागभाव' एक अनिवार्य साधारण कारण है अर्थात् केवल 'प्रागसत्' वस्तु की ही उत्पत्ति होती है। अब यदि काल को न माना जाये तो प्रत्येक वस्तु या तो सदा सत् रहेगी या सर्वथा असत्–और कोई कार्य कभी उत्पन्न न हो सकेगा; इसलिए काल ही सब कार्यों का निमित्तकारण है, उसी से 'प्राक्' आदि व्यवहार सम्भव है, अतः काल को मानना आवश्यक है।[2]

(ग) काल शरीरवैचित्र्य का हेतु है– बालक और वृद्ध के शरीरों में जो अवस्था–भेद दिखाई देता है, वह स्पष्टतः कालजन्य ही है क्योंकि काल के अतिरिक्त इस परिवर्तन का कोई और कारण नहीं बताया जा सकता अतः काल ही मनुष्यों के भौतिक शरीरों में विकास एवं ह्रास का निमित्तकारण है।[3]

इस प्रकार श्रीधराचार्य ने काल–सिद्धि हेतु न्याय–वैशेषिक में प्रचलित पारम्परिक युक्ति 'सूर्य–परिवर्तन' को न अपनाकर उक्त रीति से कुछ मौलिक तर्कों की उद्भावना करके काल नामक द्रव्य की सिद्धि की है।

इसी भाँति, वल्लभाचार्य ने पूर्वोक्त 'चिरन्तन' पद्धति को स्वीकार करते हुए भी अपने ग्रन्थ में काल की सिद्धि के लिए एक 'अभिनव' युक्ति–प्रस्तुत की है कि वस्तुओं की वर्त्तमानता ही काल की ज्ञापक है।[4] अन्य शब्दों में कालानुभूति का आधार हमारा यह ज्ञान होता है कि 'वस्तुएं वर्त्तमान हैं'। 'यह पुस्तक वर्त्तमान है', 'यह मेज वर्त्तमान है', 'यह लेखनी वर्त्तमान है', आदि वाक्यों में विषय का भेद

---

१. आदित्यपरिवर्त्तनाल्पीयस्त्वभूयस्त्वनिबन्धनो युवस्थविरयोः परापरव्यवहार इत्येके, तदयुक्तम्, आदित्यपरिवर्तनस्य युवस्थविरयोः सम्बन्धाभावादसम्बद्धस्य निमित्तत्वे चातिप्रसङ्गात्। न्यायकन्दली, पृ.१५६

२. वही, पृ. १५७–५८

३. वही

४. एवं कालोऽपि सर्वत्राभिन्नाकारवर्त्तमानप्रत्ययवेद्यः। न्यायलीलावती, पृ. ३१०–११

होने पर भी वर्त्तमानता समान है अतः वे काल को सूचित करते हैं। सूक्ष्म विश्लेषण करने पर व्यक्त होता है कि वल्लभाचार्य जिस युक्ति को 'अभिनव' कह रहे हैं, वह वस्तुतः न्यायभाष्यकार वात्स्यायन द्वारा पहले से ही संकेतित थी[१], उन्होंने केवल उसका विस्तार किया है।

संक्षेप में काल–सिद्धि के विषय में न्याय–वैशेषिक आचार्यों ने जिन मान्यताओं को प्रकट किया है, उनका आकलन करने पर निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं–

(अ) जयन्तभट्ट आदि कुछ विद्वानों के अनुसार काल की सिद्धि प्रत्यक्ष से भी हो सकती है और अनुमान से भी।[२]

(आ) वैशेषिक सूत्रकार कणाद एवं भाष्यकार प्रशस्तपादसहित वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों का विचार है कि काल की सिद्धि अनुमान से ही हो सकती है और उसमें परत्वापरत्वादि साधक लिङ्ग हैं जिनकी व्याख्या सूर्य–परिवर्तनों के सम्बन्ध में की गई है।

(इ) श्रीधराचार्य का मत है कि काल की सिद्धि संसार के सब कार्यों के निमित्त या सहकारिकारण रूप में अनुमान से होती है, उसमें सूर्य–परिवर्तनों का सम्बन्ध नहीं है।

(ई) न्यायभाष्यकार वात्स्यायन एवं वल्लभाचार्य की दृष्टि में वर्त्तमानता ही काल की साधक है।

'काल' का लक्षण

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद के अनुसार 'नित्यों में न होने तथा अनित्यों में होने से स्पष्ट है कि जन्य कार्यों का कारण (निमित्त) ही काल है'[३] भाव यह है कि नित्य द्रव्यों में तो परापरादि प्रतीतियों का अभाव होता है किन्तु जन्य या अनित्य वस्तुओं में उक्त प्रतीतियाँ विद्यमान रहने से काल सभी जन्य वस्तुओं का निमित्तकारण है। भाष्यकार प्रशस्तपाद ने काल की सिद्धि हेतु जो तीन लिङ्ग दिए हैं, वे तीनों काल के तीन लक्षणों[४] को व्यक्त करते हैं।

(क) काल पर–अपर, युगपत् चिर, क्षिप्र आदि प्रतीतियों का हेतु है।

(ख) काल वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु है।

(ग) काल क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला आदि प्रत्ययों का हेतु है।

---

१. न्या. भा. (२/१/४१ न्या. सू. पर)

२. सिद्धः कालश्चाक्षुषो लैङ्गिको वा। न्या. मं., भाग १, पृ. १२८

३. नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति। वै.सू. २/२/६

४. Sinha, J.N., History of Indian Philosophy, Vol. I., p. 377

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन के अनुसार जो परत्व–अपरत्व आदि प्रतीतियों का हेतु है, सारे उत्पन्न होने वाले कार्यों का जनक है तथा जगत् के सभी पदार्थों का आधार भी है, वही काल है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ या कार्य किसी न किसी काल में ही उत्पन्न होता है।[१] अन्नम्भट्ट ने काल को लक्षित करते हुए कहा है कि अतीतादि के व्यवहार का हेतु ही काल है अर्थात् हमारे अतीत, अनागत आदि शब्दों का आधार रूप द्रव्य ही काल है।[२] 'काणादसिद्धान्तचन्द्रिका' में सब कार्यों की उत्पत्ति के निमित्त और जगत् के आधार को काल कहा गया है।[३]

इस प्रकार काल के इन विविध लक्षणों का निष्कृष्ट सार यही है कि काल एक सर्वव्यापक द्रव्य है तथा हमारी कालिक परत्वापरत्व आदि प्रतीतियों का आधार है।

काल के गुण

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि किसी भी द्रव्य का द्रव्यत्व उसमें आश्रित गुणों से ही निष्पन्न होता है, अतः काल की एक द्रव्य के रूप में सिद्धि करने के पश्चात् उसके गुणों का वर्णन किया गया है। इस विषय में कणाद का वचन है कि काल का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व तो वायु की भाँति ही व्याख्यात समझना चाहिए[४]। इसे और विशद करते हुए जयन्तभट्ट का कहना है कि काल किसी अन्य द्रव्य पर आश्रित नहीं है, अतः अनाश्रित होने से ही इसका द्रव्यत्व सिद्ध हो जाता है।[५] प्रशस्तपाद ने काल में पाँच गुणों की सत्ता स्वीकार की है–संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।[६] ये पाँचों ही सामान्य गुण हैं, अतः इससे स्पष्ट होता है कि काल का कोई भी विशेष गुण नहीं है।

संख्या की दृष्टि से काल एक है, काल में अनेकत्व का ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है। एकत्व के साथ पृथक्त्व का अनुविधान अर्थात् नियत साहचर्य है, अतः काल में एकत्व की सिद्धि से पृथक्त्व भी सिद्ध हो जाता है।[७] चूँकि यौगपद्य, चिर, क्षिप्र आदि प्रतीतियाँ सभी स्थानों में होती हैं, अतः यह स्पष्ट होता है कि काल का परिमाण विभु या सर्वव्यापक है। काल और अवयवीद्रव्य या पिण्ड में संयोग

---

१. भाषापरिच्छेद, कारिका ४५–४६
२. अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। त. सं., पृ. ११
३. सर्वोत्पत्तिनिमित्तं जगदाधारश्च कालः। का. सि. च. पृ. १०
४. तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। वै.सू. २/२/८
५. अनाश्रितश्च। अनाश्रितत्वादेव द्रव्यम्। न्या. मं. भाग१, पृ.१२८
६. तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। प्र.पा. भा. पृ.४३
७. न्या. क., पृ.१५९–६०

होने पर ही परत्व की प्रतीति होती है, इसी से काल में संयोग गुण की सिद्धि होती है। चूँकि विभाग संयोग का नाशक है, अतः काल में विभाग भी अवश्य होता है, यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार काल में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच सामान्य गुण पाये जाते हैं तथा इन गुणों का आश्रय होने से काल का द्रव्यत्व भी अप्रतिहत रूप से सिद्ध हो जाता है।

काल की विशेषतायें

उक्त रीति से काल की सिद्धि, स्वरूप एवं गुणों पर विचार करने के उपरान्त न्याय–वैशेषिक मतानुसार काल की निम्न विशेषतायें व्यक्त होती हैं–

(क) काल एक वस्तुतः सत् 'द्रव्य' है।[१]

(ख) काल 'नित्य' द्रव्य है[२], इसकी उत्पत्ति एवं नाश नहीं होता।

(ग) काल 'विभु' द्रव्य है[३], इसका परिमाण 'परममहत्' है यह सभी मूर्त्त द्रव्यों से संयुक्त है।[४]

(घ) काल विभु होने कारण स्वयं 'निष्क्रिय' है क्योंकि सर्वव्यापक द्रव्यों में क्रिया सम्भव ही नहीं।[५]

(ङ) काल में पाँच सामान्य गुण पाये जाते हैं[६]–संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।[६]

(च) काल अतीन्द्रिय है और उसका कोई विशेष गुण नहीं है।[७]

(छ) काल स्वयं निष्क्रिय है किन्तु क्रिया का उपनायक है। 'मैं इस समय जा रहा हूँ' आदि वाक्यों में काल क्रिया के आधार रूप में ही व्यक्त होता है, अतः काल क्रिया का निमित्तकारण है।[८]

(ज) काल प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु है क्योंकि ये सब दशायें काल के प्रसंग में ही व्यक्त की जाती हैं।[९]

---

१. वै. सू. १/१/५ (पूर्वोदधृत)
२. वै. सू. २/२/७ (पूर्वोदधृत)
३. कारणे कालः। वै.सू. ७/२/२५
४. आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं च। प्र.भा.भा., पृ० ११
५. दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि। वै.सू. ५/२/२१
६. दिक्कालयोः पञ्चगुणवत्त्वम्। प्र. पा. भा., पृ. १३
७. किरणा., पृ. ४०
८. कालः कल्पयितुं युक्तो क्रियातो नापरो ह्यसौ। न्या. मं., भाग १, पृ. १२४
९. Keith, Indian Logic and Atomism. pp.233-34

(झ) काल अतीत, अनागत, वर्त्तमान आदि शब्दों के प्रयोग का आधार है।[१]

(ञ) काल क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला आदि काल–मापक शब्दों के व्यवहार का हेतु है।[२]

(ट) काल हमारी परत्व–अपरत्व, यौगपद्य–अयौगपद्य, चिर–क्षिप्र आदि प्रतीतियों का कारण है।[३]

(ठ)काल स्वरूपतः 'एक' ही है। वस्तुतः एक होने पर भी संसार के कार्यों के आरम्भ, समाप्ति, स्थिति और विनाश रूप उपाधियों के कारण काल में अनेकता का व्यवहार होता है। जैसे एक ही स्फटिक मणि नीली और पीली वस्तुओं के संयोग से कभी नीली और कभी पीली दिखाई देती है तथा एक ही मनुष्य पाकक्रिया के सम्बन्ध से पाचक तथा पठनक्रिया के सम्बन्ध से पाठक कहा जाता है, वैसे ही उक्त उपाधियों के भेद से एक ही काल कभी आरम्भकाल, कभी अभिव्यक्तिकाल और कभी निरोधकाल आदि भिन्न–भिन्न नामों से व्यवहृत होता है।[४] अतः काल के भेद तो क्रियाजन्य उपाधियाँ हैं अर्थात् एक ही काल को किसी धर्म से विशिष्ट होने पर दिन, किसी अन्य धर्म से अवच्छिन्न होने पर क्षण आदि कह दिया जाता है। वस्तुतः काल एक ही है– क्षण, दिन, मास आदि उसकी उपाधियों के नाम हैं[५]। भूत, भविष्य, वर्त्तमान आदि काल–भेद भी औपाधिक हैं, तात्त्विक नहीं। अन्य शब्दों में रवि–क्रियादि काल की उपाधियाँ भिन्न–भिन्न होती हैं किन्तु काल नहीं[६]। अतः काल एक है–यही मान्यता समीचीन है, अनेकत्व की कल्पना में तो गौरव दोष है।[७]

(ड) काल प्रत्यक्षगम्य नहीं, अनुमान द्वारा ही उसकी सिद्धि होती है। न्याय–वैशेषिक मतानुसार नित्य एवं विभु द्रव्यों का प्रत्यक्ष संभव नहीं–उनका केवल अनुमान हो सकता है।[८] तदनुसार 'काल' तत्त्व एक असीम, अखण्ड, अविभाज्य,

---

१. त.सं., पृ. ११
२. प्र.पा.भा., पृ. ४३
३. वही, पृ. ४१
४. काललिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपि सर्वकार्याणामारम्भक्रियाभिनिर्वृत्तिस्थितिनिरोधोपाधि–भेदान्मणिवत्पाचकवद्वा नानात्वोपचार इति। प्र. पा. भा. पृ. १४४
५ न्या. सि. मु. एवं दिनकरी, पृ. १४८
६. ननु कालस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानभेदेन बहुत्वात् कुत एकत्वमिति चेन्न, उपाधिभेदेन भेदप्रत्ययात्। कालोपाधयो रविक्रियादिरूपा भिन्ना एव। तर्कामृत, पृ. १४
७. किरणा., पृ. ११६
८. कालस्तु वैशेषिकराद्धान्ते न प्रत्यक्षः, अतएव तत्साधकमनुमानमुपन्यस्तं पुरातनैः काणादतन्त्रपरिशीलननिपुणैः। कालसिद्धान्तदर्शिनी, पृ. २०

अनुमेय द्रव्य है, वह हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता–केवल कालिक गुणों के आधाररूप में अनुमित हो सकता है।

इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि मीमांसकों एवं वैयाकरणों की भाँति वैशेषिक परम्परा में भी कुछ आचार्य काल की प्रत्यक्षगम्यता स्वीकार करते हैं जिनमें जयन्त भट्ट[१], जयदेव मिश्र तथा भगीरथ ठक्कुर[२] प्रमुख हैं; यद्यपि न्याय–वैशेषिक का सर्वमान्य सिद्धान्त यही है कि काल अतीन्द्रिय है।[३]

(ढ) तत्त्वतः एक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से काल के तीन भेद माने जाते हैं–अतीत, वर्तमान एवं अनागत।[४] न्यायवैशेषिक में भी ये तीनों प्रकार के काल स्वीकार किये गये हैं, यद्यपि काल का यह विभाजन वहाँ उपाधिजन्य ही माना गया है, वास्तविक नहीं। अन्य शब्दों में, वस्तुतः काल एक ही है। किन्तु जन्य उपाधियों के साथ संयुक्त होकर तीन रूपों में प्रकट होता है।[५] जब कोई घटना प्रारम्भ हो चुकी है किन्तु समाप्त नहीं हुई, तब उससे सम्बद्ध काल को भूत कहते हैं एवं जो घटना अभी आरम्भ ही नहीं हुई, उसे भविष्य कहते हैं।[६] अतः क्रियारूप उपाधियों से युक्त होने पर काल के ये तीन भेद प्रतीत होते हैं, तत्त्वतः काल एक ही है।

'वर्त्तमान'काल–न्याय दर्शन में इसी स्थल पर पूर्वपक्ष की ओर से एक शंका उठाई गई है कि यहाँ जिसे 'वर्तमान काल' कहा जा रहा है, उसकी तो कोई सत्ता ही नहीं है।[७] उदाहरण के लिए वृक्ष से गिरने वाले फल को हम या तो पेड़ से गिरा हुआ (भूत) कहेंगे या पृथ्वी पर गिरने वाला (भविष्य) कहेंगे– इन दोनों के बीच में कोई आधार ही नहीं बचता, जिसके सम्बन्ध में वर्त्तमानकाल का उल्लेख किया जाये, अतः वर्त्तमान काल को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूत्रकार गौतम ने इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है कि वर्त्तमान काल को माने बिना तो काम चल ही नहीं सकता क्योंकि यदि वर्त्तमान नहीं होगा तो भूत और भविष्यत् भी नहीं हो सकते– वे दोनों भी वस्तुतः वर्त्तमान पर ही आश्रित होते हैं। अन्य शब्दों में काल आधार से व्यक्त नहीं होता, क्रिया से व्यक्त

१. न्या.मं. भाग १, पृ. १२८
२. उमेश मिश्र द्वारा संकेतित, CMNV, p. १८५
३. न्या. को. पृ.२३३
४. काल एकोऽपि उपाधिभेदात्त्रिविधः। अतीतः अनागतः वर्तमानश्च। तर्ककौमुदी, १, पृ. ३
५. जन्यमात्रं कालोपाधिः। सिद्धान्तचन्द्रोदय (त.सं., बोडास द्वारा पृ. १३२ पर उद्धृत)
६. किरणा, पृ. १२०–२१
७. न्या. सू. २/१/४० तथा उस पर न्या. भा०

होता है।[1] और जब फल के गिरने की क्रिया चल रही होती है, उस काल को वर्त्तमान कहते हैं, अन्यथा गिरने की क्रिया का हो चुकना (भूत) या होना (भविष्य) किसके सम्बन्ध में कहा जायेगा अतः वर्त्तमान काल का निषेध करना कथमपि तर्कसंगत नहीं है। वर्त्तमान काल तो वस्तुओं की वर्त्तमानता या अस्तित्व का भी द्योतक है तथा उसके अभाव में तो किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान ही न हो सकेगा और इस प्रकार व्यवहार ही असंभव हो जायेगा, अतः वर्त्तमान काल को तो मानना ही पड़ता है।[2]

न्याय–वैशेषिक की उक्त कालसम्बन्धी मान्यताओं का वेदान्ती दार्शनिक श्रीहर्ष ने प्रबल खण्डन किया है एवं कहा है कि प्रथम तो काल का वास्तविक स्वरूप ही सिद्ध नहीं है और दूसरे काल के तीनों भेद –भूत, भविष्य और वर्तमान–क्रिया पर ही आधृत होने से एक ही सिद्ध होते हैं तथा वास्तविक नहीं हैं।[3] श्रीहर्ष के इन सब आक्षेपों का युक्तिपूर्वक खण्डन करके न्याय–वैशेषिक में पुनः यही प्रतिपादित किया गया है कि काल एक वास्तविक तत्त्व है; भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान उसके क्रियागत भेद हैं तथा वर्त्तमानकाल की भी सत्ता है[4]। अन्य शब्दों में, न्याय–वैशेषिक मान्यता है कि तत्त्वतः काल एक, अनन्त एवं अविभाज्य है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से काल के तीनों भेद भी सत् एवं वास्तविक हैं।[5] यद्यपि वे भेद केवल काल के नहीं कहे जा सकते अपितु काल एवं क्रिया के सम्बन्ध पर आधृत हैं।

कालविषयक विप्रतिपत्तियाँ

सामान्यतः न्याय–वैशेषिक परम्परा में काल को स्थिर एवं निष्क्रिय द्रव्य माना गया है जो सभी कार्यों का निमित्तकारण है। किन्तु इसी परम्परा में कुछ ऐसे विचारक भी हुए हैं जो 'काल' के विषय में अपना स्वतन्त्र मत रखते हैं तथा पारम्परिक सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। उनमें से कुछ मुख्य मतों का संकेत यहाँ अभीष्ट है तद्यथा–

(क) 'काल' अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। रघुनाथ शिरोमणि का विचार है कि काल को एक पृथक् द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि काल की

---

१. नाध्वव्यंग्यः कालः, किन्तर्हि, क्रियाव्यंग्यः। न्या. भा. (न्या. सू. २/१/४१)
२. न्या. सू. २/१/४३ तथा उसपर न्या. भा.
३. खण्डनखण्डखाद्य, पृ. ६८२–८४
४. Mandal, Kumar Kishore, The Concepts of Space and Time In Indian Thought, pp. 92-96
५. तस्मोदेकोऽप्ययं कालः क्रियाभेदाद्विभिद्यते। न्या. मं., भाग १, पृ. १२७

उपाधि रूप में स्वीकृत उपाधियों से अवच्छिन्न होकर ईश्वर ही कालव्यवहार का निमित्त माना जा सकता है।[1]

(ख) 'क्षण' ही काल है–एक ओर तो रघुनाथ शिरोमणि 'काल'–द्रव्यत्व का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर काल के ही सूक्ष्मतम रूप 'क्षण' को एक नवीन पदार्थ मानने का सुझाव देते हैं तथा उसे 'कालोपाधि ही कहते हैं।[2] उनका विचार है कि 'क्षण' ही 'इदानीम्' इत्यादि व्यवहार के विषय हैं तथा इन्हीं से सब–व्यवहार निष्पन्न हो जाते हैं, अतः अतिरिक्त काल–द्रव्य को मानने की क्या आवश्यकता है? किन्तु जब उन्हें काल ही स्वीकार्य नहीं, तो कालोपाधि 'क्षण' कैसे मानी जा सकती है–इसका कोई उत्तर उन्होंने नहीं दिया।

(ग) ईश्वर ही सब कार्यों का निमित्त है–रघुनाथ की ही भाँति भासर्वज्ञ ने भी यही मत प्रकट किया है कि काल (एवं दिशा) को एक पृथक् द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भगवान् ईश्वर ही सब ज्ञानाज्ञानात्मक कार्यों का निमित्त है।[3]

(घ) 'काल' ईश्वर से पृथक् द्रव्य है–वेणीदत्त का विचार है कि ईश्वर तो एक ही है, उससे कालजन्य विविध अनुभूतियों की व्याख्या संभव नहीं, अतः काल ईश्वर से पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य है–इसके लिए श्रुति प्रमाण भी प्रस्तुत किया जा सकता है– 'स एष संवत्सरः।[4]

(च) काल दिशा एवं आकाश से अभिन्न है – सप्तपदार्थी के लेखक शिवादित्य एवं वैशेषिक सूत्रों के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार का मत है कि काल एवं दिशा आकाश से अभिन्न हैं, अतः उन्हें पृथक्, स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं।[5]

(छ) चिर, क्षिप्र, आदि काल के साधक लिङ्ग नहीं– जयन्तभट्ट ने काल के विषय में किन्हीं विद्वानों का यह मत उद्धृत किया है कि चिर, क्षिप्र आदि काल के साधक लिङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि उनमें और काल में कोई व्याप्ति नहीं है। मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र आदि केवल हमारी कल्पना से जन्य हैं, वस्तुतः काल नामक कोई वास्तविक द्रव्य है ही नहीं।[6]

---

१. प.त.नि., पृ. २३
२. क्षणश्च क्षणिकोऽतिरिक्तः कालोपाधिः। वही, पृ. ७२
३. न्या. भू., पृ. ४६०–६१
४. पदार्थमण्डनम्, पृ. १–३
५. स. प. पृ–१७ एवं तर्कालङ्कारभाष्यपरीक्षा, पृ. ३३१–३४
६. न्या. मं. भाग १, पृ. १२६

(ज) महाकाल और खण्डकाल दो काल–भेद हैं–एक आधुनिक विद्वान् का विचार है कि न्याय–वैशेषिक में दो प्रकार के काल–भेद माने गये हैं–एक तो नित्य, अखण्ड, महाकाल एवं दूसरा सीमित, व्यावहारिक या खण्डकाल, जिसे 'कालोपाधि' कहा गया है। महाकाल एक स्थिर अविभाज्य तत्त्व है जिसके साथ सब वस्तुएं कालिक सम्बन्ध से ही जुड़ती हैं जब कि खण्डकाल उसी अनन्त महाकाल की एक उपाधि है।[१]

काल-मान

न्याय–वैशेषिक दर्शन में काल–मापन सम्बन्धी अनेक पदों का प्रयोग[२] यह सूचित करता है कि यहाँ काल को अखण्ड, असीम मानते हुए भी उसकी मापक उपाधियों को भी स्वीकार किया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि नित्य, महाकाल हमारे व्यावहारिक अनुभव का विषय नहीं बन सकता, किन्तु उपाधियों के द्वारा ही उसके मान की सम्भावना है।[३] इस औपाधिक या खण्ड–काल के मापन का आधार दैनिक सूर्यपरिस्पन्द को माना गया है तथा इसके लिए नक्षत्रविज्ञान या गणितशास्त्र[४] की पद्धति अपनाने का निर्देश किया गया है। तदनुसार प्रशस्तपाद के अतिरिक्त श्रीधराचार्य तथा उदयनाचार्य ने कुछ कालमानों का निर्देश किया है जिनकी परिकलन–शुद्धता भी आँकने का प्रयास किया गया है।[५]

निष्कर्ष

इस भाँति, उक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर सारांश रूप में कहा जा सकता है कि न्याय–वैशेषिक दर्शन में काल को एक पृथक्, स्वतन्त्र, सम्पूर्ण अविभाज्य, असीम, निरवयव एवं नित्य द्रव्य माना गया है। अतीत, अनागत, वर्त्तमान या क्षण, लव, निमेष आदि केवल उसकी व्यावहारिक उपाधियाँ हैं, वास्तविक नहीं हैं। काल को निरवयव इसलिए कहा गया है कि इसके अवयवों की उपलब्धि नहीं होती तथा इसे नित्य माना गया है चूँकि इसके विभागादि का नाश होने से इसका नाश नहीं हो सकता। काल के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि इसे एक माना जाये या अनेक? काल की एकता तार्किक अनिवार्यता है तो उसकी

---

१. Ingalls, H.H., Materials for the Study of Navya Nyaya Logic, p. 78
२. क्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्त्तयामाहोरात्रार्धमासर्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पमन्वन्तरप्रलयमहाप्रल–यहेतुः। प्र.पा.भा. पृ. ४३
३. Matilal, B.K. The Navya Nyaya Doctrine of Negation, p 43
४. गणितशास्त्रानुसारेण प्रत्येतव्यम्। न्या. क. पृ. १५६
५. Seal, B.N, Positive Sciences of the Ancient Hindus, pp. 76-80

अनेकता हमारे अनुभव का विषय है। इसीलिए न्याय–वैशेषिक दर्शनों ने सैद्धान्तिक रूप से काल को एक मानते हुए भी व्यावहारिक अनुभव की सत्यता एवं विविधता के आधार पर उपाधि–भेद से उसकी अनेकता को भी स्वीकार कर लिया जो इस दर्शनधारा की वस्तुवादिता का ही परिचायक है। यहाँ काल को जगत् के समस्त कार्यों का निमित्तकारण कहा गया है, अब यदि काल ही वास्तविक नहीं माना जाये तो वे कार्य भी अवास्तविक सिद्ध हो जायेंगे। अतः काल की वास्तविकता न्याय–वैशेषिक के बहुतत्त्ववादी वस्तुवाद की आधारशिला है तो उसकी व्यावहारिक अनेकता इनके अनुभववाद से प्रमाणित है। न्याय–वैशेषिक की स्थापना है कि काल के बिना किसी भी सद्वस्तु का अस्तित्व अकल्पनीय है, अतः काल एक सतत वर्त्तमान या नित्य तत्त्व है तथा सभी जन्य कार्यों का जनक, आश्रय अथवा निमित्त है। काल ही हमारे अतीत आदि व्यवहारों का हेतु है तथा सारे जगत् का आधार है।

भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व की अवधारणा

डॉ. सोमनाथ नेने

भारतीय वाङ्मय में विशेष रूप से दर्शन शास्त्र की लगभग सभी शाखाओं में काल को एक नित्य एवं सर्वव्यापक तत्त्व के रूप में प्रकाशित किया गया है। दर्शन के विविध सम्प्रदायों में काल के स्वरूप तथा उसके परिज्ञान की प्रक्रिया को लेकर भले ही यथा कथञ्चित् मतभेद हों परन्तु उसकी नित्यता तथा सर्वव्यापकता के विषय में सभी आस्तिक सम्प्रदाय लगभग एकमत हैं।

भारतीय वाङ्मय में सर्वविधशास्त्र-विवेचित 'कालतत्त्व', दिव्य दैवी स्वरूप में, क्रियात्मकता के रूप में तथा 'क्रम' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पुराणों में इसे दिव्य ईश्वरीय स्वरूप में चित्रित किया गया है। विष्णु-पुराण में इसे 'परब्रह्म का रूप, प्रथम पुरुष, व्यक्त, अव्यक्त तथा अन्य अनेक रूपों में विद्यमान एक तत्त्व के रूप में प्रदर्शित किया गया है।[१] भगवद्गीता में भगवान् ने भी 'समस्त उत्पन्न तत्त्वों में आयु की संख्या कराने वालों के मध्य मैं काल हूँ' कहते हुए[२] काल के दैवी स्वरूप को अभिव्यक्त किया है।

काल का क्रियात्मक स्वरूप, 'मुखं व्याकरणम्'[३] की परिभाषानुसार समग्र शास्त्रों के प्रवेश-द्वाररूपी पदशास्त्र की अभिख्या से मण्डित 'व्याकरण शास्त्र' में विशेषरूप से अभिव्यक्त हुआ है। व्याकरणशास्त्र में लकारों की कल्पना काल पर ही अवलम्बित है। क्रिया में विद्यमान क्रमरूपता का निष्पादन काल के ही माध्यम से होता है। 'क्रिया के एक होने पर भी उसके विविध रूपों को पानी के रहट की आवर्तनगति के अनुसार काल ही परिभ्रमित करता रहता है।[४] विविध क्रियाओं का खण्डित रूप दिखाई देने पर

---

१. परस्य ब्रह्मणः रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्।। विष्णु पुराण १,२,१८

२. कालः कलयतामहम्। भगवद्गीता १०,३०

३. पाणिनि-शिक्षा, ४२

४. जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः।
सकलाः कलयन् सर्वाः कालाख्यां लभते विभुः।। वाक्यपदीयम्,३, कालसमुद्देश -१४, पृ. ३४६, विद्याविलास-प्रेस, गोपालमन्दिर, बनारस, १९२८.

भी उनके एकत्व के अवलोकन की शक्ति इस काल से ही प्राप्त होती है। अतः इसे अखण्ड माना गया है। पदशास्त्र के अनुरूप सङ्गीतशास्त्र की भी सम्पूर्ण आधारशिला काल पर ही परिस्थित है। मात्राव्यवहार में होने वाले 'ताली' तथा 'खाली' का व्यवहार बिना काल के केवल खाली ही रह जाता है।

भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व

मीमांसा शास्त्र प्राचीन भारतीय वाङ्मय के पद, वाक्य तथा प्रमाण इन तीन प्रमुख शास्त्रों में वाक्यशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है। इस शास्त्र का प्रमुख कार्य धर्म रूपी 'कर्म' की सङ्गति हेतु वैदिक वाक्यों का विश्लेषण करना है। कर्म के प्रधान तथा अङ्ग कर्मों के समग्र क्रियाकलाप वैदिक वाक्यों के विश्लेषण के माध्यम से अभिव्यक्त होने से यह शास्त्र अपने वाक्य के स्वरूप को भी अभिव्यक्त करता है। वैदिक वाक्यों के विश्लेषण के कर्म की सङ्गति हेतु अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ी है[१] तथा अदृष्ट की सङ्गति हेतु देहेन्द्रियादिकों से भिन्न आत्मतत्त्व की परिकल्पना की गई है।[२] आत्मतत्त्व के अवलम्बन के पश्चात् उसका जगत् से सम्बन्ध तथा जागतिक पदार्थों का भी इसी शृङ्खला में विवेचन आवश्यक होने से मीमांसा का स्वरूप एक दर्शन शास्त्र के रूप में भी स्थापित हो गया है।

भाट्टमीमांसा में कर्मकाण्ड-सङ्गति, वाक्यार्थनिश्चीति तथा दार्शनिक स्वरूप, इन तीनों पक्षों में 'कालतत्त्व' की एक विशिष्ट भूमिका परिलक्षित होती है।

कर्मकाण्ड की सङ्गति में कालतत्त्व

जिस प्रकार पुराण वाङ्मय में काल का दैवी रूप तथा पदशास्त्र में क्रियात्मक पक्ष अभिव्यक्त हुआ है उसी प्रकार काल के 'क्रम' स्वरूप के आधार पर मीमांसा शास्त्र में विविध प्रधान तथा अङ्गकर्मों के अनुष्ठान में साहित्य की सङ्गति प्रदर्शित की गई है।

कर्मकाण्ड की निष्पत्ति हेतु वेद के विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय तथा निषेध, इन पञ्च विभागों में कर्म के साक्षात् प्रतिपादक होने से विधिवाक्यों का सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस विधि के प्रथम भेद अपूर्व विधि के उत्पत्तिविधि, विनियोग विधि तथा प्रयोगविधि ये तीन भेद साक्षात् रूप से कर्म की निष्पत्ति से सम्बद्ध हैं। इनमें

---

१. फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।। तन्त्रवार्त्तिक, अपूर्वाधिकरण, वार्तिक संख्या ०१.

२. आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम् आत्मज्ञानस्य लक्ष्यते।। श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, वार्तिक संख्या १०३.

सभी कर्मों के एक साथ अनुष्ठान का सम्पादन रूप साहित्य प्रयोगविधि का विषय है।[1] इस सहभावात्मक साहित्य का प्रतिपादन क्रम के आधार पर किया जाता है।[2] इस क्रम का अस्तित्त्व काल के पूर्वापर रूप 'उपाधि' पर ही अवलम्बित है। यह काल ही है, जो कर्म के भेद को स्वयं अपने पर लेकर एक के पश्चात् एक क्रमानुसार किए जाने वाली याज्ञिक क्रियाओं में एकात्मता रूपी साहित्य की अन्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति-प्रमाण कर्मकाण्ड की दृष्टि से 'कालतत्त्व' के वैशिष्ट्य को प्रकट कर देता है।

'दर्श पूर्णमास याग' में दर्शपद-लक्षित अमावास्या में दधि एवं पय से किये जाने वाले दो ऐन्द्र तथा आग्नेय, इन तीन यागों का प्रतिपादन किया गया है।

पूर्णमासी में आग्नेय, अग्नीषोमीय एवं उपांशु ये तीन याग प्रतिपादित किये गये है। प्रसङ्ग में 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते'[3] तथा 'य एवं विद्वानमावस्यां यजते'[4] इन विद्वद्वाक्यों से 'दर्श' तथा पौर्णमासी शब्दों से कालपरक दो तिथियों में सम्पाद्य यागों के दो समुदाय मानने पर ही 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकाम:' इस अधिकार-विधि में विद्यमान द्विवचन की सङ्गति सम्भव हो पाती है।[5]

तन्त्रवार्तिक के 'पौर्णमास्यधिकरण' में आचार्य कुमारिल भट्ट कहते हैं कि 'पौर्णमास्य' तथा 'आमावास्य' शब्दों को कर्मपरक मानने पर इन छहों यागों के दोनों समूहों के एकत्व के विरोध का परिहार नहीं हो सकता परन्तु इनको कालपरक मान लेने पर सम्पूर्ण याग के एकत्व में उपस्थित विरोध का परिहार हो जाता है। सर्वसाधारण रूप से अविरोध पक्ष का ही अवलम्बन समीचीन है।[6] प्रकृत स्थल में उक्त शब्दों से प्रथम काल का ही ग्रहण होता है बाद में काल से सम्बद्ध कर्म का[7]। 'कालतत्त्व' के माध्यम से ही सारे यागसमुदाय के एकत्व की सङ्गति प्रदर्शित की गई है।

---

१. तस्मादङ्गवाक्यैकवाक्यतामापन्न: प्रधानविधिरेकवाक्यतावगततत्साहित्यं विदधत् उक्तविधया एककालानुष्ठानानुपपत्तेरविलम्बं विधत्ते इति..........। मीमांसान्यायप्रकाश, पृष्ठ १६२, श्री. लालबहादुरशास्त्रि केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९८३,

२. 'काल एव क्रम इति' श्लोकवार्त्तिक, पृष्ठ ५७१, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी १९७८.

३. तन्त्रवार्तिक, अजिता, पृष्ठ १४४ गङ्गानाथ झा केन्द्रीसंस्कृत विद्यापीठ, १९९०, तथा मीमांसा परिभाषा पृष्ठ, ४२ कृष्णदास अकादमी, वाराणसी १९८७

४. वही.

५. 'त्रिकस्य त्रिकस्यामावास्यापौर्णमासीशब्दाभ्यां समुदायरूपेण विद्वद्वाक्येऽनुवादस्य प्रयोजनन्तु 'दर्शपूणमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेत' इत्यादौ द्विवचनोपपत्ति:।' मीमांसा- परिभाषा पृ. ४८, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी १९८७.

६. इह च पौर्णमास्यमावास्यशब्दौ यदिकर्मवचनावेव स्यातां ततो न विरोध: परिह्रियेत कालवचनत्वे त्वनयोरविरोध:। साधारण्याच्चाविरोधपक्ष एव समर्थनीय:।'' तन्त्रवार्त्तिक पृष्ठ १५० अजिता, गङ्गानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ्म प्रयोग, १९९०.

७. प्रथमं काल एवाभ्यां शब्दाभ्यां प्रतिपद्यते।
पश्चात्तकर्म तद्योगादत: कालोऽत्र गृह्यते।। तन्त्रवार्तिक पृ.१५०

वाक्यार्थ-निष्पत्ति में काल तत्त्व

भाट्टमीमांसा द्वारा प्रतिपाद्य निष्पत्ति में भी काल का अपना एक विशिष्ट योगदान है। आचार्य कुमारिल भट्ट शब्दार्थनिष्पत्ति-प्रक्रिया के विवेचन के प्रसङ्ग में वर्णो की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'जैसे नित्य परमाणुओं से घटादि की रचना की जाती है वैसे ही (भाषा के आधारभूत) वर्ण नित्य होने पर भी क्रिया-प्रयोगरूपी व्यवहार के आधार पर क्रमविशेष का निष्पादन किया जाता है।[1]

एकवर्ण के बाद दूसरा , इस आनुपूर्वी का आधार यह कालरूप क्रम ही भाषाव्यवहार का आधार बनता है। भाषाव्यवहार में वर्णों की आनुपूर्वी में पौर्वापर्य का क्रम, वर्णों के पूर्वापर में विद्यमान दीर्घ ह्स्वादिरूप काल पर ही अवलम्बित है। वर्णों के उच्चारणात्मक ध्वनि के पूर्वापर में स्थित काल ही क्रम है।[2]

मीमांसा दर्शन के वाक्यार्थ-निष्पत्ति में अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद ये दोनों सिद्धान्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें भाट्टमीमांसक अभिहितान्वयवाद तथा गुरुमतावलम्बी मीमांसक अन्विताभिधानवाद के पक्षधर हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में भाट्टमीमांसा-सम्मत अभिहितान्वयवाद क्रम पर आधारित होने से सर्वथा कालसापेक्ष है। अभिहितान्वयवाद में प्रथम पद अभिहित होते हैं तदनन्तर पदों द्वारा अभिहित पदार्थो से लक्षणावृत्ति के माध्यम से वाक्यार्थ की निष्पत्ति मानी गई है।[3]

शब्द शीघ्र विनाशशील होने के कारण वाक्यनिष्ठ समस्त पदों का साहित्य बिना क्रमात्मक काल के सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। वाक्यनिष्ठ पदों के क्रमात्मक काल की अन्यथानुपपत्ति-प्रसूता यह अर्थापत्ति भाषाव्यवहार में भी काल के प्रभाव को अभिव्यक्त कर रही है।

काल का दार्शनिक स्वरूप

आचार्य कुमारिल भट्ट ने नैयायिकों के अनुरूप 'काल' को एक विभु तथा नित्य तत्त्व के रूप में स्वीकारा है-'एको नित्यो विभुश्च'[4] 'कालश्चैको विभुर्नित्यः।[5] जिस प्रकार न्यायदर्शन में काल को एक अखण्ड रूप में प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार आचार्य

---

१. नित्येषु सत्सु वर्णेषु, व्यवहारात् क्रमोदयः।
घटादिरचना यद्वनित्येष परमाणुषु।। श्लोकवार्तिक पृष्ठ ५६८, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८

२. 'काल एव क्रम इति'। श्लोकवार्त्तिक, पृष्ठ ५७१, तारा प. वाराणसी १९७८

३. 'तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपद्यते।' शास्त्रदीपिका पृ. १५४, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी १९९०

४. तर्कभाषा, पृ. ३६०, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९९०.

५. श्लोकवार्तिक पृ. ५७१, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८

कुमारिल भी काल के एकत्व के ही पक्षधर हैं। 'काल' एक तत्त्व होने पर पूर्व तथा अपर रूप में उसकी प्रतीति किस प्रकार होगी? इस आशङ्का का समाधान प्रदान करते हुए वे कहते हैं कि यह काल वर्ण के समान विभक्त रूप में भी भासित होता है।[१] इसकी व्याख्या करते हुए पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि 'जिस प्रकार वर्ण नित्य होने पर भी ध्वनि की उपाधियों के आधार पर दीर्घादि के भेद से विभक्त रूप में भी भासित होते हैं, उसी प्रकार स्वयं अभिन्न (एक) होते हुए भी काल सूर्य की गति तथा किरणाप्रक्षेप-क्रिया के उपाधि के आधार पर भिन्न रूप में भी भासित होता है।[२]

कालाश्रित प्रमाणलक्षण-सङ्गति

मीमांसा दर्शन के भाट्ट प्रस्थान में जिस प्रकार कर्मकाण्ड तथा शब्दार्थनिष्पत्ति की प्रक्रिया काल पर अवलम्बित है, उसी प्रकार निखिल प्रमेय-प्रपञ्च के आधारभूत प्रमाण के लक्षण की सङ्गति भी काल पर ही आश्रित है। महर्षि जैमिनि के 'औत्पत्तिक सूत्र[३] के आधार पर कुमारिल भट्ट 'सर्व स्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा,'[४] इस वार्तिकार्ध के माध्यम से अनुपलब्ध अर्थात् अज्ञात अर्थ के प्रतिपादक को प्रमाण निरूपित करते हैं। भाट्टपरम्परा के विद्वान् पार्थसारमिमिश्र ने सम्पूर्ण औत्पत्तिक सूत्र के आधार पर 'कारणदोष तथा बाधकज्ञान-रहित अग्रहीत अर्थ के ग्राहक (बोधक) ज्ञान को प्रमाण प्रतिपादित किया है।[५] इन दोनों प्रमाणलक्षणों के परामर्श से यह सुनिश्चित हो जाता है कि भाट्टप्रस्थान में (नवीन) अज्ञात-विषय का ज्ञापक ज्ञान ही प्रमाण है।

भाट्ट-मीमांसा-सम्मत प्रमाणलक्षण पर धारावाहिक ज्ञानस्थल में उसके असङ्गत हो जाने का आक्षेप उपस्थित पर उसके निराकरणार्थ भाट्टमीमांसकों को काल की ही शरणागति स्वीकार करनी पड़ी है। धारावाहिक ज्ञानस्थल मे प्रथम घटज्ञान को प्रथमक्षणविशिष्ट तथा तदनन्तर होनेवाले घटज्ञानों को अन्यान्यक्षणों से विशिष्ट मानकर इस क्षणात्मक काल के माध्यम से ही भाट्टमीमांसक इन ज्ञानों को एक दूसरे से भिन्न कर उनमें अग्रहीतग्राहित्व की सङ्गति कर सके हैं।

---

१. 'प्रविभक्तोऽपि गम्यते वर्णवत्'। श्लोकवार्तिक पृ. ५७१, वही.

२. ''यथा हि वर्णो नित्य: सर्वगतोऽपि दीर्घरूपेण विभक्तो भासते ध्वन्युपाधिवशात् तथा कालोऽपि स्वयमभिन्नोऽपि आदित्यस्य गतिक्रियोपाधिवशाद् भिन्नो भासत इति''। न्यायरत्नाकर, श्लोकवार्तिक पृष्ठ संख्या ५७१, वही.

३. 'औत्पत्तिकस्तुशब्दस्यार्थेनसम्बधस्तस्य ज्ञानमुपदेशोव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् जैमिनि-सूत्र १.१.५.

४. श्लोकवार्तिक पृ. १५१. तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८.

५. ''कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्'' शास्त्र.दी. पृ. ४५ कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८

कालप्रत्यक्षवाद

''कालतत्त्व'' के परिज्ञान के सन्दर्भ में भाट्टप्रस्थान का दृष्टिकोण नैयायिक तथा प्रभाकर के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। प्रभाकरमत में तथा न्यायमत में जहाँ काल को केवल अनुमेय माना गया है,[१] वहाँ भाट्टमत काल की प्रत्यक्षवेद्यता का प्रतिपादन करता है।[२] न्यायमत में जो दिङ्मूलक नहीं है ऐसे परत्व तथा अपरत्व के आधार पर या अतीत अनागत तथा वर्तमान रूप व्यवहार के आधार पर अनुमान प्रमाण के माध्यम से ही कालावबोध प्रतिपादित किया गया है।[३] कालावबोध के विषय में नैयायिकों के विपरीत भाट्टमीमांसक पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि क्षणरूप कालभेद अतिसूक्ष्म होने से इसका बोध नहीं होगा यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि देवताओं के प्रिय मीमांसक (निश्चित ही) सूक्ष्मदर्शी होते हैं।[४]

काल के प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हेतु पार्थसारथि मिश्र यह तर्क देते हैं कि 'किमत्र घटोऽवस्थित:?' क्या यहाँ घट है? इस प्रश्न का 'अस्मिन् क्षणे मया उपलब्ध:' अभी इसी क्षण मैंने देखा या 'प्रातरारभ्य एतावत् कालपर्यन्तं मया उपलब्ध:' प्रात: काल से लेकर अब तक मैंने देखा। इन प्रश्नों के उत्तर काल के क्षण रूप भेद के भी प्रत्यक्षबोध को सिद्ध कर देते हैं।[५] इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि काल का रूपरहित होना उसकी प्रत्यक्षगम्यता में बाधक नहीं बन सकता क्योंकि रूपवाले का ही प्रत्यक्ष हो 'रूपि प्रत्यक्षम्' ऐसा नियम भाट्टमत में स्वीकार नहीं है। भाट्टमत में 'इन्द्रिय' का अर्थ के साथ संयोग होने पर वस्तु का विशद रूप से अवभासित होना ही प्रत्यक्ष है।[६] जब संवित्

---

१. दिक्कालावनुमेयावेव। प्रकरणपञ्चिका, पृ. ८१, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी, १९६९.

२. आकाशकालदिशोप्यत्र प्रत्यक्षा: तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली, पृ. १७०, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी १९.

३. कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेय:। तर्कभाषा पृ. ३६०, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९९०

४. सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इतिचेत् अहो सूक्ष्मदर्शीदेवानां प्रिय:। शास्त्रदीपिका, पृ. ४५, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८.

५. तथाहि किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्ट: कथयति अस्मिन्क्षणेमयोपलाब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदते। शास्त्रदीपिका पृ. ४५-४६, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी १९८८.

६. अतोऽस्ति विकल्पस्यापि विशदावभासत्वमिति प्रत्यक्षत्वोपपत्ति:। शास्त्रदीपिका पृ. ३८, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी १९८८.

(ज्ञान) होती है, तब वही परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनों को प्रकाशित करते हुए यह प्रत्यक्ष है, तथा यह अप्रत्यक्ष है, ऐसा विभाजन करती है।[१] संवित् चूँकि क्षणरूप में विद्यमान काल का भी अनुभूति के बल पर प्रत्यक्षत्व का प्रतिपादन कर रही है, अतः काल का प्रत्यक्षवेद्यत्व सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

इस प्रकार भाट्टमीमांसा के विवेचित तीनों पक्ष 'कालतत्त्व' से सम्बद्ध तथा किसी न किसी रूप में इससे पूर्णतः प्रभावित हैं।

('परामर्श' (हिन्दी) खण्ड १७, अङ्क २, मार्च १९९६ से साभार)

१. नहि रूपिप्रत्यक्षमित्यस्माकं प्रत्यक्षलक्षणं किंतु संविदेव परोक्षापरोक्षनिर्भासा जायमाना इदं प्रत्यक्षमिदमप्रत्यक्षमिति विभजते। शास्त्रदीपिका, पृ. ४६, पंक्ति १०, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८.

पौरोहित्य के परिप्रेक्ष्य में काल

डॉ. रवीन्द्र नागर

कर्मकाण्ड और काल का अभेदान्वय सम्बन्ध है। शब्दकोश में काल के अनेक अर्थ दिए गए हैं। काल शब्द संख्यावाचक भी माना गया है। काल को समय का पर्याय तो मानते ही हैं। कर्मकाण्ड शास्त्रों में पौरोहित्य नाम से व्यवहृत होता है। पौरोहित्य का अर्थ है– **'पुरः अग्रे हितं कल्याणं यजमानस्य यः विचारयति सः पुरोहितः, पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यं भवति'**। इसके अनुसार पुरोहित वह होता है जो समय से पूर्व ही यजमान का कल्याण सोचे और उसका कर्म पौरोहित्य होता है। कर्मकाण्ड में सर्वप्रथम संकल्प उच्चरित होता है, संकल्प में मुख्यरूप से काल ही वर्णित होता है ''श्री विष्णुः श्री विष्णुः श्रीविष्णुः श्रीमद्‌भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य अद्य ब्रह्मणोऽहनि द्वितीये प्रहरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तान्तरगत ब्रह्मावर्तैकदेशे अमुकायने अमुकतौ अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ''। संकल्प तो वस्तुतः काल से ही परिपूर्ण है। कर्मकाण्ड में विभिन्न आचार्यों के अनुसार संस्कारों की संख्या पृथक्–पृथक् निर्धारित की गयी है। महर्षि अंगिरा, ऋषि अत्रि और आचार्य याज्ञवल्क्य ने अड़तालिस, बत्तीस, सोलह, संस्कारों को स्वीकार किया है। सर्वसम्मत मत सोलह के पक्ष में है। सोलह संस्कार तो लोकविदित हैं ही। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, निष्क्रमण, कर्णवेध, चूड़ाकर्म, अक्षरारम्भ, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, समावर्तन, पाणिग्रहण, आवसथ्याधान, अन्त्येष्टि।

सभी कार्यों में श्रीगणेशपूजन परमावश्यक है। भगवान् गणेश को विघ्नहर्ता और सिद्धिदाता माना जाता है। भगवान् शिव के विवाह के पूर्व भी गणेश पूजन का उल्लेख मिलता है। श्रीगणेश के बारह नाम–

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः।।

धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो बालचन्द्रो गजाननः।

द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि,

विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा,

संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य न जायते।।

षोडशमातृकायें सर्वथा सौभाग्य प्राप्ति के लिए पूजनीय हैं।

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।

देवसेना स्वाहा स्वधा मातरो लोकमातरो।।

धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मनो कुलदेवता।

गणेशेनाधिका ह्येता वृद्धौ पूज्यास्तु षोडश।।

सप्तघृतमातृकाएं, सप्तभूमातृकाएं और चतुःषष्ठी योगिनी और एकाशीति क्षेत्रपाल, पांच लोकपाल, दश दिग्पाल का पूजन पौराहित्य में तत्तत् स्थानों पर आवश्यक माना गया है।

पौरोहित्य कर्म में शास्त्राचार, लोकाचार, कुलाचार तीनों को प्रमुखता दी गयी है।

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयम् ३।

इससे ज्ञात होता है कि लोकाचार को भी शास्त्र के समान मान्यता प्राप्त है।

कर्मविभाजन में भी तीन प्रकार के कर्म माने गए हैं।

नित्य, नैमित्तिक, काम्य।

श्रौत और स्मार्त कर्मों का निर्धारण भी शास्त्रकारों ने भिन्न–भिन्न किया है। स्मार्त यज्ञों में पुत्रेष्टि, श्रीयज्ञ, ग्रहमख आदि का निर्धारण किया गया है। श्रौत यज्ञों में दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि आदि। इस सब की भी संख्या विभिन्न आचार्यों के अनुसार पृथक्–पृथक् है।

'भगवन्त भास्कर' के लेखक श्री नीलकण्ठ भट्ट ने श्रौत स्मार्त यज्ञों के विभिन्न काल निर्धारित किए हैं। बिना काल गणना के कर्मकाण्ड चल ही नहीं सकता। कुशकण्डिका या कुशाण्डि कर्मकाण्डियों का निकष है। इसमें भी संख्या को प्रधानता दी गई है।

'त्रीभिः दर्भैः परिसमूह्य''......''पञ्चाशत् कुशको ब्रह्मा तदर्धे न तु विष्टरः

तदर्धे न तु कूर्चःस्यात् तदर्धस्तु तदर्धकः'' इन सबमें संख्याओं का प्राधान्य है। यज्ञोपवीत संस्कार में यज्ञोपवीत के तन्तु की शिखा की संख्या भी शाखानुसार उपवर्णित है।

सबसे प्रमुख संस्कार विवाह में तो संख्या के बिना कुछ चलता ही नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के स्वरूप चार परिक्रमा और सप्तपदी तथा वर वधू के सात वचन विशेष महत्त्व रखते है। विवाह संस्कार के परमावश्यक शाखोच्चारण में भी तीन बार तीन पीढ़ियों के उल्लेख का शास्त्रीय विधान है।

पुरुष सूक्त और श्री सूक्त में सोलह मंत्र तथा षोडशांगुल पुरुष का वर्णन वेद में मिलता है। पूजा के समय पंचोपचार, दशोपचार, सहस्रोपचार, राजोपचार, महाराजोपचार आदि का विधान है।

सन्ध्या के भी तीन प्रकार माने गए हैं।

उत्तमा सूर्यसहिता च मध्यमा लुप्ततारका।

अधमा सूर्यसहिता च प्रातः सन्ध्या त्रिधा मता।।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्त्येष्टि कर्म में सभी कार्य एक निश्चित गणना और काल के अनुसार होते हैं।

काल गणना अथवा काल कर्मकाण्ड का मूलाधार है। अकाल में किया गया और बिना गणना के किया गया पौरोहित्य निष्फल हो जाता है–

क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि कालक्षेपण न कर समस्त कार्यों को समय पर सम्पादित करना चाहिए। वस्तुतः जीवन ही कर्मकाण्ड है और कर्मकाण्ड के ही अनुसार जीवन में प्रत्येक कार्य को समय पर करने वाला प्रेय और श्रेय को प्राप्त होता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने वर्णचतुष्टय तथा पुरुषार्थचतुष्टय की परिकल्पना की है।

भारतीय सङ्गीतशास्त्र में कालचिन्तन

डॉ. हर्षकुमार

सङ्गीत एक परिभाषिक शब्द है जो गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीन कलाओं के लिये प्रयुक्त होता है–

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते।[1]

नृत्य का प्रयोग वाद्य के द्वारा नियमित होता है तथा वाद्य गीत के अनुसार प्रयुक्त होता है। गीत मनुष्य के कण्ठ से अभिव्यक्त मनोरञ्जक स्वरसमूह है, मानव के हृदय अथवा आत्मा की वाणी है–रञ्जकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते । (सङ्गीतरत्नाकर १.१.२१ पर कल्लिनाथ)। अतः शार्ङ्गदेव ने गीत की प्रधानता को स्वीकार करके आरम्भ में उसी का विस्तृत विवरण दिया है–

नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्त वाद्यं गीतानुवृत्ति च।
अतो गीतं प्रधानत्वादत्राऽऽदावभिधीयते॥[2]

सङ्गीत की महिमा का वर्णन करते हुए शार्ङ्गदेव कहते हैं कि इसके द्वारा पार्वती-पति भगवान् शङ्कर प्रसन्न होते हैं, गोपियों के स्वामी भगवान् कृष्ण वंशी की ध्वनि के वशीभूत होते हैं। ब्रह्माजी सामगान में तथा भगवती सरस्वती वीणावादन में रमती हैं। यक्ष, गन्धर्व, देवता, दानव तथा मानव-सभी गीत तथा सङ्गीत से आनन्दित होते हैं।[3]

सङ्गीत के श्रवण तथा अभ्यास से चित्त को शान्ति, एकाग्रता तथा सौन्दर्य की अनुभूति होती है। विधिवत् तथा निष्ठापूर्वक सङ्गीत का अभ्यास करने वाले के चित्त, वाणी तथा आचरण में अनुशासन आता है। शार्ङ्गदेव के अनुसार सङ्गीत ही धर्म, अर्थ,

---

१. सङ्गीतरत्नाकर, १/१/२१
२. वही, १/१/२४
३. वही, १/१/२६-२७

काम तथा मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का एकमात्र साधन है–

तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्।।[१]

ऐसे कथनों से ज्ञात होता है कि भारतीय मनीषियों के मतानुसार सङ्गीत का सम्बन्ध मानव जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी पक्षों के साथ है। इस दृष्टि के अनुसार शास्त्रकारों ने सङ्गीत में प्रयुक्त स्वर, राग, लय, ताल आदि की ऐसी व्यवस्था दी जिससे सङ्गीत की अन्य क्रियाओं तथा ध्वनियों से अलग पहचान बन सके। इस व्यवस्था में कालतत्त्व का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके तीन प्रमुख पक्ष हैं–

(१) स्वरों और रागों के प्रयोग –दिन, रात, मास, पर्व, ऋतु, मनोभाव तथा दिनचर्या के अनुसार इनके प्रयोग के नियम हैं।

(२) गायन, वादन तथा नृत्य की क्रिया –इनकी गति की समानता तथा नियमितता के उद्देश्य से ताल और लय की व्यवस्था की गयी है। ताल द्वारा काल के छोटे-छोटे विभाग कल्पित किये गये हैं।

(३) बढ़त अर्थात् राग का विकास क्रम–स्वर, लय तथा ताल के क्रमिक प्रयोग से क्रमशः राग का विकास होता है तथा यथेष्ट रस की सिद्धि होती है। सृष्टि व्यवस्था में सङ्गीत के स्वरों, लय, ताल तथा कालविभाजन के विषय में भी भारतीय मनीषियों ने कई विचार तथा सङ्केत दिये हैं। प्रस्तुत लेख में हम इन सब पर क्रमानुसार विमर्श करेंगे। किन्तु सबसे पहले राग का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है।

राग परिचय

स्वर और वर्ण से अलङ्कृत लोगों के चित्त को प्रसन्न करने वाली विशेष ध्वनि को राग कहते हैं[२]।

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।

रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः।।[३]

---

१. वही, १/१/३०

२. Northern Indian Music (NIM) Vol. 1, P.115, 160

३. सङ्गीतदर्पण, २/१

सात स्वर माने गये हैं–षड्ज, ऋषभ (रे), गन्धार (ग), मध्यम (म), पञ्चम(प), धैवत (ध) तथा निषाद (नि)। मध्यम के शुद्ध (म) तथा तीव्र (मे) ये दो भेद होते हैं। ऋषभ, गन्धार, धैवत तथा निषाद के दो-दो भेद होते है, शुद्ध तथा कोमल। कुछ लेखों में शुद्ध के लिये भी 'तीव्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। षड्ज तथा पञ्चम एक-एक ही होते हैं। इन्हें गाने की क्रिया वर्ण कहलाती है जिसके चार भेद हैं। किसी स्वर का बार-बार उच्चारण स्थायी वर्ण कहलाता है। नीचे के स्वर से ऊपर के स्वरों तक चलन आरोही वर्ण होता है। ऊपर के स्वर से नीचे के स्वरों का उच्चारण अवरोही वर्ण होता है। आरोही तथा अवरोही वर्णों का मिश्रित रूप सञ्चारी वर्ण होता है[१]। प्रत्येक राग में नियम होता है कि आरोह तथा अवरोह में क्या स्वर लगाए जाएं। स्वरों का प्रयोग आरोह में राग के स्वरूप की छानबीन करने वाला तथा अवरोह में राग को स्पष्ट करने तथा स्वरों को शुद्ध करने वाला माना गया है।

प्रत्येक राग में वादी, संवादी तथा अनुवादी स्वरों की व्यवस्था होती है। वादी से चार या पांच स्वर ऊपर या नीचे का स्वर संवादी होता है। ऐलेन डेवेल्यू के मतानुसार जिन रागों में वादी से पाँचवाँ स्वर संवादी होता है उनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट, क्रियाशील तथा उज्ज्वल होती है। जिन रागों में वादी से चौथा स्वर संवादी होता है उनकी अभिव्यक्ति में कोमलता तथा निष्क्रियता के भाव होते हैं।[२]

सङ्गीतरत्नाकर में स्वरों की प्रभावानुसार पांच जातियां कही गयी हैं-दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु तथा मध्या। सुदर्शनाचार्य के अनुसार दीप्ता जाति वाले स्वरों के श्रवण से मन दीप्त होता है, आयता जाति वाले स्वरों के श्रवण से मन विस्तृत होता है करुणा, मृदु तथा मध्या जाति के स्वरों के श्रवण से मन में क्रमशः करुणा, कोमलता तथा सन्तुलन के भाव आते हैं[३]। शार्ङ्गदेव के अनुसार सात स्वरों की निम्नलिखित जातियां होती हैं–

षड्ज की-दीप्ता, आयता, मृदु तथा मध्या ।

ऋषभ की- करुणा, मध्या तथा मृदु ।

गान्धार की-दीप्ता तथा आयता ।

---

१. गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः।
स्थाय्यारोह्यवरोही च सञ्चारीत्यथ लक्षणम्।। सङ्गीत रत्नाकर, १/६/१

२. Pañcama saṁvādī rāgas have a clear, active, brilliant expression; madhyama saṁvādī rāgas are passive, dormant, soft. NIM, Vol. I, pp. 126, 129

३. सङ्गीत सुदर्शन, पृ०४

मध्यम की–दीप्ता, आयता, मृदु तथा मध्या ।

पञ्चम की– मृदु, मध्या, आयता तथा करुणा ।

धैवत की–करुणा, आयता तथा मध्या ।

निषाद की –दीप्ता तथा मध्या ।[1]

स्वरों के रस– निष्पत्ति में उपयोग के बारे में भी विविध मत मिलते हैं। विष्णु-धर्मोत्तरपुराण के अनुसार हास्य तथा श्रृङ्गार रसों के लिये क्रमशः मध्यम तथा पञ्चम उपयोगी हैं। वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत रसों के लिये षड्ज तथा पञ्चम, करुण के लिये निषाद तथा गान्धार, बीभत्स तथा भयानक के लिये धैवत एवं शान्त रस के लिये मध्यम उपयोगी हैं।[2]

शार्ङ्गदेव ने मनुष्यों के समान भी स्वरों की जातियों का उल्लेख किया है–

षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम की–ब्राह्मण जाति ।

ऋषभ तथा धैवत की–क्षत्रिय जाति।

गान्धार तथा निषाद की–वैश्य जाति।

अन्तर–गान्धार तथा काकली निषाद की–शूद्र जाति[3]।।

यह वर्गीकरण सम्भवतः इन जातियों के गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार किया गया है।[4] सातों स्वरों के तीन सप्तक माने गये हैं–मन्द्र, मध्य तथा तार सप्तक। शार्ङ्गदेव के अनुसार हृदय में मन्द्र सप्तक, कण्ठ में मध्य सप्तक तथा सिर में तार सप्तक का स्पन्दन होता है–

व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः।।[5]

---

१. सङ्गीतरत्नाकर १.३.२९–३२

२. तत्र हास्यश्रृङ्गारयोर्मध्यमपञ्चमौ। वीररौद्राद्‌भुतेषु षड्जपञ्चमौ। करुणे निषादगान्धारौ। बीभत्सभयानकयोर्धैवतम्। शान्ते मध्यमम्। विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३/१८, द्रष्टव्य NIM. Vol,I,p.116

३. सङ्गीतरत्नाकर १/३/५४–५५

४. द्रष्टव्य –शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रंकर्म स्वभावजम्।।
कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।
श्रीमद्‌भगवद्‌गीता १८/४२–४४

५. सङ्गीतरत्नाकर, १/३/७

हरेक राग के नियम हैं कि उनके आरोह तथा अवरोह में क्या स्वर लगाने चाहिये तथा उनके क्रम क्या हो सकते हैं। कम से कम पांच, अन्यथा छह स्वर तो होने ही चाहिये। पांच स्वर वाले आरोह तथा अवरोह को औडव तथा छह स्वर वाले आरोह तथा अवरोह को षाडव कहते हैं। सातों स्वरों वाले आरोह तथा अवरोह को सम्पूर्ण कहते हैं–

औडवः पञ्चभिः प्रोक्तः स्वरैः षड्भिस्तु षाडवः।
सम्पूर्णः सप्तभिः प्रोक्तो रागजातिस्त्रिधा मता॥[1]

शिवतत्त्वरत्नाकर के अनुसार षाडव जाति का प्रयोग संग्राम, रूप, लावण्य, विरह तथा गुणों के वर्णन में उचित है। औडव जाति का प्रयोग व्याधि, शत्रु, भय तथा शोक का नाश करने में, कठिनाई तथा दुःख में, क्षीणता में तथा (विपरीत) ग्रहों से मोक्ष दिलाने में उचित है-

संग्रामरूपलावण्यविरहा गुणकीर्तनम्।
षाडवेन प्रगातव्यं लक्षणं चरितं तथा॥
व्याधिनाशे शत्रुनाशे भयशोकविनाशने।
दुःस्थिते चैव सन्तापे मङ्गलाचारसंयुते।
औडवेन प्रगातव्यं क्षामे च ग्रहमोक्षणे॥[2]

इस प्रकार राग तथा उसमें प्रयुक्त स्वरों के विषय में कई परिकल्पनाएँ प्राचीन तथा आधुनिक मनीषियों ने की हैं। अगले अनुच्छेदों में हम पढ़ेंगे कि उपर्युक्त आधार पर रागों के प्रयोगों में किस प्रकार काल-चिन्तन हुआ। इस विवेचन में क्रमशः रागों के स्वरप्रयोग (वर्ण), लय तथा ताल एव बढ़त के विषयों की प्रधानता रहेगी। हम देखेंगे कि जिस युग में यह कालचिन्तन हुआ था, उस समय मानवरचित घड़ी आदि साधन नहीं थे। भारतीय मानव समाज प्रकृति के अधिक समीप था। शास्त्रकार सुव्यवस्थित विचार वाले, व्यावहारिक तथा अत्यन्त संवदेनशील थे। अतः उनके द्वारा स्वीकृत अथवा रचित कालविभागों की सार्थकता केवल दार्शनिक जिज्ञासा के समाधान मात्र से नहीं होती। उनकी सार्थकता सङ्गीत प्रयोग के औचित्य तथा उत्कर्ष द्वारा होती है।

राग प्रयोग में कालचिन्तन

भारतीय सङ्गीतशास्त्र के चिन्तकों ने सूर्य की गति द्वारा नियमित दिन-रात के साथ मानव की दिनचर्या तथा मनोभावों का सम्बन्ध देखा था। दिन-रात के चक्र के

---

१. नारदसंहिता, २/६०
२. शिवतत्त्वरत्नाकर, ६/८/१४५-१४७

समान मानव जीवन में भी प्रातः, मध्याह्न, सांयकाल आदि आते हैं। प्रत्येक घण्टा जीवन के विकास की किसी अवस्था का प्रतिनिधि होता है तथा किसी विशेष मनोभाव से सम्बद्ध होता है। स्वर विशेष तथा राग विशेष विविध मनोदशाओं से सम्बद्ध होते हैं। अनुकूल दशाओं में प्रयुक्त होकर ही वे स्वर तथा राग यथेष्ट प्रभाव डाल सकते हैं। इस तथ्य को जानकर समय-समय पर शास्त्रकारों ने सङ्गीत प्रयोग के विधान किये।

(१) शार्ङ्गदेव ने विधान किया कि तीन ग्रामों का प्रयोग कैसे किया जाय। लौकिक अभ्युदय के अभिलाषी षड्जग्राम का प्रयोग ब्रह्माजी की स्तुति में, हेमन्त ऋतु में तंथा पूर्वाह्न में करें। मध्यम ग्राम का प्रयोग भगवान् विष्णु की स्तुति में, ग्रीष्म ऋतु में तथा मध्याह्न काल में करें। गान्धार ग्राम का प्रयोग भगवान् शिव की स्तुति में वर्षा ऋतु में तथा दोपहर बाद के समय करें-

क्रमाद् ग्रामत्रये देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु गातव्यास्ते यथाक्रमम्॥
पूर्वाह्नकालमध्याह्नेऽपराह्नेऽभ्युदयार्थिभिः॥[१]

(२) शुभङ्कर ने ऋतुपर्व तथा काल विशेष के अनुसार दस निर्देश दिये हैं-

(अ) श्रीपञ्चमी (वसन्त ऋतु) के आरम्भ से हरि के शयन काल (वर्षा ऋतु के आरम्भ काल) तक वसन्त राग गाना चाहिये।

(आ) इन्द्रोत्थान (वर्षाकाल की समाप्ति) के काल से आरम्भ करके दुर्गा महोत्सव (शरद् ऋतु) तक राग मालसी का नित्य गान करना चाहिये।

(इ) प्रातः काल गेय राग हैं-देशाग, ललित, पठमञ्जरी, विभाष, भैरवी, कामोदी, तथा गोण्डकि।

(ई) मध्याह्न में गेय एकमात्र राग है-वराडी।

(ऊ) अन्य राग हर समय गायन योग्य हैं।

(ऋ) वसन्त में हिन्दोल तथा वसन्त रमणीय होते हैं।

(लृ) पूर्वाह्न में इन रागों का गायन निषिद्ध है-लाट, गौडी, वराडी, गुर्जरी तथा देशि।

(ए) अपराह्न में इन रागों के गायन का निषिद्ध है भैरवी तथा ललित।

---

१. सङ्गीतरत्नाकर १/४/७-८

(ओ) रङ्गशाला में (नाट्यप्रयोग में) तथा राजाज्ञा के पालन में कोई राग निषिद्ध नहीं होता।[१]

(३) उत्तर भारत में प्रचलित पद्धति–उत्तर भारतीय सङ्गीत के प्रत्येक राग का गान-समय शास्त्रों में निर्दिष्ट है। इसके अनुसार हरेक राग को उसके नियत समय पर ही गाना चाहिये। रागों का वह समय विधान उनमें प्रयुक्त स्वरों के अनुसार किया गया है। इस व्यवस्था के मुख्य घटक तत्त्व निम्नलिखित हैं:-

(क) दिन-रात के विभाग -२४ घण्टे के दिन-रात को प्राचीन काल में आठ प्रहरों में विभाजित किया गया था-चार सूर्य के प्रकाश के प्रहर तथा चार अन्धकार के प्रहर। दिन और रात के दो-दो सन्धिकाल माने गये जब कुछ प्रकाश और कुछ अन्धकार होता है– प्रात: काल तथा सन्ध्याकाल। मध्याह्न तथा मध्य रात्रि की घड़ियों को भी गौण अर्थ में सन्धिकाल माना गया जब क्रमश: दिन और रात ढलना आरम्भ करते हैं। इस प्रकार मध्याह्न से पूर्व दिन (पूर्वाह्न) के प्रथम दो प्रहर तथा मध्याह्न के बाद अपराह्न में दिन के तीसरे और चौथे प्रहर आते है। इसी प्रकार सांयकाल से मध्यरात्रि तक रात्रि के प्रथम दो प्रहर तथा मध्यरात्रि के अनन्तर रात्रि के तीसरे तथा चौथे प्रहर माने गये हैं। यह व्यवस्था मानवरचित घड़ी के अनुसार नहीं, अपितु प्रकृति की घड़ी सूर्य के अनुसार मानी गयी है[२]।

स्वर व्यवस्था के अनुसार स्थूल दृष्टि से दिन-रात के दो भाग माने गये हैं–मध्याह्न से मध्यरात्रि तक पूर्व भाग एवं मध्यरात्रि से मध्याह्न तक उत्तर भाग।

(ख) इन दो भागों के रागों की पहचान के लिये स्वर सप्तक के भी दो अङ्ग माने गये हैं-

मध्य सप्तक के षड्ज से पञ्चम तक पूर्वाङ्ग तथा मध्यम से तार सप्तक के षड्ज (सं) तक उत्तराङ्ग। पूर्वभाग के रागों में पूर्वाङ्ग का कोई स्वर वादी होता है। अत: वे पूर्वाङ्ग वादी राग अथवा पूर्व राग कहलाते हैं उदाहरणार्थ-राग खमाज का वादी स्वर गान्धार है। अत: यह पूर्व राग हुआ और इसे मध्याह्न से मध्यरात्रि तक ही गाया-बजाया जाता है।[३]

उत्तर भाग के रागों में उत्तराङ्ग का कोई स्वर वादी होता है। अत: वे उतराङ्गवादी राग अथवा उत्तरराग कहलाते हैं उदाहरण के लिये राग भैरवी में धैवत स्वर वादी है। इसलिये यह उत्तरराग है और इसके गाने बजाने का समय मध्यरात्रि से मध्याह्न तक

---

१. सङ्गीतदामोदर, तृतीयस्तबक, पृ०४१

2. Time is not however measured here by the clock, but is linked to nature's clock, the sun. Music Appreciation, p. 60

३. सङ्गीतशास्त्रदर्पण (सं. शा. द.) प्रथम भाग, पृ. ५०

है। सप्तक के पूर्वाङ्ग तथा उत्तराङ्ग –दोनों में मध्यम तथा पञ्चम स्वर आते है। अत: जिन रागों में मध्यम या पञ्चम स्वर वादी होते हैं उनका समय बतलाने में कुछ कठिनाई पड़ती है कि उन्हें पूर्व राग मानें या उत्तर राग। ऐसे प्रश्नों के समाधान के लिए रागों की पहचान के कुछ अन्य स्वर नियम भी कहे गए हैं।

(ग) विस्तृत विभाजन की दृष्टि से पण्डित विष्णुनारायण भातखण्डे ने रागों के तीन वर्ग किए हैं–[१]

प्रथम वर्ग– इसमें ऋषभ तथा धैवत कोमल होते हैं। गान्धार तथा निषाद शुद्ध होते हैं। ऐसे राग सन्धिप्रकाश कहे जाते हैं तथा इनके प्रयोग प्रात:, सूर्योदय एवं सायंकाल सूर्यास्त की सन्धिवेला में उचित हैं। कुछ रागों में उपर्युक्त नियम के अपवाद हैं, जैसे राग मारवा। इस राग में ऋषभ तो कोमल होता है लेकिन धैवत स्वर शुद्ध है। इन अपवादों को देखते हुए कुछ विद्वानों ने सन्धिप्रकाश राग के लिये केवल ऋषभ स्वर का कोमल होना आवश्यक समझा है। धैवत स्वर कोमल अथवा शुद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिये सुबह के सन्धिप्रकाश राग हैं- भैरव, रामकली, परज, कलिङ्गड़ा आदि। सायंकाल के सन्धिप्रकाश राग हैं पूर्वी, मारवा, धनाश्री, पूरिया, श्री आदि।

द्वितीय वर्ग के रागों में ऋषभ, गान्धार तथा धैवत शुद्ध होते हैं। इन रागों का समय सन्धिवेला के पश्चात्, अर्थात् प्रात:काल से मध्याह्न तक तथा सायंकाल से मध्यरात्रि तक होता है।

तृतीय वर्ग के रागों में गान्धार तथा निषाद कोमल होते हैं। इन रागों का प्रयोग मध्याह्न से सांयकाल तक एवं मध्यरात्रि से प्रात:काल तक होता है।

इस वर्गीकरण से द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के रागों में दिन तथा रात के समय–भेद स्पष्ट नहीं होते। इस स्पष्टीकरण के लिये अगला निर्देश सहायक है।

(घ) मध्यम को रागों की समय व्यवस्था का अध्वदर्शक स्वर कहा गया है।[२] स्वरव्यवस्था में शुद्ध तथा तीव्र मध्यम की स्थिति से राग विशेष के समय की पहचान करने में सहायता मिलती है। प्रात: काल के सन्धिप्रकाश रागों में शुद्ध मध्यम की प्रधानता रहती है। तत्पश्चात् क्रमश: तीव्र मध्यम का प्रयोग बढ़ने लगता है एवं शुद्ध मध्यम का महत्व घटने लगता है। सायंकाल के सन्धिप्रकाश रागों में तीव्र मध्यम का वर्चस्व हो जाता है। तब से मध्यरात्रि तक के रागों में तीव्र मध्यम की प्रधानता रहती है। मध्यरात्रि

---

१. श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्, स्वराध्याय, ५४८ ५५३, पृ० १८४ तथा आगे।

२. समयादिव्यवस्थाऽत्र भवेन्मेनाध्वदर्शिना। (श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्-स्वराध्याय, ५५३)

के पश्चात् प्रात:काल तक के रागों में क्रमश: तीव्र मध्यम का महत्त्व घटता है तथा शुद्ध मध्यम का महत्त्व बढ़ता है।

इस प्रकार मध्यम की स्थिति के साथ अन्य स्वरों की व्यवस्था को देखकर किसी भी राग के प्रयोग के उचित काल का बोध हो सकता है।

दैनिक जीवन तथा स्वर विवेक

इस प्रकार स्वर व्यवस्था के भेद से रागों का काल निर्धारण कहां तक उचित है? इस विषय पर विद्वानों ने गहरा चिन्तन किया है। राय बहादुर बिशनस्वरूप के विचार विशेष रूप से मननीय हैं।[१] उनके अनुसार किसी भी राग के आकर्षक होने के लिये आवश्यक है कि उसका प्रयोग उसी समय किया जाय जब वह चित्त को प्रसन्न कर सके। इसमें कलाकार तथा श्रोता दोनों की मन:स्थिति का महत्त्व है। इस दृष्टि से किसी भी राग के प्रयोग में तीन बातें विचारणीय हैं–

१) किसी एक समयविशेष में गायक तथा श्रोता कैसी रचना गाना तथा सुनना चाहते हैं तथा किसी विशेष कालावधि तक कितना शारीरिक श्रम झेल सकते हैं?

२) गायक तथा श्रोता की सामान्य चित्तवृत्ति-वे प्रसन्न तथा समाहित हैं अथवा चिन्तित तथा विक्षिप्त हैं?

३) वह भाव अथवा रसविशेष जिसे गायक प्रकट करना तथा श्रोताओं में जगाना चाहता है।

इस तीसरे तत्त्व को किसी काल-विशेष से नहीं बांधा जा सकता क्योंकि जिस समय जो भाव प्रकट करना है, उस समय उस भाव के अनुकूल राग भी अपेक्षित हो ही जाता है। अत: इस तीसरे तत्त्व की दृष्टि से रागप्रयोग को किसी समय विशेष से बांधना उचित नहीं होगा। उपर्युक्त प्रथम दो तत्त्वों के आधार पर ही रागों का कालविधान उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त द्वितीय तत्त्व की दृष्टि से भी रायबहादुर बिशन स्वरूप ने समयानुसार राग व्यवस्था पर विचार प्रस्तुत किए हैं। इस व्यवस्था का आधार प्राचीन काल के एक सामान्य भारतवासी की दिनचर्या हो सकती है: एक ऐसा मनुष्य जिसका स्वास्थ्य सामान्य था तथा जिस पर कोई असाधारण विपत्ति नहीं आ पड़ी थी वह प्रात:काल लगभग चार बजे उठकर नित्य स्नानादि कर्म एवं सन्ध्यावन्दन करके अपनी जीविका के लिए

---

१. Theory of Indian Music (TIM), pp. 156-159

काम पर चला जाता था। मध्याह्न काल में वह भोजन के लिए वापस आता था। तत्पश्चात् थोड़ा सा विश्राम करके वह पुन: जीविकोपार्जन के लिए निकल पड़ता था तथा सूर्यास्त के आस-पास थका हुआ सा लौटता था। तब स्नान करके सन्ध्यावन्दन करता एवं सायंकालीन भोजन लेता था। तत्पश्चात् वह अपने मित्रों अथवा परिवार के सदस्यों से बातचीत करता था। मध्यरात्रि के आसपास शयन करके पुन: प्रात:काल अपनी दिनचर्या आरम्भ करता था।

इस दिनचर्या को देखने से ज्ञात होता है कि उसके लिए अधिकतम चिन्ता का समय दोपहर बाद के कठोर परिश्रम का होता था। उससे कुछ कम चिन्ता (आजीविका के ही विचार से) प्रात:काल भी होती थी, विशेषकर जागने के पश्चात् एवं उठने से पूर्व। सङ्गीत में इस चिन्ता तथा विक्षेप को प्राय: तीव्र मध्यम द्वारा प्रकट किया जाता है। तीव्र मध्यम का षड्ज से ग्यारह श्रुतियों का अन्तर होता है। अत: तीव्र मध्यम के अनुवादी स्वर षड्ज के विवादी होते हैं। इसी प्रकार षड्ज के अनुवादी स्वर तीव्र मध्यम के विवादी होते हैं अत: जहां एक ओर षड्ज चित्त के समाहित तथा शान्त होने की ध्वनि देता है वहीं दूसरी ओर तीव्र मध्यम चिन्ता तथा विक्षेप के भाव ध्वनित करता है। जिस प्रकार चिन्ता से शान्ति तक पहुंचने के लिये मध्यवर्ती सोपान होते हैं वैसे ही तीव्र मध्यम से षड्ज तक पहुंचने के लिये सोपान होते हैं। पहले तो गायक तीव्र मध्यम का स्पर्श करके उसे छोड़ देता है किन्तु उसके संवादी तथा अनुवादी स्वरों का प्रयोग करता है। क्रमश: इन्हें भी छोड़कर अन्य स्वरों का स्पर्श करता हुआ षड्ज तक पहुंचता है।[1]

अब हम दिन रात के प्रहरानुसार कुछ रागों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं। पाठक देखेंगे कि प्राचीन तथा अर्वाचीन मनीषियों ने इन रागों के स्वरों में छिपे कैसे रोचक तत्त्वों को प्रकट किया तथा किस प्रकार रागों को मानवीय आकार में कल्पित किया।

प्रात:कालीन राग

(अ) ललित- आरोह-सा रे ग म म' ध नि सां

अवरोह- सां नि ध म॑ म ग रे सा।

वादी-मध्यम। संवादी-षड्ज। वर्जित-पञ्चम

---

1. TIM, p. 159

समय-सूर्योदय से पूर्व का प्रभात काल।

पञ्चम स्वर सूर्य के प्रकाश का द्योतक है। अतः उसका इस राग में अभाव सूर्य के अभाव का ज्ञापक है। दोनों मध्यम स्वरों (शुद्ध तथा तीव्र) का प्रयोग सन्धिकाल अथवा संक्रान्तिकाल का सूचक है। यह संक्रान्तिकाल सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्यरात्रि, वर्ष के समकाल (= विषुव = equinoxes) तथा अयन (solstices) में से कोई भी हो सकता है। राग ललित (अथवा ललिता) को कहीं तो अत्यन्त आकर्षक योगी के रूप में वर्णित किया गया है जो दिव्य गन्ध से लिप्त एवं जटाधारी है तथा जिसके हाथ में हिरण हैं-

अतिस्निग्धोऽतिगौरश्च दिव्यगन्धानुलेपनः।
मृगपाणिर्जटाधारी योगी ललितसंज्ञकः॥[१]

एक अन्य पद्य में ललिता का वर्णन सङ्गीत की माता के रूप में है जिसके लाल कमल के समान नेत्र हैं, जिसके हाथों में वीणा तथा पुस्तक हैं, जिसकी सुन्दर क्रीडा एवं सुखपूर्ण वाणी है-

वीणापुस्तकपाणीं मञ्जुलकेलीं सुखेन जल्पन्तीम्।
अरुणारविन्दनयनां ललितां सङ्गीतमातृकां ध्याये॥[२]

(आ) भैरव- आरोह- सा रे गम प ध॒ नि सां।

अवरोह-सां नि ध॒ प म ग रे सा।

वादी- कोमल धैवत। संवादी -कोमल ऋषभ।

समय-यह राग सुबह-रात और दिन की सन्धिवेला में गाया-बजाया जाता है। इसका मानवीकृत वर्णन कभी तो भगवान शङ्कर के रूप में तथा कभी उनके भक्त के रूप में किया गया है। प्रथम रूप में भैरव भस्म से लिप्त अङ्गों वाला, माथे पर चन्द्रमा की शीत किरणों से सुशोभित, हाथ में त्रिशूलधारी एवं वृषभ पर सवार वर्णित किया गया है-

भस्माङ्गलिप्तावयवः सुगात्रो भालस्थले शोभितशीतरश्मिः।
त्रिशूलहस्तो वृषभाधिरूढो स भैरवो यः कथितो मुनीन्द्रैः॥[३]

---

१. चतुर्विंशच्छतरागनिरूपण, पृ०१४
2. NIM, Vol. II,p 15.
३. चत्वारिंशच्छतरागनिरूपण, पृ० १३

दूसरे वर्णन के अनुसार भैरव श्रुति तथा स्वर का महासागर है; समस्त ताल -भेदों से सम्पन्न, वेषभूषा में भगवान् शिव के समान एवं उनका भक्त है-

सकलतालमानामृतं श्रुतिस्वरमहोदधिं
शिवार्चनमनोरथं भासितलेपिताङ्गं सदा।
जटामुकुटभासुरं शशिशिशुप्रभामौलिनं
कपालाभरणं भजे नटनकौशलं भैरवम्॥[१]

अपनी प्रकृति के अनुसार भैरव प्रातःकालीन उपासना, वात्सल्य अथवा निर्वेद के कोमल भावों को प्रकट करता है। ऐसे भावों से युक्त एक लोकप्रिय पद्य निम्नलिखित है

प्रातः स्मराभि रघुनाथमुखारविन्दं
मन्दस्मितं मधुरभाषिविशालभालम्।
कर्णावलम्बिचलकुण्डलशोभिगण्डं
कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्[२]॥

मध्याह्न तथा मध्याह्नोत्तर राग

(अ) गौड़ सारङ्ग–आरोह सा, ग रे म, ग प मे ध प, नी ध सां।

अवरोह–सां ध नि प, ध मे प ग, म रे, प रे सा।

वादी–गान्धार। संवादी धैवत।

समय-मध्याह्न

सारङ्ग के सभी भेदों में ऋषभ, मध्यम तथा पञ्चम का प्रमुख श्रवण होता है जो मध्याह्न का सूचक है। दोनों मध्यम (शुद्ध तथा तीव्र) का प्रयोग इस सन्धिकाल विषयक प्रतीति को बढ़ाता है। गान्धार का प्रयोग सन्तोष, श्रद्धा, राहत, सान्त्वना आदि भावों की ध्वनि देता है। एक पद्य में गौड़ सारङ्ग का चित्रण एक ऐसे मनुष्य के रूप में हैं जो दिन के तीसरे प्रहर में कल्पवृक्ष की छाया में बैठा है, जिसकी देह गौर वर्ण की है, जटाएं बंधी हुई हैं, वाणी कोयल जैसी है तथा जो वीणा वादन का आनन्द ले रहा है–

---

1. NIM, Vol. II, P.32
२. स्तोत्ररत्नावली, पृ. २५७

वीणाविनोदी दृढबद्धवेणी कल्पद्रुमे संस्थितगौरगात्रः।
तृतीययामे पिकनादतुल्यः सारङ्गगौड़ः कथितो मुनीन्द्रैः॥[1]

संध्याकालीन राग–

पूर्वी आरोहः- सा, रे ग, मं, प, ध, नि सां।

अवरोहः- सां नि ध प, मं, ग, रे, सा।

वादीः- गान्धार।

संवादीः-निषाद।

समय-दिन का अन्तिम प्रहर (सन्ध्याकाल)। इस राग में गान्धार का प्रचुर प्रयोग शक्ति का भाव प्रकट करता है। मध्यम के शुद्ध तथा तीव्र दोनों प्रकार प्रयुक्त हो सकते हैं जो सन्धिवेला की कल्पना को बल देते हैं। कोमल ऋषभ का प्रयोग सुकुमारता के भाव को बढ़ाता है। इस प्रकार यह राग मानो दिनभर (अथवा जीवनभर) की दौड़ धूप और परिश्रम के बाद मिलने वाली प्रसन्नता अथवा सन्तोष की भावना को प्रकट करता है। पूर्वी राग की एक लोक प्रचलित बन्दिश इन भावों को प्रकट करती है–

एरी मैं का सब सुख दीनों, दूध पूत और अनधन लछमी।
पिया पायो गोविन्द रंग भीनो अधम उधारन जस बिस्तारन।
कृपा करन दुख हरन सुंख करन, आजिज के सब लायक कीनो।[2]

रात्रि के प्रथम भाग के राग

अन्धकारपूर्ण आकाश में टिमटिमाते तारों को देखकर हमें ब्रह्माण्ड के रहस्य तथा गरिमा की प्रतीति होती है।[3] रात्रिकालीन रागों में प्रायः इस प्रतीति की गहराई को अभिव्यक्त करने का प्रयास होता है। अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की अभिलाषा भी व्यक्त होती है।

(अ) कल्याण (यमन)- आरोह-नि रे ग मं प ध नि सां।

अवरोह–सां नि ध प मं ग रे सा।

वादी–गान्धार। संवादी-निषाद।

समय-रात्रि का प्रथम प्रहर।

---

१. NIM, Vol. II, p. 103.
२. हिन्दुस्तानी सङ्गीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका (क्र०पु०मा०) पहला भाग पृ० ४९। NIM, Vol. II, p. 129
३. Music Appreciation (MA), p. 62

कभी कभी इस राग में शुद्ध मध्यम का प्रयोग भी करते हैं। तब इसे यमन कल्याण कहा जाता है। प्रयोग के अनुसार यह राग करुणा, सुख अथवा सन्तोष की ध्वनि देता है। शायद यह कहना उचित होगा कि मन्द्र सप्तक के निषाद से राग का प्रारम्भ अथवा इस स्वर का बहुल प्रयोग रात्रि के आरम्भकाल तथा उससे सम्बद्ध भावनाओं की व्यञ्जना करता है। इस राग की एक प्रसिद्ध बन्दिश इस प्रकार है-

गुरु बिन कैसे गुन गावे गुरु न माने तो गुन नहिं आवे।

गुनियन में बेगुनी कहावे माने तो रिझावे सबको।

चरन गहे सादिकन के जब आवे अचपल ताल-सुर[1]।

मध्यरात्रि तथा रात्रि के उत्तरभाग के राग

(अ) दरबारी कान्हड़ा[2]

आरोह- नि सा, रे ग रे सा, म प, ध नि सां।

अवरोह-सां ध नि प, म प, ग म रे सा।

वादी-ऋषभ। संवादी- पञ्चम।

समय-मध्यरात्रि।

इस राग में गान्धार स्वर कोमल की अपेक्षा भी कुछ नीचा अर्थात् दुर्बल होता है। इस पर आन्दोलन द्वारा राग की विचित्रता बढ़ती है। राग का विस्तार प्रायः मन्द्र तथा मध्य सप्तक में होता है जो इसकी शान्त तथा गम्भीर प्रकृति के अनुकूल है किन्तु बीच-बीच में तार सप्तक का प्रयोग दरबारी कान्हड़ा की हृदयग्राहिता को बढ़ाता है।

(आ) कलिङ्गड़ा- आरोह-सा रे ग म प ध (नि) सां

अवरोह-सां नि ध प म ग रे सा।

वादी- कोमल धैवत। संवादी-गान्धार।

समय-रात्रि का अन्तिम भाग, राग ललित से पूर्व का प्रातः काल।

ऐलेन डेनेल्यु के अनुसार इस राग में शुद्ध गान्धार का महत्वपूर्ण स्थान है। इस स्वर का प्रयोग एक स्पष्ट सन्तोष की भावना को प्रकट करता है। किन्तु इस में ऐसी कष्टपूर्ण व्याकुलता का भाव भी आ जाता है जो रात भर गायन करके निद्रा से आक्रान्त

---

१. क्र० पु० मा०, पृ० ३६

२. सं० शा०द०, द्वितीय भाग, पृ०२५७

कलाकार की वाणी से व्यक्त होती है। अतः कभी तो गान्धार स्वर गायक की तत्परता को प्रकट करता है और कभी कष्टपूर्वक जागे रहने के कारण व्याकुलता का द्योतक होता है।[१]

ऋतु सम्बन्धी राग–उन्नीसवीं शताब्दी के एक हस्तलिखित ग्रन्थ मदन-उल मौसिकी में छह जनक रागों का उल्लेख है-भैरव, मालकौंस, श्री, हिन्दोल, दीपक तथा मेघ। इनका सम्बन्ध छह ऋतुओं से माना गया है-शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा। इन छह जनकरागों से ऋतु सम्बन्धी अन्य भी कई राग प्राप्त होते है।[२] अन्य रागों के समान इन के सभी दिन और रात के प्रहर के अनुसार समय नियत होते हैं, किन्तु ऋतु विशेष में इनका प्रयोग किसी भी समय मान्य होता है।

वर्षाकाल में मेघ तथा मल्हार वर्ग के राग विशषकर आनन्दप्रद होते हैं। उदाहरणार्थ हम राग मियाँ की मल्हार को ले सकते हैं। इसके प्रमुख घटक तत्त्व निम्नलिखित हैं-

आवरोह– रे म रे सा, म रे प, नि ध, नि सां।

अवरोह– सां नि प, म प, म प, ग म, रें सां।

वादी -मध्यम। संवादी-षड्ज।

समय- मध्य रात्रि। वर्षा ऋतु में सदैव।[३]

दोनों निषाद का प्रयोग इस राग की विशेषता है। नि -ध-नि स्वर समुदाय का मन्द्र सप्तक में प्रयोग मेंघों के गर्जन के समान तथा मध्य सप्तक में तीव्र वायु से मिश्रित वर्षा की बौछार के समान प्रतीत होता है।[४]

वसन्त ऋतु से सम्बद्ध राग वसन्त, बहार, काफी, हिन्दोल आदि हैं। इन रागों में वसन्त ऋतु तथा होली के उत्सव से सम्बद्ध उल्लास, मस्ती और चञ्चलता की ध्वनि प्राप्त होती है।

राग वसन्त का विवरण इस प्रकार है–[५]

आरोह– सा ग मं ध रें सां।

अवरोह– सां रें, नि ध प मं प मं ध, मं ग रे सा।

---

१. NIM, Vol. II, p. 219
२. MA, pp, 24, 57-58
३ स० शा०द०, द्वितीय भाग, पृ०२६१.
४. MA, p. 59.
५. सं० शा०द०, द्वितीय भाग, पृ०२६२

वादी- षड्ज। संवादी पञ्चम।

समय-रात्रि का अन्तिम प्रहर। वसन्त ऋतु में सदैव।

प्राचीन साहित्य में राग वसन्त के निर्देश सहित एक प्रसिद्ध प्रबन्ध महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द में प्राप्त होता है जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियां निम्नलिखित हैं-

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे

मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।

विहरति हरिरिह सरसवसन्ते

नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥[१]

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि स्वरों के अनुसार रागों के काल-नियम का सिद्धान्त एक 'प्रयोगवाद' ही कहा जा सकता है। अगले अनुच्छेदों में हम पढ़ेंगे कि लय के परिवर्तन से भी भावों और रसो में अन्तर आ जाता है।

ताल तथा लय

संगीत प्रयोग में काल की गति को नियमित करने वाले दो प्रमुख तत्त्व हैं-ताल और लय। अमरकोश के अनुसार काल को क्रिया विशेष से नापने का पैमाना या परिमाण ताल है एवं उस क्रिया की समानता लय है-

तालः कालक्रियामानं लयः साम्यम्।[२]

अमरकोश द्वारा कथित इन लक्षणों का स्पष्टीकरण विविध लेखकों ने किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने काल की विविध इकाइयों के विषय में भी अपने मत प्रकट किये हैं तथा सङ्गीत में प्रयुक्त ''मात्रा'' की अवधारणा को स्पष्ट किया है। इन लेखकों के अनुसार हम भी ताल और लय के लक्षणों तथा उनसे सम्बद्ध काल विवेक पर विचार करेंगे।

लय-लय के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार क्रिया की समानता तीन प्रकार की मानी गयी है-विलम्बित, मध्य तथा द्रुत लय। तदनुसार अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी का कथन है कि गानक्रिया तथा गेय रचना का एक दूसरे से कम या अधिक न होकर द्रुत, मध्य या विलम्बित गति में मिला-जुला होना लय है-

गानगेययोरन्यूनाधिक्ये श्लिष्टता लयो द्रुतादिः।[३]

---

१. गीतगोविन्दकाव्यम्, पृ० २७-२८

२. अमरकोश, प्रथम काण्ड, नाट्यवर्ग

३. अमरकोश टीका, पृ०५०

टीकाकार भानुजिदीक्षित के अनुसार गीत, वाद्य तथा (नृत्य के) चरण न्यास आदि की क्रिया तथा काल की समानता लय है-

गीतवाद्यपादादिन्यासानां क्रियाकालयोः साम्यं लयः।[1]

लय के तीन प्रमुख भेद हैं-

विलम्बित लय, मध्य लय तथा द्रुत लय।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार हास्य तथा श्रृङ्गार रसों के लिये द्रुतलय उपयोगी है।[2]

तथा लया हास्यश्रृङ्गाररयोर्मध्यमः।

बीभत्सभयानकयोर्विलम्बितः। वीररौद्राद्भुतेषु च द्रुतः।

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३/१८)

इन लयों का राग के विकास (बढ़त) में भी विशिष्ट प्रयोग होता है जिसे हम आगामी अनुच्छेदों में पढ़ेंगे। किन्तु उससे पहले ताल, मात्रा आदि का स्वरूप जानना अपेक्षित है।

ताल-अमरकोश के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार काल को क्रिया विशेष से नापने का पैमाना ताल है। ''ताल'' शब्द प्रतिष्ठार्थक धातु 'तल्' के साथ अधिकरण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय जोड़ने पर बनता है। तदनुसार गीत, वाद्य तथा नृत्य की प्रतिष्ठा का आधार ताल है।[3] क्षीरस्वामी के अनुसार आवाप, निष्क्रम आदि क्रियाओं द्वारा काल का पैमाना वा परिच्छेदक ताल है-

कालस्य क्रियया आवापनिष्क्रमादि कथामानं परिच्छेदकं प्रतिष्ठाहेतुस्तालः।[4]

इस टीकांश में आये' परिच्छेदकम्'' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हो सकता है सब ओर से काटकर विभाजित करने वाला (परितश्छेदकम्) तदनुसार ताल एक ऐसा पैमाना है जिससे हम काल के अनेक समान मात्रा वाले विभाग या भेद कर सकते हैं। संगीतसमयसार के लेखक पार्श्वदेव के अनुसार क्रिया के द्वारा परिकल्पित काल का परिमाण ताल है-

तालशब्दस्य निष्पत्तिः प्रतिष्ठार्थेन धातुना।

स तालः कालमानं यत् क्रियया परिकल्पितम्।।[5]

---

१. अमरकोश टीका. पृ० ७५

२. NIM, Vol, I, p .160

३. तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।। ५/२

४. अमरकोशटीका, पृ०५०

५. संगीतसमयसार ८/२

इस लक्षण में प्रयुक्त शब्द 'परिकल्पितम्' पर गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि पार्श्वदेव ने काल को सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त तथा एक माना है। अत: उसको नापा नहीं जा सकता। इसलिये क्रिया के द्वारा काल का परिमाण पूर्णतया कल्पित ही है (परित:कल्पितम्।)

इस लक्षण के पश्चात् पार्श्वदेव ने तालविषयक काल के परिमाण की कल्पना के दो प्रकार कहे हैं(१) मनोगा अर्थात् मन से की गई काल के परिमाण की कल्पना तथा (२) हस्तगा अर्थात् हाथ से की गई कल्पना। हस्तगा कल्पना के सात भेद हैं जो हाथ की सात क्रियाओं द्वारा किये जाते हैं

आवाप-उत्तान (चित) हाथ की अंगुलियों का सिकोड़ना। निष्क्राम-पट (अधस्तल) हाथ को फैलाना।

विक्षेप- अधस्तल हाथ को दाहिनी ओर फेंकना।

प्रवेश-अधस्तल हाथ को सिकोड़ना।

शम्या-दक्षिण हाथ से वाम हाथ पर आघात।

ताल- वाम हस्त से दक्षिण हस्त पर आघात।

सन्निपात-दोनों हाथों का परस्पर आघात।[1]

'ताल' शब्द की व्याख्या में अमरकोश के टीकाकारों ने 'आवाप', निष्क्राम' आदि जिन क्रियाओं द्वारा काल के 'ताल' नामक परिभाण का विभाजन माना है, वे सम्भवत: ये ही सात क्रियाएं हैं। इन से तालगत मात्राओं का समानान्तर पर नियमन होता था। 'शम्या', 'ताल' तथा 'सन्निपात' ये तीन प्रकार की ताली के नाम प्रतीत होते हैं 'मनोगा मानकल्पना' की चर्चा हम मात्राओं की अवधारणा के प्रसङ्ग में करेंगे। उससे पूर्व ताल सम्बन्धी कुछ अन्य तत्त्वों का उल्लेख अपेक्षित है।

प्रत्येक लय में स्वरों की मात्राएं, क्रमानुसार समानान्तर पर आती हैं। उन मात्राओं की संख्यानुसार नियत इकाई को ताल कह सकते हैं उदाहरणार्थ, १६ मात्राओं से तीन ताल बनती है, छह मात्राओं से दादरा ताल बनती है तथा दस मात्राओं से झपताल बनती है। शार्ङ्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकर में १२० तालों का उल्लेख किया है। समय-समय पर छन्द, लय आदि के अनुसार कई तालों की रचना हुई जिनमें से लगभग ४० आज भी प्रसिद्ध हैं। इन में भी अधिक लोकप्रिय १५ तालें हैं।[2]

---

१. संगीतसमयसार, ८/८-११
२. Music of India, pp.50-51

हरेक ताल की सम्पूर्ण मात्राओं अथवा बोलों के समूह को आवर्तन कहते हैं। तदनुसार १६ मात्राओं के समूह का एक प्रयोग तीन ताल का एक आवर्तन कहलाता है। ये आवर्तन दोहराये जाते हैं– एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा इत्यादि।

ताल के प्रत्येक आवर्तन के निश्चित विभाग होते हैं– सम, खाली तथा ताली। जिस मात्रा से ताल आरम्भ होती है उस मात्रा को उस ताल का सम कहते हैं। सम पर एक विशेष प्रकार का जोर दिया जाता है जिससे उसका अन्य मात्राओं से भेद स्पष्ट हो जाता है। सम के बाद ताल में दूसरा स्थान खाली का होता है। जिस मात्रा पर ताली नहीं पड़ती अथवा बाएं तबले पर खुला हाथ दिखाकर जो मात्रा बनाई जाती हैं वे खाली का स्थान बन जाती हैं। सम के अतिरिक्त ताल में जिन-जिन मात्राओं पर तालियां पड़ती है वे ताली अथवा भरी कहलाती हैं। उदाहरणार्थ, तीन ताल में पहली मात्रा पर सम तथा नवीं मात्रा पर खाली है। अत: पाँचवीं तथा तेरहवीं मात्रा पर इस ताल की तालियां पड़ती हैं।

गायक, वादक तथा नर्तक अपने प्रयोग को सम पर समाप्त करते हैं। यह नियम प्राय: अपनाया गया है कि 'खाली' को 'सम' से ठीक पूर्व आना चाहिये। इसका लाभ यह होता है कि कलाकार अपने प्रयोग में कितना ही खो जाय, 'खाली' द्वारा उसे 'सम' तक पहुँचाने की सुध आ जाती है।[१]

संगीतसारामृत के मतानुसार ताल के तीन 'ग्रह' होते हैं– सम, अतीत तथा अधोगत। ताल की मात्रा, गीत तथा वाद्य यन्त्र के स्वर, हाथ की ताली तथा ताल वाद्य का वादन इन सब का एक काल में होना ताल का 'सम' कहलाता है। ताली के पश्चात् गीत के स्वर का उठना 'अतीत' ग्रह होता है। जब ताली बजाने के लिये हाथ उठा हो तभी स्वर का बोला जाना 'अनागत' ग्रह कहलाता है–

समोऽतीतोऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मत:।
गीतादिसमकालस्तु समपाणि: समग्रह:॥
सोऽवपाणिरतीत: स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तते।
अवगत: प्राक् प्रवृत्तग्रह: सोऽपरिपाणिक:॥[२]

ऐलेन डेनेल्यु के अनुसार 'अतीत' ग्रह के पश्चात् आने वाला स्वर अनिच्छा तथा सन्देह को प्रकट करता है 'सम' के साथ प्रकट हुआ स्वर सुव्यवस्था तथा चित्त के सन्तुलन को प्रकट करता है। 'अनागत' ग्रह वाला स्वर आनन्द, सजीवता एवं शक्तिमत्ता

---

१. Music of India, p.51
२. सङ्गीतसारामृत, तालाध्याय, पृ०१६६; द्रष्टव्य NIM Vol. I p. 98, 160

को प्रकट करता है-

Played "after the beat," the note is said to express reluctance, doubt.

Played "on the beat," the note expresses precision, soberness.

Played "before the beat," the note is said to express joy, liveliness, vitality.[1]

मात्रा

उपर्युक्त लय तथा ताल के विवरण में हमने 'मात्रा' शब्द का उल्लेख किया। व्युत्पत्ति के अनुसार काल की जो इकाई नापी जाती है वह मात्रा है,[२] मात्रा के विषय में कोई समान मत नहीं है कि इसकी अवधि क्या है एवं इसे नापने का साधन क्या है। तथापि तीन रोचक मत विशेष रूप से विमर्शयोग्य हैं-

(१) सैकेण्ड-आधुनिक युग में घड़ी की सुई द्वारा काल का परिमाण नापा जाता है। तदनुसार पूर्वोक्त तीन लयों में यदि प्रत्येक मात्रा पर ताली बनाई जाय तो ताली का काल एक मात्रा का काल माना जा सकता है। इस प्रकार विलम्बित लय में प्रत्येक ताली प्राय: एक सैकेण्ड की होगी। मध्य लय में प्रत्येक ताली प्राय: १/२ सैकेण्ड की होगी। द्रुत लय में प्रत्येक ताली प्राय: १/४ सैकेण्ड की होगी। इस प्रकार लयों में प्रत्येक मात्रा लगभग १,१/२ अथवा १/४ सैकेण्ड के बराबर मानी जा सकती है[३]।

(२)मनोगा मानगति-पाश्वदेव ने मन से की गई गणना के अनुसार क्षण, मात्रा आदि काल की इकाईयों से सम्बद्ध एक प्राचीन मत दिया है। इस मत के अनुसार काल की सबसे छोटी इकाई एक क्षण है। क्षण के विषय में अवधारणा इस प्रकार की गयी है कि यदि कमल की सौ पंखुड़ियाँ एक के ऊपर एक रखी जाएं तथा सुई द्वारा उन सबका एक साथ छेदन किया जाय तो प्रतीत होता है कि सुई एक ही काल में सभी पंखुड़ियों के पार हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञात होता है कि एक पंखुड़ी से दूसरी पंखुड़ी तक पहुंचने में सुई को कुछ समय अवश्य लगा होगा। समय की वही सबसे छोटी इकाई क्षण है-

---

1. NIM, Vol.I, p. 98
२. मीयते। धातु माङ्माने +ष्ट्रन्+टाप्। भानुजिदीक्षित, अमरकोशटीका, पृ०३६०
3. NIM,Vol.I, p. 88.

उपर्युपरिविन्यस्तपद्मपत्रशते सकृत्

यः कालः सूचिसम्भेदात् स क्षणं स्याद् दलं प्रति।।[1]

इस पद्य के बाद पार्श्वदेव ने मनोगा मानगति के अनुसार निम्नलिखित काल विभाग दिये हैं–

८ क्षण=१ लव

८ लव= १काष्ठा

८ काष्ठा=१निमेष

८ निमेष=१काल

४काल=१त्रुटि

२ त्रुटि=१अर्धद्रुत

२अर्धद्रुत=१बिन्दु

२बिन्दु =१लघु

२लघु=१गुरु

३लघु=१प्लुत

पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण का काल तालगत एक मात्रा है

लघ्वक्षराणां पञ्चानां मानमुच्चारणे हि यत्।

तत्प्रमाणपरिज्ञेया मात्रा तालगता बुधैः।।[2]

(इ) भाषा की रचना तथा नाड़ी का स्पन्दन[3] संस्कृत वर्णमाला में ह्रस्व वर्ण की एक मात्रा, दीर्घ की दो मात्राएं तथा प्लुत की तीन मात्राएं मानी गयी हैं। यद्यपि आधी मात्रा की अवधारणा भी की गयी है तथापि वर्ण के ठीक उच्चारण के लिये सबसे छोटी आवश्यक काल की इकाई एक मात्रा मानी गयी है। वह भी माना गया कि एक सामान्य स्वास्थ्य वाले मनुष्य की नाड़ी का एक स्पन्दन लगभग तीन मात्राओं के बराबर होता है।

ताल देने के लिये प्रयुक्त दो तालियों के बीच की अवधि 'लघु' कहलाती है 'लघु' का विस्तार ३ से ९ मात्राओं तक तथा प्रायः ४ मात्राओं तक माना गया है। ३

---

१. सङ्गीतसमयसार ८/४

२. सङ्गीतसमयसार ८/१५-१६

३. NIM, Vol. I, p.87 TIM, p. 93
लेखकों ने इस मत का स्रोत नहीं लिखा।

से ४ मात्राओं तक का कम से कम अन्तराल तो दो तालियों के मध्य होना ही चाहिये ताकि हाथ को विश्राम मिलता रहे तथा देर तक ताली बजाकर ताल निर्देशन किया जा सके। इससे कम अन्तराल होने पर ताली जल्दी-जल्दी बजेगी और हाथ जल्दी थक जाएगा। किन्तु तालियों के बीच का अन्तराल इतना अधिक भी नहीं होना चाहिये कि पिछले और अगले स्वर का सम्बन्ध ही न बने और लय टूट जाय। अतः दो तालियों के बीच का अन्तराल अधिक से अधिक नौ मात्राओं का होना चाहिये। इस चिन्तन के अनुसार निम्नलिखित काल गणना की गयी है–

लघु ४ मात्रा तक रहता है

द्रुत २ मात्रा तक रहता है

कला (अनुद्रुत =अणु=विराम) १ मात्रा तक रहती है

निमिष (पलक झपकना) =१/८ मात्रा।

काष्ठा (सीमा) १/८ निमिष।

लव (टुकड़ा =अंश) =१/८ काष्ठा।

क्षण =१/८ लव।

गुरु =८ मात्रा।

प्लुत=१२ मात्रा।

काकपद=१६ मात्रा।[1]

इस काल गणना का सैद्धान्तिक आधार नाड़ी के स्पन्दन के साथ भाषा के वर्णों तथा संगीत के स्वरों की मात्राओं का समन्वय है अतः इस सिद्धान्त के अनुसार लय और ताल का प्रयोग अवश्य ही हृदयग्राही हो सकता है।

आजकल शास्त्रीय सङ्गीत के कलाकार अपनी शैली के अनुसार बढ़त, अर्थात् राग के क्रमिक विकास का प्रयास करते हैं। इस समस्त व्यापार में वे राग के हरेक स्वर, स्वरसमूह तथा उसमें छिपे रहस्यों को खोजते जाते हैं। इस अनुसन्धान में से संगीत की सरल से कठिन परिकल्पनाओं की ओर एवं विलम्बित से मध्य तथा द्रुतलयों की ओर जाते हैं।

बढ़त के इस क्रम में सङ्गीत के दो प्रकार प्रयुक्त होते हैं अनिबद्ध सङ्गीत तथा निबद्ध सङ्गीत । दोनों प्रकारों में लय तो होती हैं किन्तु अनिबद्ध संङ्गीत में ताल नहीं होती। निबद्ध सङ्गीत ताल बद्ध होता है। अनिबद्ध संङ्गीत का प्रमुख प्रतिनिधि आलाप

१. वही

है। आलाप सङ्गीत की कल्पनाओं की एक खुली तथा स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है जो कई बार लय से युक्त होती है किन्तु ताल से बंधी नहीं होती।[१] भातखण्डे जी ने स्पष्ट किया है आलाप में गीत के शब्दों की, गीत के भाव, स्थायी, अन्तरा आदि भागों की आवश्यकता नहीं होती। राग के थाट, स्वर (वादी, संवादी तथा अनुवादी) सप्तक (मन्द्र), मध्य तथा तार) आदि प्रकट करने मात्र से आलाप बन जाता है।[२] आलाप को हम स्वच्छन्द, किन्तु लययुक्त कविता के समान मान सकते हैं। अन्तर यह है कि कविता में शब्द तथा अक्षर होते हैं जबकि आलाप में स्वरों की भाषा होती है। भाव सम्प्रेषण दोनों में है। संगीतकार रागानुसार स्वरसमूह का चयन करके आलाप को प्रस्तुत करता है तथा अपने साथ श्रोताओं को राग के विश्व में प्रविष्ट करा देता है

अनिबद्ध से भिन्न निबद्ध सङ्गीत होता है जो ताल से बंधा होता है। गायन में चार -छह पंक्तियों की कोई बन्दिश होती है। बन्दिश एक आधार है जिससे रहस्यमय राग साकार हो जाता है। कलाकार को मानो एक रूपरेखा या मानचित्र मिल जाता है जिसके छिपे हुए स्थानों को वह अपने गायन की बढ़त के द्वारा प्रकट करने का प्रयास करता है।

निबद्ध संगीत को प्रस्तुत करने की कई पद्धतियाँ हैं ध्रुपद, धमार, ख्याल (छोटा या बड़ा) आदि। टकाल गायन को भी कलाकार प्राय: विलम्बित लय से आरम्भ करते हैं। इस लय में ताल की मात्राओं का अधिक अन्तराल होने के कारण गायक को बन्दिश के प्रत्येक बोल तथा राग के प्रत्येक स्वर का एकग्रता से उच्चारण करने तथा उसकी गूंज श्रोताओं तक पहुंचाने का समय तथा अवकाश मिल जाता है। विलम्बित लय से चित्त की एकाग्रता, शान्ति, अन्तर्मुखता तथा गम्भीरता की ध्वनि मिलती है। गायक राग की संरचना तथा घटक तत्त्वों को आत्मसात् करके प्रकट करता है।

इस प्रकार विलम्बित लय द्वारा राग को आत्मीय बनाकर गायक मध्य लय अथवा द्रुत लय की ओर बढ़ता है। अन्तर्मुखता से बहिर्मुखता की ओर एवं गम्भीरता से उल्लास की ओर बढ़ता है। विशेषकर द्रुतलय में यह प्रगति ताल वाद्य के कलात्मक आवर्तनों एवं स्वरों की तीव्र गति वाली तानों द्वारा होती है। मन्द्र सप्तक की गहराई तथा तार सप्तक की ऊँचाई तक गायक तीव्र गति से आरोह-अवरोह करता है तथा राग के एक चमत्कार पूर्ण उत्कर्ष पर ले जाकर समाप्त करता है।[३]

सङ्गीत का समष्टि रूप और कालतत्त्व

पिछले अनुच्छेदों में हमने भारतीय सङ्गीत में लय, ताल तथा स्वर के प्रसङ्ग में जो काल विमर्श किया वह लोक व्यवहार में सङ्गीत के प्रयोग तक सीमित था। इसे

---

१. M.A., p.38

२. हिन्दुस्तानी सङ्गीत पद्धति, प्रथम भाग पृ. ४०

३. M.A., pp. 37-38, 44-45

हम व्यष्टि सङ्गीत कह सकते है. विमर्श की पूर्णता के लिये सङ्गीत के समष्टि रूप का विवेचन रुचिकर होगा। इसके सङ्केत शास्त्रकारों और कवियों से प्राप्त होते हैं। शार्ङ्गदेव आदि शास्त्रकार चेतन नाद ब्रह्म से समस्त स्वरों सहित जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। शिव और पार्वती से ताल का उद्भव मानते हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि क्रान्तद्रष्टा कवि सृष्टि के विविध दृश्यों में अनवरत सङ्गीत को सुनते हैं। शार्ङ्गदेव के अनुसार गीत नादात्मक है क्योंकि यह प्राण और अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता है।[१]

इस विश्व का सार तत्व परमात्मा अथवा नाद ब्रह्म है जो विभु, निर्विकार, निराकार, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसम्पन्न है। सारे जीव उसके अंश हैं। वे अनादि अविद्या रूपी उपाधि के कारण उत्पन्न अनादि कर्मों द्वारा परमात्मा से भिन्न सदृश प्रतीत होते हैं।[२] वस्तुतः वे जीव, जगत् तथा परमात्मा परस्पर भिन्न नहीं हैं–

ते जीवा नात्मनो भिन्ना भिन्नं वा नात्मनो जगत्।।[३]

परमात्मा की शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि होती है क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी प्रकट होते हैं। इनके योग से मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते है।[४]

मानव शरीर में बुद्धिमान् लोग उपायपूर्वक भुक्ति तथा मुक्ति की साधना करते हैं। सगुण परमात्मा के ध्यान से मुक्ति मिलती है। निर्गुण के ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। किन्तु ध्यान की साधना एकाग्रचित्त से ही सम्भव है। हरेक मनुष्य के लिये यह सरल नहीं है। अपेक्षाकृत•सरल उपाय अनाहत नाद की साधना है। मुनिजन गुरु द्वारा उपदिष्ट उपाय द्वारा अनाहतनाद की उपासना करते हैं। परन्तु अनाहतनाद भी जनसामान्य का मनोरञ्जक नहीं होता। इस कारण सङ्गीत की २२ श्रुतियों के रूप में प्रकट हुआ आहतनाद गायन योग्य वस्तु को प्रकट करता हुआ लोकरञ्जन और भय का नाश करता है।[५]

शार्ङ्गदेव अद्वितीय, चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप उस नाद ब्रह्म की उपासना करते हैं तथा बताते हैं कि समस्त जगत् उसी का अवास्तविक रूपान्तर (विवृतम्) है।[६] उसी

---

१. नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात् तेन नादोऽभिधीयते।।
सङ्गीतरत्नाकर, १/३/६

२. सङ्गीत रत्नाकर, १/२/४-६

३. वही, १/२/११

४. वहीं, १/२/१२-१३

५. वही १/२/१६२-१६७

६.. विवृतमतत्त्वतोऽन्यथाभूतम्। सङ्गीतरत्नाकर १/३/१-२ पर कल्लिनाथ।

नाद की उपासना से ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भी उपासित होते हैं क्योंकि वे भी नादात्मक हैं–

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदामना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे॥
नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥[1]

यह नाद शरीर के भीतर ब्रह्मग्रन्थि (नाभि में स्थित अनाहत नादचक्र) में स्थित होता है। आत्मा वाणी को प्रकट करना चाहती है। अतः मन को प्रेरित करती है। मन देह में स्थित अग्नि को सक्रिय करता है। अग्नि प्राण वायु को प्रेरित करती है। ब्रह्मग्रन्थि में स्थित वह प्राणवायु क्रमशः ऊपर को उठती हुई नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा तथा मुख में ध्वनि को प्रकट करती है।[2] इन पाँच स्थानों में स्थित नाद के व्यवहारानुसार तीन भेद हैं– हृदय में स्थित नाद मन्द्र कहलाता है, कण्ठ में स्थित नाद मध्य तथा मूर्धा में स्थित नाद तार कहलाता है। इस नाद के बाईस सुनाई देने वाले भेद श्रुति कहलाते हैं।[3] श्रुति के तुरन्त पश्चात् सुनाई देने वाली स्निग्ध तथा गूंजयुक्त ध्वनि स्वर कहलाती है। वह किसी सहयोगी कारण के बिना स्वयं ही श्रोताओं के चित्त को रञ्जित करती है–

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते॥[4]

इस विवरण से प्रतीत होता है कि शार्ङ्गदेव के अनुसार समस्त सृष्टि तथा संगीत के स्वर एक ही परम सत्य, चैतन्य, आनन्द स्वरूप नाद ब्रह्म के विवर्त हैं अर्थात् उससे अभिन्न हैं। अतः लोक व्यवहार तथा सङ्गीत में प्रयुक्त काल भी उस नाद ब्रह्म से अभिन्न, एक तथा सर्वव्यापी हुआ।

¹ मातङ्ग द्वारा रचित बृहद्देशी की टीका में सात स्वरों के बारे में कोहल का एक पद्य उद्धृत हुआ है। इस पद्य के अनुसार –मयूर का स्वर षड्ज है; चातक का स्वर

---

१. सङ्गीतरत्नाकर १/३/१-२)
२. सङ्गीतरत्नाकर १/३/३-४
३. व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः॥
तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः।
सङ्गीतरत्नाकर १/३/७-८
४. सङ्गीतरत्नाकर १/३/२६

ऋषभ है; बकरी का स्वर गान्धार है; क्रौञ्च का स्वर मध्यम है; पुष्पों की ऋतु में कोयल का पञ्चम स्वर होता है; वर्षा काल में मेंढक का स्वर धैवत होता है; हाथी सर्वथा षड्ज स्वर ही बोलता है।[१]

इसी प्रकार विश्व में चल रहे सङ्गीत तथा अन्य क्रिया कलाप को ईश्वर समष्टिताल द्वारा नियमित करता रहता है। कृष्णानन्द व्यास द्वारा रचित रागकल्पद्रुम में उद्धृत पद्यों में लिखा है कि जगत् के उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रत्यय ताल से ही होते हैं। कीट, पशु आदि की ताल से ही गति सम्भव है। लोक में होने वाले विविध कर्म, सूर्य तथा अन्य ग्रहों की गति भी ताल से ही होती है। योगिजन प्राणात्मक तथा शिव-शक्ति-स्वरूप ताल को चाहते हैं। उनके मत में ताल का 'त' कार शिव है तथा 'ल' कार पार्वती (शक्ति) है। यह ताल पुण्यस्वरूप, यशस्कर, भुक्ति तथा मुक्ति को देने वाली है–

उत्पत्त्यादित्रयं लोके यतस्तालेन जायते।
कीटकादिपशूनाञ्च तालेनैव गतिर्भवेत्॥
यानि कानि च कर्माणि लोके तालाश्रितानि च।
आदित्यादिग्रहाणाञ्च तालेनैव गतिर्भवेत्॥
तकारे शङ्करः प्रोक्तो लकारे पार्वती स्मृता।
शिवशक्तिसमायोगात् ताल इत्यभिधीयते॥
शिवशक्त्यात्मकं पुण्यं यशस्यं भुक्तिमुक्तिदम्।
ततः प्राणात्मकं तालं योगिनामभिलिप्सितम्॥[२]

इस समष्टि सङ्गीत का गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हृदयग्राही वर्णन किया है–

"असीम का सृष्टि के सीमित रूपों में प्रकट होना भी एक मौन सङ्गीत है। रात्रि का आकाश तारों के उस सङ्गीत से भरा है जिसे आकाश सदियों से दोहरा रहा है, और फिर भी आनन्द भरे आश्चर्य से स्वयं सुन रहा है। जुलाई महीने की वर्षा की रात्रि में जब बादल सोई हुई पृथ्वी पर एक के बाद एक पानी की चादर बिछा देते

---

१. षड्जं वदति मयूरो ऋषभं चातको वदेत्।
अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पञ्चमं वदेत्।
प्रावृट्काले तु सम्प्राप्ते धैवतं दर्दुरोवदेत्॥
सर्वदा च तथा देवि निषादं वदते गजः॥
बृहद्देशी ६३ की टीका में उद्धृत, NIM, Vol.I, pp. 43-44; 160
2. NIM, Vol. I, p. 88.

है, उस समय ऐसा लगता है मानो मूसलाधार वर्षा का एक स्वर में चलता हुआ निनाद ही अन्धकार बन गया हो। वृक्षों की धुधली सी दिखाई देती पंक्तियां, कांटेदार झाड़ियों का फैलाव, गीली घास की गन्ध, अन्धकार को चीरकर उठता हुआ मन्दिर का कलश, ये सब मानो रात्रि के हृदय से उठते हुए स्वर हैं जो वर्षा के स्वर में मिलकर आकाश को संगीत से भर रहे हैं। इसलिये सच्चे कवि और तत्त्वदर्शी विश्व के सत्य को संगीत द्वारा प्रकाशित करते है।[१]

सङ्गीत की पहचान ऐसी ध्वनि है जो सुखद हो अर्थात् जिसके विविध स्वर एक दूसरे के वादी, संवादी या अनुवादी हों, जिनकी गति में समानता (लय) तथा नियमितता (ताल) हो, विषमता नहीं। मानव द्वारा प्रयुक्त ऐसा व्यष्टि सङ्गीत राग कहलाता है। समाप्ति के पश्चात् मधुर स्मृति छोड़ जाता है। बार-बार उसमें रमने की इच्छा छोड़ जाता है। जब ऐसी ध्वनि का श्रवण तथा नियमित गति का दर्शन विश्व में होता है तो दार्शनिक और कवि उसमें भी सङ्गीत के लक्षण देखते हैं। ऐसी विश्वव्यापी ध्वनि तथा गति के समन्वय को समष्टि सङ्गीत कहना उचित प्रतीत होता है।

उपसंहार

पिछले अनुच्छेदों में पठित विचारों के आधार पर अब हम भारतीय सङ्गीत में काल तत्त्व की अवधारणा के बारे में कुछ रचनात्मक निष्कर्ष प्रस्तावित कर सकते है–

१.उपर्युक्त दोनों प्रकार के सङ्गीत में काल के विभाग स्वीकार किये जा सकते हैं। ये विभाग विविध उपाधियों द्वारा परिकल्पित होते हैं–

(क) पहली उपाधि समष्टि ताल है जो भगवान शिव तथा भगवती पार्वती के रूप में है। इसके द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्रादि की गति नियमित होती है।

(ख) सूर्य (आदि) की गति दूसरी उपाधि है। इसके द्वारा काल के नियमित आवर्तन वाले लौकिक विभाग कल्पित होते हैं–युग, वर्ष, मास, ऋतु, दिन-रात के प्रहर आदि।[२] इन विभागों में मनुष्य की दिनचर्या, रुचि, गायन क्षमता आदि के अनुसार व्यष्टि संगीत के स्वर और राग की व्यवस्था होती है। समष्टि सङ्गीत में इस विभाजन के अनुसार कोयल आदि के स्वर गूंजते हैं। (ग) तीसरी उपाधि मनुष्य द्वारा रचित सङ्गीत की विशेष

---

१. साधना, पृ०९६

२. क्षणा मुहूर्ता दिवसा निशा पक्षाश्च कृत्स्नशः।
मासाः संवत्सराश्चैव ऋृतवोऽब्दा युगानि च।।
तदादित्यादृते तेषां कालसंख्या न विद्यते।।
वायु पुराण ५३/३९-३८; प्राचीन भारतीय कालगणना एवं पारम्परिक संवत्सर, पृ. २०)

क्रियाएं हैं जिनसे लय और ताल की रचना होती है; उनके अन्तर्गत काल की छोटी छोटी इकाईयों की परिकल्पना होती है—लघु, मात्रा, क्षण आदि। इनका उपयोग व्यष्टि संङ्गीत में होता है।

२. सङ्गीत शास्त्र के ग्रन्थों में हमें अभी तक काल के उपाधिकृत विभागों के उल्लेख तो मिले हैं। किन्तु निरुपाधिक काल के बारे में कोई स्पष्ट सङ्कत नहीं मिला कि सृष्टि व्यवस्था में उसकी क्या स्थिति है। फिर भी हम अनुमान अथवा अर्थापत्ति द्वारा निरुपाधिक, एक, नित्य तथा सर्वव्यापी काल की सिद्धि कर सकते हैं। वह इस प्रकार है कि जब हम नियमित अवधि वाली क्रियाओं से काल के सीमित परिमाण कल्पित करते हैं तो उनकी सङ्गति एक, अखण्ड तथा सर्वव्यापी काल के विना नहीं हो सकती।

३. वह निरुपाधिक काल नाद ब्रह्म से अभिन्न है।

४. उसी काल अथवा नाद ब्रह्म के विवर्त समस्त जड़ और चेतन समुदाय, उसके व्यवहार, काल के विभाग, सङ्गीत की क्रियाएं तथा स्वर हैं।

५. तदनुसार काल के दो भेद प्राप्त होते हैं— व्यावहारिक तथा पारमार्थिक, जिन्हें क्रमशः संख्येय तथा असंख्येय भी कहा जा सकता है। गणना के योग्य व्यावहारिक काल संख्येय तथा गणना से रहित काल असंख्येय कहा जाता है। जैन दर्शन में ऐसा काल—विभाजन प्राप्त होता है।[१]

६. आहत नाद संख्येय या सीमित काल में रहता है। अनाहत नाद उसका मूलकारण है तथा असंख्येय काल से अभिन्न है।

सङ्गीतशास्त्र के ग्रन्थों में असामान्य के सङ्गीत में उपयोगी संख्येय काल के भेदों की ही चर्चा मिलती है। फिर भी शास्त्रकार मनुष्य जीवन के परम प्रयोजन आत्मसाक्षात्कार द्वारा मोक्ष प्राप्ति के प्रति भी सचेत रहे हैं। इस उद्देश्य से उन्होंने यह दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि समस्त स्वर ब्रह्मा के ही विवर्त हैं। ये स्वर नादब्रह्म से वैसे ही सम्बद्ध हैं जैसे मणि से उसकी प्रभा। अनाहत नाद यदि मणि है तो आहत नाद प्रभा है। जिस प्रकार मणि की प्रभा से आकृष्ट व्यक्ति मणि को प्राप्त कर लेता है वैसे ही आहतनाद

---

१. दुविधो ह होदि कालो ववहारो नह्य परमत्थो।
ववहार मणुमलोए परमत्थो सब्बलोय म्मि।।
सं स्वेज्जभसंरवेज्जं अणंतयं तहय दोदिति वियप्पो।।
जम्बूद्वीप पण्णत्ति१३/१-३, प्राचीन भारतीय कालगणना एवं पारम्परिक संवत्सर, पृ० २०

की सङ्गीत साधना से अनाहत नाद की प्रप्ति कर सकता है, अर्थात् उपाधियों से सीमित काल से परे अखण्ड काल स्वरूप नादब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है।[१]

इस सम्भावना की ध्वनि हमें प्राय: शास्त्रीय सङ्गीत के प्रयोगों में मिलती है। गायक या वादक राग के अनुसार मन्द्र, मध्य तथा तार सप्तकों में स्वर सञ्चार करता जाता है। किन्तु तानपुरे के तारों से निरन्तर षड्ज तथा पञ्चम स्वरों की गूंज का आवर्तन होता रहता है। तारों को छेड़ने तथा गायन क्रिया से पूर्व नाद अनाहत था। छेड़ने (आघात) से वह आहत होकर प्रकट होता है। अन्त में पुन: अव्यक्त हो जाता है । सहृदय श्रोता यह ध्वनि ग्रहण करते हैं कि समस्त स्वरों की लीला का आधार कोई अद्वैत नाद तत्त्व है जो बदलता नहीं, काल की सीमा से बंधा नहीं रहता। उसी से व्यष्टि और समष्टि सङ्गीत के स्वर प्रकट होते हैं तथा उसी में लय को प्राप्त करते हैं।[२]

---

१. अतो गीतप्रपञ्चस्य श्रुन्या देहत्वदर्शनात्।
अपि स्यात् सच्चिदानन्दरूपिण: परमात्मन:।।
प्राप्ति: प्रभाप्रवृत्तस्य मणिलाभो यथा भवेत्।
प्रत्यासन्नतया ऽऽत्यन्तं वीणावादेन'' इत्यादि।।
सङ्गीतरत्नाकर १/३/१ पर कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत। द्रष्टव्य-आचार्य बृहस्पति द्वारा लिखित सङ्गीतसमय सार' की भूमिका, पृ०१६

२. Perhaps because it is indivisible, nāda is also called Nāda Brahma - The Supreme Reality, made manifest through sound.
The musicians voice is cradled in this all embracing womb of sound that the tānpurās drone strives to echo. MA,p. 7

कालिदास का कालचिन्तन

डॉ. कमलेश गर्ग

कालतत्त्व–विवेचन भारतीय दर्शन की एक प्रमुख समस्या है। ऋग्वेद में 'काल' शब्द का एक प्रयोग प्राप्त है–

कृतं यच् श्वघ्नी विचिनोति काले।[1]

अथर्ववेद के दो सूक्तों[2] में 'काल' शब्द का प्रयोग सामान्य कालवाची अर्थ में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण[3] में काल का प्रयोग उचित समय के अर्थ में हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] और कौषीतकि ब्राह्मण में 'काल' शब्द निश्चित समय का सूचक है। भगवद्गीता में काल शब्द समय अथवा यथासमय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[5] परमब्रह्म कृष्ण के लिए भी काल शब्द का प्रयोग हुआ है।[6]

कालिदास ने ऋषियों द्वारा प्रयुक्त सभी अर्थों में काल शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने उदाहरणों के माध्यम से कालतत्त्व का विवेचन किया और मानव को अमर सन्देश दिया।

निरवधि, अबाध, निरन्तर काल का काल खण्डों में विभाजन मानव के लिए नितान्त अनिवार्य है। प्रातः, दोपहर, सन्ध्या, दिन, रात, मास, ऋतुओं के नियामक तत्त्वों सूर्य–चन्द्र की कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम श्लोक में ही स्तुति की है–ये द्वे कालं विधत्तः।[7] उन्होंने सूर्य–चन्द्र को अष्टमूर्ति शिव के दो रूप माना है।

---

१. ऋग्वेद, १०/४२/६

२. अथर्ववेद,१८/५३/१–१० और १८/५४/१–५

३. शतपथ ब्राह्मण, १/७/३/३; और २/४/२/४

४. बृहदारण्यकोपनिषद्, २/१/१०

५. गीता, ४/२, ८/७, ८/२३, १७/२०

६. गीता, १०/३०, १०/३३,१७/२०

७. शाकुन्तलम्, १/१

कालिदास का ऋतुसंहार उनके जीवन–दर्शन और कालदर्शन का उदाहरण है। काल के विभिन्न खण्ड (ऋतुएं) पेड़–पौधों, लताओं, पशु–पक्षियों, कामोन्मत्त प्राणियों की दिनचर्या तथा जीवनशैली को प्रभावित करते हैं। सामान्य मानव इन कालखंडों से निरन्तर संघर्ष करता है। काल की परिवर्तनशील शक्ति के विजेता कालजयी व्यक्तित्व के स्वामी होते हैं। गीता में शीतोष्ण में समभाव रखने वाले पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहा गया है।[१] कालिदास ग्रीष्म की प्रखर ऊष्मा में झुलसे बिना वसन्त की ओर उन्मुख जीवन को श्लाघनीय नहीं मानते। ग्रीष्म (तपस्या) से तप्त जीवन ही वसन्त (भोग) उन्मुख होना चाहिए। शाकुन्तल के प्रथम अंक में भी ग्रीष्म को आधार बनाकर सूत्रधार कहते हैं–

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।

प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।।[२]

ग्रीष्म की समाप्ति पर दिवस स्वतः रमणीय हो उठता है।तपस्या के पश्चात् फलप्राप्ति पर जीवन का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है।[३] पार्वती के मादक सौन्दर्य से शिव वशीभूत नहीं हुए पर तपस्या से झुलसे हुए उसी रूप को देखकर जगत्पिता शिव पार्वती के सम्मुख नतमस्तक हो उठते हैं– **तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः।**[४]

यद्यपि परमपिता शिव ने काम को भस्मीभूत कर दिया पर कालिदास मानवजीवन के यौवन काल जैसे महत्त्वपूर्ण कालखण्ड में अनंग की सर्वविजयिनी शक्ति से सुपरिचित थे। वसन्त का रमणीय समय युगद्रष्टा, गायत्री रचयिता विश्वामित्र का तपभंग करने में समर्थ है। वसन्तकाल में मेनका के उन्मादक रूप को देख विश्वामित्र पथभ्रष्ट हो गए–

ततो वसन्तोदाररमणीये समये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य।

पशु–पक्षी, पेड़–लता भी यौवन में धैर्यच्युत हो जाते हैं। इसीलिए कवि यौवनकाल में वनज्योत्स्ना लता तथा सहकार का भोग के लिए मिलन करवा देते हैं।[५] सम्भवतः ऋषि कण्व अपने अतिव्यस्त जीवन में यह समझ ही नहीं पाए कि

---

१. गीता, २

२. शाकुन्तलम्, १/४

३. क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते। कुमारसम्भवम्, ३/८६

४. वही.

५. शाकुन्तलम्, प्रथम अंक

उनकी पुत्री शकुन्तला अब युवती हो गई है[1] और उसका विवाह कर देना चाहिए।[2] शकुन्तला, प्रियंवदा तथा अनसूया हास–परिहास में विवाह–चर्चा को मुख्य स्थान देकर, विवाह सम्बन्धी उत्कण्ठा प्रकट करती हैं।[3] हास–परिहास में ही वे शकुन्तला को राजमहिषी बनने का दिवास्वप्न दिखाती हैं।[4]

कालिदास उचित अवसर पर उचित कर्त्तव्य के पक्षपाती हैं। उचित अवसर पर कर्त्तव्य पालन न करने से दिलीप गौ के शापवश सन्तति से वंचित रह जाते हैं। मेघदूत में कामी यक्ष शापवश अपनी प्रेयसी से वर्ष–पर्यन्त विरहभोग के लिए विवश है। अवसर पर अतिथि–सत्कार न करने पर शकुन्तला शापग्रस्त हुई।

कालिदास के युग में आधुनिक काल की भाँति सामान्य युवावर्ग प्रायः भोगलिप्सु ही था। ग्रीष्म में कामी घनी छाया खोजकर सोते हुए जीवन नष्ट करने को आतुर है; (प्रच्छाय सुलभ निद्रा) वह ग्रीष्म को भोगानुकूल बनाने को तत्पर है। मदमस्त नारियाँ कोमल शिरीष के पुष्पों को कर्णभूषण बनाकर ग्रीष्म ऋतु व्यतीत करती हैं।[5] भोगलिप्सा मानव के साथ समाज का भी पतन करती है। शकुन्तला तपोनिष्ठ कण्व की पालिता पुत्री होकर भी वृक्ष सींचने जैसे सामान्य कार्य से जी चुराती है–**धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः**[6]। वृक्षों को सींचते हुए उसके कंधे झुक जाते है; हथेलियाँ लाल हो जाती हैं, साँस फूलने लगती है, पसीने की बूँदों से मुख लथपथ हो जाता है, बाल बिखर जाते हैं। उसकी इस दयनीय अवस्था पर तरस खाकर संभवतः वृक्ष सींचने का दायित्व कोई और संभाल लेता है। कुलपति की पुत्री होने का लाभ उठाते हुए अपना दायित्व न निभाना उसकी आदत बन गई, इसीलिए परिहास में प्रियंवदा कहती है–

द्वे वृक्षसेचने धारयसि मे।[7] आज का काम कल पर टालना उसका स्वभाव है। कालिदास की दृष्टि में यह अपराध है जिसका दण्ड अनिवार्य है। सप्तम अंक

---

१. वही, प्रथम अंक

२. असाधुदर्शी खलु तत्रभवान्काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।
इदंकिलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।।

३. वही

४. वही

५. वही

६. वही

७. वही

में यही शकुन्तला नियम पालन करने से तपस्या से कृशकाय एकवेणीधरा होते हुए भी श्रद्धेया है।

कालिदास कालप्रदत्त फल को अवश्यम्भावी मानते हैं। इसे वे भवितव्य के नाम से अभिहित करते हैं। इसके द्वार सर्वत्र हैं–अथवा **भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र**[1]। आखेटक राजा मृग को छोड़कर, राजकार्य से विरत हो शकुन्तला का पीछा करते हुए प्रतिदिन लतावलयों में जाता है। आश्रम निवासी अनुशासनप्रिय, लोकशिक्षक, अनुभवी, वयोवृद्ध ऋषियों ने इन दोनों के एकान्तमिलन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। संभवतः कालिदास यह संकेत कर रहे हैं कि समय की प्रतिकूलता होने पर हितैषी भी कुमार्गगामी का विरोध न करके उनके मूक सहायक बन जाते हैं। गौतमी के आगमन पर सखियाँ शकुन्तला को सावधान करते हुए कहती हैं–

आमन्त्रयस्व सहचरम् उपस्थिता रजनी[2]।

यह भी एक चिरन्तन सत्य ही है कि भोगरत प्राणियों को हितैषी वृद्धों की आकस्मिक उपस्थिति बाधाकाल है।

दुष्यन्त की माताओं को ज्ञात है कि दुष्यन्त कण्व के आश्रम गए हैं। चार दिन में उनकी वापिसी सम्भव है। कण्व की अनुपस्थिति में दुष्यन्त का आश्रम निवास सर्वविदित है । इस अवधि में दुष्यन्त नें शकुन्तला से विवाह किया होगा, इस तथ्य को राजदरबार में कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। यह भी कालप्रदत्त, अथवा नियतिप्रदत्त दण्ड ही है कि जिनकी अवहेलना करके प्रेमी युगल परस्पर विवाह करते हैं, वे विवादकाल में अधिक हस्तक्षेप नहीं करते–

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्च बन्धुजनः।
परस्परस्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकैकम्।।[3]

शकुन्तला और दुष्यन्त को पतनोन्मुख दिखाते हुए कवि दार्शनिक दृष्टिकोण अपना लेते हैं। चन्द्र के अस्त होने पर सूर्य का उदय और सूर्यास्त पर चन्द्रोदय जैसे नैसर्गिक काल विपर्ययचक्र की विवेचना करते हुए कहते हैं कि इस माध्यम से लोगों को दशान्तर का उपदेश दिया जाता है–

---

१. वही, १/१४
२. शाकुन्तलम्, तृतीय अंक
३. शाकुन्तलम्, ५/१६

तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम्। लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।[1]

सूर्य-चन्द्र जैसे समय के नियामक तत्व, अष्टमूर्ति काल के दो रूप होने पर भी अपने उत्थान-पतन के लिए परवश हैं। इसी प्रकार शकुन्तला या दुष्यन्त अथवा कोई भी मानव अपने उत्थान-पतन के लिए पूर्णतया दोषी नहीं है। कालिदास दण्डित प्राणियों के प्रति सहानुभूति रखते हैं। इस विषय में भाग्य अथवा भवितव्यता का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।

कालतत्त्व, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् में से सौन्दर्य पर अपना अमिट प्रभाव डालता है। चन्द्रोदय के समय चिरस्मरणीय शोभायुक्त कुमुदिनी, चन्द्रमा के अन्तर्धान होने पर दृष्टि को आकृष्ट करने में समर्थ नहीं है।

अन्तर्हिते सैव कुमुद्वती मे।

दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।।[2]

यौवनकाल में कांचुकीय जिस यष्टि को शिष्टाचार वश ग्रहण करते हैं, बहुत समय व्यतीत होने पर वही यष्टि उनका सम्बल बन जाती है-

काले गते बहुतिथे मम सैव जाता।

प्रस्थानविक्लवगतेरलम्बनार्था।।[3]

कालिदास भोगकाल की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। भोग मर्यादानुकूल होना चाहिए।

किमित्यपास्याऽभरणानि यौवने

धृवं त्वया वार्द्धकशोभि वल्कलम्।

वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका

विभावरी यद्यरुणाय कल्पते।।[4]

वसन्त ऋतु के आगमन पर पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी वसन्त का स्वागत करने को लालायित हैं। अपने विरह दुःख से कातर दुष्यन्त दिन, प्रति-दिन कृशकाय होते हुए उन्मत्त सा हो रहा है-

---

१. वही, ४/२
२. वही, ४/३
३. वही, ५/३
४. कुमारसम्भव, ५/४४

गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्[१]।

वह राज्यभर में वसन्तोत्सव का निषेध कर देता है। इस उदाहरण से कालिदास ने मानव को अमर सन्देश दिया है कि तपस्या काल में भोगरत प्राणी भोगकाल प्राप्त होने पर रोगी हो जाते हैं।

राजा दुष्यन्त ऋषियों की प्रार्थना स्वीकार कर रक्षणार्थ आश्रम में जाता है। रक्षक के स्थान पर राक्षस बन जाता है। शाकुन्तलम् के तृतीयाङ्क के प्रारम्भ में उसकी प्रशंसा की गई है कि उसकी प्रत्यञ्चा की हुँकार मात्र से आश्रम के समस्त विघ्न नष्ट होते हैं।[२] इसी अङ्क के अन्त में राजा को पुकारते हुए आवाजें आती हैं कि कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों की छाया यज्ञवेदी के चारों ओर घूम रही है।[३] राजा दिन भर में शकुन्तला को चुपचाप गन्धर्व विवाह के लिए फुसलाकर आश्रम के पवित्र वातावरण को कलुषित करने की भरसक चेष्टा करता है। यह विश्वासघात आसुरी है।

कालिदास ने प्रतीक्षाकाल का सुन्दर उदाहरण दिया है। सार्वभौम सत्य है कि प्रतीक्षाकाल दुःसह्य है। शकुन्तला का प्रतीक्षाकाल एकैक दिवस की गणना कर अन्त के स्थान पर अनन्त की ओर अग्रसर होकर सहृदय पाठक को उद्वेलित कर देता है–

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं,

नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।[४]

ऐसी दशा में प्रियमिलन का आशा बन्धन ही जीवन का सम्बल है–

एषाऽपि प्रियेण बिना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।

गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति।।[५]

मेघदूत में कवि सावधि प्रतीक्षाकाल को आशाबन्ध द्वारा ही सह्य घोषित करते हैं–

---

१. शाकुन्तलम्, षष्ठ अङ्क
२. वही, तृतीय अङ्क
३. वही, ३/२४
४. शाकुन्तलम्, ६/११
५. वही, ४/१६

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशे ह्यङ्गनानां।

सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।।[1]

जीवन में समय पर मुक्ति भी अनिवार्य है। मृत्युप्रदत्त मुक्ति कालप्रदत्त है। मनुष्य अपने प्रयास से मोक्ष पा सकता है। कालिदास का निर्वासित यक्ष रामगिरि आश्रमों में जनकतनया के स्नान से पवित्र तीर्थों में रहकर मेघ के माध्यम से ज्ञान का अर्जन करता है।[2] यक्षिणी को चार मास की अवधि की प्रतीक्षा का सन्देश भेजता है।

शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।[3]

यक्ष जीवात्मा है जो कर्म फलभोग के लिए परमात्मा से वियुक्त है तथा जीवन के दो तिहाई भाग को व्यतीत करने पर ज्ञानोन्मुख है। हिमालय के सुन्दर, शुभ्र, पवित्र अंचल में विद्यमान यक्षिणी परमात्मा है। धूम, ज्योति, सलिल, मरुत् का सन्निपात[3] मेघ मन है। एक वर्ष की अवधि सम्पूर्ण जीवन काल है जिसमें अब केवल तिहाई भाग (संन्यास भाग) अवशिष्ट है। उचित समय पर महाकाल के दर्शन कर मुक्ति सम्भव है–

महाकालमासाद्य काले[4]**।**

वेदों के वचनानुसार मन एक दिव्य ज्योति है, **'ज्योतिषां ज्योतिरेकम्'**। मन जलनिधि की लहरों के समान तरङ्गित तथा वायु की भांति अदृश्य, लेकिन जीवनसार है। भौतिक शरीर में इसी मन से उठने वाला धुआँ मानव तथा समग्र विश्व को विषाक्त करता है। यही धुआँ मानव के दुःख का मूलकारण है।

कालिदास शाकुन्तलम् के भरतवाक्य में शिव से पुर्नजन्म नष्ट करने की प्रार्थना करते हैं–

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः

पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।[5]

---

१. पूर्वमेघ, १
२. उत्तरमेघ, ५०
३. पूर्वमेघ, ५
४. पूर्वमेघ, ३७
५. शाकुन्तलम्, ७/३४

कालिदास के आराध्य शिव महाकाल हैं। महाकाल के मन्दिर के प्रति कालिदास की आस्था द्रष्टव्य है।[१] मृत्युकाल में महाकाल को देखकर ही मुक्ति सम्भव है–

मृत्युलोके महाकालं दृष्ट्वा मुक्तिमवाप्नुयात्।

काशीखण्ड में महाकाल का व्युत्पतिपरक अर्थ उपलब्ध है–

कल्पे कल्पेऽखिलं विश्वं कालयेत् यः स्वलीलया

तं कालं कलयित्वा तु महाकाल इति स्मृतः।।[२]

इन्हीं महाकाल से मुक्ति प्रार्थनीय है ताकि मानव कालबन्धन से मुक्त हो। मानव काल के अधीन है जब कि शिव कालातीत, महाकाल है। जब कुछ भी नहीं था, तब भी काल था, उससे भी पूर्व महाकाल था।

१. पूर्वमेघ, ३६

२. काशीखण्ड

संस्कृतवैयाकरणानां कालचिन्तनम्

डॉ. चन्द्रभूषण झा

प्रायशः सर्वासामेव विद्यानां मूलं सन्ति वेदाः। संस्कृतव्याकरणदर्शनस्यापि मूलं वैदिक एव वाङ्मये विलोक्यते। तद्यथा, गोपथब्राह्मणे ऋषिः पृच्छति–

ओंकारं पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम् किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः कः प्रत्यय इति।[1]

अपि च, तस्मिन्नेव युगे केचन धातु–प्रतिपादिक–नामाऽऽख्यातादीनाम् उपदेष्टारो विशिष्टाचार्याः सम्बभूवुः। तथा हि,

आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिन आचार्याः पूर्वे बभूवुः।[2]

परञ्च पाणिनेः पूर्वभाविवैयाकरणानां दार्शनिकमतानि सन्ति स्वल्पमेव संरक्षितानि। अतश्च 'काल'विषयेऽपि यद्यपि वैदिककालादेव विचारितम् तथा हि, ऋग्वेदे कालस्यैक्यं पुरुषेण प्रदर्शितम्

पुरुष एवेदं सर्वं भद् भूतं यच्च भव्यम्।[3]

तथापि पूर्वपाणिनीयानां वैयाकरणानां विचाराः सुव्यवस्थितरीत्या न समुपलभ्यन्ते। यास्काचार्यस्य मतेन 'काल' इति पदं गत्यर्थकात् 'कालयान्निष्पन्नम्। स ब्रूते–"कालः कालयतेर्गतिकर्मणः"[4]।

---

१. गोपथब्राह्मणम्, प्रथमः प्रपाठकः, १/२४

२. गोपथब्राह्मणम्, प्रथमः प्रपाठकः, १/२७

३. पुरुषसूक्तम्, १०/६०/२

४. निरुक्तम्, २/२५/१

पाणिनिना 'काल' शब्दः कलतेर्निष्पन्नो मतः, 'कल' धातोश्च नैकेऽर्थाः प्रकाशिताः। तथा हि, 'कल शब्दसंख्यानयोः' 'कल क्षेपे', 'कल गतौ संख्याने च' इत्यादि। तथापि कालविषयका नियमास्तेन नोपदिष्टाः। कालज्ञानं लोके सहजतयैव भवति। अत एव कालविशिष्टानां द्योतकपदानि तेन नैव परिभाषितानि। तस्मान्मुनेः पाणिनेर्व्याकरणम् अकालकं कथ्यते। तथा हि, **''पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्''**।[1]

परञ्च कालविषये तेनापि पर्याप्ता चर्चा कृता। व्यामिश्रकालस्य प्रयोगानां सुष्ठुत्वं प्रतिपादयितुं पाणिनिः शास्ति–'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः'[2] इति। धातूनामर्थेषु पारस्परिकः सम्बन्धः सम्भाव्यते। स च विशेषणविशेष्यभावरूपेण भवति। तथा हि, 'गोमान् आसीत्' इत्येतादृशे प्रयोगे वर्तमानकालस्य भूतकालेन सह सम्बन्धो दृश्यते। वर्तमानकालोऽत्र विशेषणं भूतकालश्च विशेष्यः। वर्तमानकालोऽप्यत्र विशेषण–विशेष्यसम्बन्धाद् भूतकालेन संमील्य भूतकालो भवति।

अपि च, भारतीय परम्परामनुसरता पाणिनिना नैकत्र दिक्कालयार्युगपदेवोल्लेखः कृतः। तथा हि, **''दिग्देशकालेष्वस्तातिः।''**[3]

कालविषयकं व्यापकं विश्लेषणं महाभाष्यकर्त्रा पतञ्जलिना वाक्यपदीयप्रणेत्रा भर्तृहरिणा च विहितम्। कालविषये पातञ्जलमहाभाष्ये बहुविधान्युद्धरणानि प्राप्यन्ते। केषाञ्चन वैयाकरणानां मतेन क्रियैवास्ति कालः। यतो हि, सर्वेषामेव कालानां बोधस्तु क्रियाभिरेव भवति। तद्यथा,

नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानकाला व्यज्यन्ते।[4]

भूयोऽपरेषां मतेन कालो नास्ति क्रियाऽपितु तस्याः परिच्छेदक एवास्ति। क्रियाः क्रमपुरस्सरा भवन्ति। पुनश्च क्रमस्तु कालस्यैव धर्मः। अत एव कालशक्त्यैव सक्रमाः क्रिया गृह्यन्ते। यद्यपि नैकासां क्रियाणाम् उदयोऽन्तश्च सममेव भवतस्तथापि कतिपयाः क्रियाश्चिरेण सम्पद्यन्तेऽन्याश्च नातिचिरणैव। नाऽयं विलक्षणः परिच्छेदः कश्चिद् उपाधिभूतं सम्बन्धिनमतिरिच्य सम्भाव्यते। आश्रयभेदात् क्रियानां भेदो जायते। अत एव नास्ति क्रियाऽभिन्नव्यपदेशस्य हेतुः। अपि च, द्रव्यं कारकश्च तन्निमित्तौ न स्तः। अपितु विलक्षणपरिच्छेदस्य हेतुरस्ति कालः। क्रियाभेदकानां

---

१. काशिका, २/४/२१
२. ३/४/१
३. ५/३/२७
४. महाभाष्यम्, १/१/७०

परिच्छेदकत्वादेव कालस्य 'हायन' इत्यभिधानमस्ति। तथा हि, 'जहाति क्रिया इति हायनः' इति। अपि च, काशिकाकर्त्रा 'जिहीते भावान् इति हायनः' हरदत्तेनास्य व्याख्या प्रस्तुता

भावाः पदार्थाः तान् जिहीते गच्छति

परिच्छेदकत्वेन व्याप्नोतीत्यर्थः।[१]

महाभाष्ये प्राप्यते कालस्यान्याप्येका परिभाषा–

येन मूर्तीनाम् उपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुः।[२]

आशयोऽयं यज्जगति क्वचित् पदार्थानामुत्कर्षो दृश्यतेऽपरस्मिन् च समयेऽपकर्षः। परञ्च सर्व एते उत्कर्षापकर्षाः कालेनेव विरचिताः। पदार्थानाम् एभिरुत्कर्षापकर्षैरेव कालोऽनुमीयते। एवङ्खलु कालस्य प्रकृताऽपि परिभाषा तस्य क्रियाभेदकत्वं सूचयति। भर्तृहरिणोऽप्यभीष्टमेतत्। तद्यथा,

मूर्तीणां तेन भिन्नानामाचयापचयाः पृथक्।

लक्ष्यन्ते परिणामेन सर्वासां भेदयोगिना।[३]

पतञ्जलिः कालं प्रत्यक्षगम्यं न मनुते। तस्य मतमिदं यत्कालोऽनुमानेनैव बुध यते। यथा हसन–गमन–शयनादीनां क्रियाणां समूर्त्तं दर्शनं न भवति तथैव कालस्यापि चाक्षुषं दर्शनम् असम्भाव्यमेव। तथा हि,

सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्यः।[४]

महाभाष्ये कालस्य त्रयो भेदाः प्रतिपादिताः। तथा हि,

अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावाः।[५]

वर्तमानकालविषये उपदिष्टं यद् यत्र क्रियारम्भो नावसितः स वर्तमानकालोऽस्ति। तथा हि,

एष नाम न्याय्यो वर्तमानः कालः

यत्रारम्भोऽनपृक्तः।[६]

---

१. पदमञ्जरी, ३/१/१४८
२. महाभाष्यम्, २/२/५
३. कालसमुद्देशः, १३
४. महाभाष्यम्, ३/२/१२२
५. तत्रैव
६. तत्रैव, ३/२/१२३

आशयोऽयं यद् यदि कश्चन अध्ययनक्रियामारभते परञ्च तस्या अवसानात्पूर्वमतेव यद् श्वसनोच्छ्वसनादिक्रियाः सम्पद्यन्ते ता न खलु व्यवधानस्वरूपा अपितु नान्तरीयका एव। अत एव यावद् अध्ययनं नावस्यति तावदमुं वर्तमानकालेन निरूपयितुं शक्यते।

भूतकालविषये पतञ्जलेर्मतमिदं यद् यस्य वैयक्तिकी सत्ताऽवसिता स 'भूत'शब्देन व्यज्यते। परञ्च केषुचित् स्थलेषु क्रियाया एकदेशावसानेऽपि भूतकालस्य व्यवहारो भवति। तद्यथा,

एष न न्याय्यो भूतकालो यत्र किञ्चिदपवृक्तं दृश्यते।[1]

अपि च, ध्यातव्यं यद् आशंसायां प्रायो वर्तमानकालस्य वैकल्पिकः प्रयोगो दृश्यते। परञ्च पतञ्जलिर्ब्रूते–

आशंसा नाम भविष्यत्काला।[2]

एवङ्खलु पतञ्जलिना कालभेदःस्वीकृतः। द्रुता–मध्यमा–विलम्बितादिवृत्तीनामपि विषयेऽसौ कालभेदम् उल्लिखति–

"किं पुनः कारणं न सिध्यति। कालभेदात्।"[3] परन्तु भेदोऽयं सर्वथा औपाधिक एव। यतो हि, कालस्तु एको विभुर्नित्यश्चास्ति। तथा हि,

नित्ये हि कालनक्षत्रे।[4]

भर्तृहरिणा कालविषये बहु विचारितम्। वाक्यपदीयस्य प्रथम एव पद्ये तेन कालशक्त्या उल्लेखः कृतः। 'वाक्यकाण्ड' नाम्नि वाक्यपदीयस्य तृतीये परिच्छेदे १४४ पद्येषु 'कालसमुद्देशो' नाम प्रकरणमस्ति निबद्धम्। भर्तृहरेः वैशिष्ट्यमिदं यत् स स्वकीयविचाराणामुपस्थापनक्रमे पूर्ववर्त्तिविदुषाम् इतरेषाञ्च सम्प्रदायवादिनामपि मतान्युद्धरति। कालसमुद्देशस्य प्रथमायामेव कारिकायां तेन कालविषयकं न्यायवैशेषिकाणां मतमुल्लिखितम्। तथा हि,

व्यापारव्यतिरेकेण कालमेके प्रचक्षते।
नित्यमेकं विभु द्रव्यं परिमाणं क्रियावताम्।।[5]

रघुनाथशिरोमणिर्नैयायिकः सन्नपि कालस्य पृथगस्तित्वमस्वीकरोति। ईश्वरादतिरिच्य नास्ति कालस्य सत्ता–

१. तत्रैव, ३/२/१०२
२. तत्रैव, ३/३/१३२
३. तत्रैव, १/१/७०
४. तत्रैव, ४/२/३
५. कालसमुद्देशः, १

दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्।

तत् तत् निमित्तविशेषसमवधानवशाद्

ईश्वरादेव तत् तत् कार्यविशेषाणामुत्पत्तेः।[१]

परञ्च रघुनाथशिरोमणेरपि एतद् विचारबीजं वाक्यप्रदीये दृश्यते। तथा हि,

कालविच्छेदरूपेण तदेवैकमवस्थितम्।

सह्यपूर्वापरो भागः पररूपेण लक्ष्यते।।[२]

एवमेव सांख्यानुमतं कालस्वरूपमपि वाक्यपदीये संकेतितम्। सांख्यकारिकायाः त्रिंशत्तमस्य पद्यस्य व्याख्यायां तत्त्वकौमुद्यां वाचस्पतिर्मिश्रो लिखति–

कालश्च वैशेषिकाभिमते एको न अनागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादिभेदं प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाधयः येऽनागतादिव्यवहारहेतवः, कृतमन्तर्गडुना कालेनेति सांख्याचार्याः।[३]

अयमेव भावो भर्तृहरिणाऽपि प्रकटितः–

कलाभिः पृथगर्थामिः प्रविभक्तं स्वभावतः।

केचिद् बुद्ध्यनसंहारलक्षणं तं प्रचक्षते।।[४]

योगदर्शने परमाणुरेको यावत्पूर्वदेशं विहाय उत्तरदेशेन संयुक्तो भवति स कालः क्षण उच्यते क्षणानां निरन्तरः प्रवाहश्च क्रम इति। क्षणानां तत्क्रमाणाञ्च बौद्धिकः समाहारो मन्यते, तेषां वास्तविकसमाहारस्याशक्यत्वात्। स एव बौद्धिकः समाहारो मुहूर्त्त–अहोरात्रादिरूपेण ज्ञायते। वस्तुतः कालो वस्तुशून्योऽस्ति। स च बुद्धिविनिर्मितः शब्दज्ञानानुपाती। भ्रान्त्यैव स वस्तुरूपेण प्रतिभासते। सिद्धान्तममुं प्राह भर्तृहरिः–

बुद्ध्यवगहभेदाच्च व्यवहारात्मनि स्थितेः।

तावानेव क्षणः कालो युगमन्वन्तराणि वा।।[५]

अपि च, वाक्यपदीये कालविषयका इतरे सिद्धान्ताः सङ्केतिताः। यथा हि, कारणशक्तिरेव काल इति। अथवाऽऽत्मा पुरुषो जीव एव कालस्तस्य क्रमावभासाद् इत्यादि।

---

१. पदार्थतत्वनिरूपणम्, पृष्ठौ १,२

२. साधनसमुद्देशः, ४२

३. तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, ३३

४. कालसमुद्देशः, ५७

५. तत्रैव, ६६

कालः ब्रह्मणः कर्तृशक्तिरस्ति।

अयं विश्वात्मा प्रोक्तः। तथा हि,

काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते।[1]

भर्तृहरिः प्रतिपादयति यत्कालः ब्रह्मणः शब्दतत्त्वस्य वा सर्वाधिकी महत्त्वपूर्णा शक्तिर्विद्यते। वृत्तौ शक्तिरियं 'स्वातन्त्र्य' पदेनाभिहिता। तथा हि,

अत एव स्वातन्त्र्यशक्तिः काल इति वाक्यपदे सिद्धान्तितम्[2]**।**

यतो हि नास्ति शक्ति–शक्तिमतोर्मध्ये विभेदः कश्चन, अत एव कालो वस्तुतः ब्रह्मैव यः प्रत्येकं वस्तुनो जन्म–भाव–विनाशानां मूले वर्तते। नूनमेव प्रतिवस्तुनो विशिष्टं कारणं भवति। परञ्चैतानि विशिष्टकारणानि अपि कालाश्रितान्येव। अतश्च कालः प्रत्येकस्य वस्तुनः सहकारिकारणमस्ति। तथा हि,

सर्वेषां हि विकाराणां कारणान्तरेष्वपेक्षावतां प्रतिबद्धजन्मनामभ्यनुज्ञया सहकारिकारणं कालः।[3]

कालशक्त्याः सहकारिस्वरूपाः नैका अवान्तरशक्तयस्सन्ति। तथा हि, प्रतिबन्धशक्तिः, अभ्यनुज्ञाशक्तिः, क्रमशक्तिः, समवायशक्तिः, जराख्याशक्तिश्चेति। तत्र प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञा शक्ती महत्त्वपूर्णे स्तः। कालस्याभ्यनुज्ञाशक्त्यैव वस्तून्युत्पद्यन्ते विद्यन्ते च। पुनश्चास्य प्रतिबन्धशक्तिः समयात्पूर्वं वस्तुन उत्पत्तिं वारयति। अपि च, सञ्जाते समये वस्तुनः सत्ताऽनया निवार्यते।

वाक्यपदीये २/२२ इत्यस्य 'हरिवृत्तौ' भर्तृहरिर्ज्ञापयति यत्कालाख्या हि कर्तृशक्तिः कार्येष्वेव प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां पौर्वापर्यं प्रकल्पयति। अपि च, भर्तृहरिणा कालो नित्यः स्वीकृतः तद्यथा,

न नित्यः परमात्राभिः कालो भेदमिहार्हति[4]**।**

अत्र प्रश्न उदेति यत् कालस्य पौर्वापर्यं कथं सम्भाव्यम्, तस्य नित्यत्वात्। अत्र भर्तृहरिणा क्रमशक्तिः समाश्रिता। तथा हि,

"भेदभावनानुगतबुद्धीनामेकत्वेन व्यवहरताम् अनादिना मिथ्याभ्यासेन विहितसमवायानाम् एकस्यां बुद्धौ अव्यतिरिक्तासु अनपायोपायिनीषु सर्वमात्रासु

१. तत्रैव, १२
२. हेलाराजः, कालसमुद्देशः, १४
३. हरिवृत्तिः, वाक्यपदीयम्, १/३
४. वाक्यपदीयम् २/२४

क्रमाख्यायाः शक्तेः सामर्थ्यमविद्यमानं प्रकल्प्यते क्रमप्रसिद्धये।''[1]

आशयोऽयं यत्क्रमभेदादेव कालभेदा भवन्ति। वस्तुतस्तु त औपाधिका एव। यतो हि, कालोऽस्ति नित्यो विभुरेकश्च।

वाक्यपदीयस्य टीकाकर्त्रा हेलाराजेन एकादश कालभेदा विवेचिताः। भूतकालस्य पञ्चभेदानसावित्थमुल्लिखति– १. सामान्यभूतः २. अद्यतनभूतः ३. अनद्यतनभूतः ४. अद्यतनांनद्यतनभूतः ५. भविष्यति अध्यारोपितभूतः। एवमेव भविष्यत्कालस्य चतुर्भेदास्तेनोल्लिखिताः –

१. सामान्यं भविष्यत् २. अद्यतनं भविष्यत् ३. अनद्यतनं भविष्यत् ४. अद्यतनाद्यतनं भविष्यत्। एवमेव वर्तमानकालस्यापि भेदद्वयम्– १. मुख्यो वर्तमानः २. ''वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा''[2] इति सूत्रानुसारं भूतभविष्यतोर्विद्यमानो वर्तमानः।

हेलाराजेन भर्तृहरेः कालविषयकानि मतानि साररूपेणेत्थं समुपस्थापितानि–

''अत एवैतत् कालदर्शनम्। अविद्यायां संसारहेतुभूतायां प्रथमं भेदावभासमयो हि संसारः। भेदश्च देशकालाभ्याम्। तत्र च कालभेदो जगत्सृष्टेराद्यः। अक्रमा हि पश्यन्ती रूपा संवित् प्राणवृत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्ति इति कृतनिर्णयं वाक्यपदीये शब्दप्रभा यामस्माभिस्तत एवावगमनीयम्। निष्क्रमं हि ब्रह्मतत्त्वं विद्यामयमकालकलितमविद्यावशात् क्रमरूपोपग्रहेण यथायथं विवर्तत इति कालानुवेधात् पदार्थानां क्रमेण प्रत्यव भासोऽनादिसिद्धजीवात्मगतः,सर्वस्य भेदजातस्याविद्यामयत्वात्। कालेऽपि दर्शनभेदेन योऽयं विभागः सोऽप्यविद्याविजृंभित एव। आविर्भूतायां तु विद्यायां सर्वस्य भेदप्रपञ्चस्यावगमादयमप्यपैति। अतश्चात्र युक्तायुक्ततया विचारणं प्रयासमात्रफलमेव। व्यवहारे सर्वस्यैवाणत्यतया तत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेरित्यत्र तात्पर्यार्थः।''

कैयटः क्रियामेव कालत्वेन स्वीकारोति। अप्रथितपरिमाणवत्याः क्रियायाः परिच्छेदिका प्रसिद्धपरिमांणा क्रिया तेन कालरूपेण ज्ञापिता। तथा हि,

कालो हि प्रसिद्धपरिमाणा क्रिया अप्रसिद्धपरिमाणस्य क्रियान्तरस्य परिच्छेदिका[3]।

वैयाकरणेषु केचन वर्तमानकालस्य सत्तायां सन्दिहन्ते। परञ्च कैयटः कथयति यद् वर्तमानकालस्याभावाद् भूतभविष्यतोरपि अस्तित्वं न भविष्यति। तथा हि,

---

१. हरिवृत्तिः, वाक्यपदीयम् २/२७

२. ३/३/२३१

३. महाभाष्यप्रदीपः १/१/७०

''वर्तमानत्वाभावे च भूतभविष्यतोरप्यभावप्रसंगः, वर्तमानो हि भूतत्वं भविष्यत्वञ्च प्रतिपद्यते''[१]।

भूतविषयेऽसौ निगदति

यस्य स्वसत्ता व्यपवृक्ता तत्सर्वं भूतशब्देनोच्यते[२]।

यद्यपि भट्टोजिदीक्षितेन अतीताया रात्रेः पश्चार्धेन आगामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः प्रकल्पितः परञ्च कैयटो दिवसः सकलः अतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामिन्याश्च प्रथमो याम इत्यमुमेव अद्यतनभूतो मनुते। एवमेवानद्यतन भूतविषये तस्य विचारोऽयं यदिन्द्रियागोचरसाधनैः साधिताः सर्व एव क्रियावाचिनोऽर्था अनद्यतनभूतार्थकास्सन्ति। तथा हि,

इन्द्रियागोचरसाधितानद्यतनक्रिया वाचिनस्तु धातोर्लिट् प्रत्यय इति निर्णयः। तथा हः पपाचेत्याद्यपि भवति।[३]

काल–विषये नागेशभट्टस्य विचारा व्याकरणसम्प्रदाये किञ्चिदद्भुता एव सन्ति। असौ क्षणप्रवाहमेव कालो मनुते तेन कालस्य क्रियापरिच्छेदकताऽस्वीकृता। सोऽस्ति सांख्यमतेन प्रभावितः। तथा हि,

यद्वा शब्दतन्मात्रापरिणाम एव दिग्वत् कालः।[४]

नागेशः कालस्य नित्यत्वं विभुत्वम् एकत्वञ्चास्वीकरोति। तस्येयं मान्यता यद् यदि कालो नित्यः स्यात्तर्हि प्रवाहनित्यतयैव तथा च यद्येकः स्यात्तदा समूहरूपेणेव। कालस्यैकत्वाभावे तस्य तर्कोऽस्ति–

''वस्तुतस्तु एकत्वे तस्य कार्य वैचित्र्यनियामकत्वानुपपत्तिः''[५]

अपि च, नागेशो मनुते कालं प्रत्यक्षगम्यम्। तद्यथा,

क्षणसमूहरूपश्च स षडिन्द्रियवेद्यः।[६]

एवङ्खलु पश्यामो वयं यत्संस्कृतव्याकरणजगति कालविषयकं चिन्तनं वैदिक युगादेवारब्धम्। परञ्च विषयोऽयं सर्वप्रथमं पतञ्जलिना सविस्तरेण विवेचितः। तदनु भर्तृहरिरप्यमुं प्रामुख्येन प्रत्यपादयत्। तेन त्वत्रवस्तुनि तथा विचारितं यथा केनचिद् दर्शनशास्त्रमनीषिणा विचार्यते। तद्युगं यावत्प्रसिद्धिंगताः सर्वेऽपि कालसिद्धान्ताः भर्तृहरिणा सङ्केतिताः। परञ्चैतद्विषयकास्तस्य स्वकीया विचारास्तु काश्मीरशैवागमानां तुल्यास्सन्ति। वृषभदेव–पुण्यराज–हेलाराजादिभिः पुनर्वाक्य–पदीयाऽऽलोक एव विचारितम्। परञ्च ध्यातव्यं यत् सप्तदशशताब्दभवस्य नागेशभट्टस्य कालविषयकानि मतानि व्याकरणजगतः प्रथितपरम्पराविरुद्धान्येव सन्ति।

---

१. तत्रैव, ३/२/१२३
२. तत्रैव, २/२/८४
३. तत्रैव, ३/२/११५
४. मञ्जूषा, पृष्ठौ ८३६–४०
५. महाभाष्यप्रदीपोद्योतः २/२/५
६. मञ्जूषा, पृष्ठः ८४६

The Time-Magic (कालमाया)

Prof. Arindam Chakrabarti

1. As I *begin* to speak, gratefully and hesitantly, at the beginning of this seminar, I recall a beautiful story about beginnings.

Once upon a time, a young and inquisitive Prince lost his way while hunting in a forest. In the forest, inside two adjacent caves, he came across two strange sorts of persons. In the first cave, he found, a team of young boys with a lot of energy together chanting the following mantra: "zero, one, two, three, four, five, six". . . . . . and so on. Since they never stopped, the Prince, clever as he was, figured out that these boys were wanting to recite the names of all the natural numbers starting with zero. Little do these boys know, the Prince thought, that they will never come to the end of their task. But more surprise awaited him in the second cave where he saw a group of very ancient men with their beards and matted hair touching the ground. He could hear them muttering together under their breath, ". . . . Eight, seven, six, five, four, three, two, one, zero". Then, suddenly, they heaved a sigh of relief and stopped. Picking up courage, the Prince asked one of these old men, "Venerable Sir, what on earth have you been doing all these years sitting in this cave?" "We were counting the natural numbers, my boy!" -replied the sage, "we were counting them backwards and we have just finished with zero." "But when did you begin this counting? " asked the puzzled Prince. "Never, my child, we never began", was the answer. Such a story could have easily belonged to *Yogavāsiṣtha* but, in fact, it is inspired by a thought experiment invented by one of the greatest philosophers of this century, Ludwig Wittgenstein. It runs in the oral tradition and has never, as far as I know, been written down.

Keynote Address

Although beginninglessness (*anāditva*) is so hard to understand- The series of births and deaths of an individual soul, our bondage and ignorance and suffering, we are taught to believe in India, are all beginingless chains. However, we are required, not only by the scriptures, but by our essentially freedom-seeking nature to believe that this series, this state of bondage, this chain of pain will come to an end. Now, the expected finishing of a story which never started is a puzzle to the logician (*naiyāyika*) who admits only one kind of thing to be 'without a beginning but with an end' *(anādi sānta)* namely, prior absence. Yet, surely, my state of bondage is not a mere *prāgabhāva*. Even if we do not believe in the positive ignorance (*bhāvarūpi ajñāna*) of the nondualist Vedantin, our felt suffering is too positive to be reduced to just a bare anterior absence of joy.

I said beginninglessness is hard to understand because it appears that Saint Thomas Aquinas was right in insisting that if the starting point does not exist then its effects–the points in the middle–and their effects–, finally, the end point which is the world as it exists now, would not have existed. But the world surely exists now. Therefore its starting point must have existed. The question "When did the universe begin"? is a scientific (cosmological) question. But the question "why did it begin then and not earlier or later?" verges on being a philosophical question because the "why" in it could be either a demand for a causal explanation or a demand for rational or purposive explanation. But if the world or universe is the totality of all events that ever took place and all things that ever existed and all facts that ever obtained-then a causal explanation seems hardly possible. Nothing could have happened before the universe began to exist which could cause it to come to be, for if anything did that would be part of the universe. So the only sensible interpretation of the "Why" is teleological: to what purpose did the universe start to exist when it did? Even as a philosophical question, the demand for a purpose of the entire universe may turn out to be absurd, unless one can establish that the universe is a conscious being or a person which can have a purpose. Some schools of thought in India have indeed, identified the

universe with God or the divine person. But then as a perfect eternally full omnipotent being such a person cannot have a purpose in the ordinary sense of the term, in so far as a purpose entails a want or lack.Thus it is difficult to attach any clear sense to the alluring question "why did the universe begin ?

2. So, we can see, the moment we say "*ayam ārambhah*" (let's begin)- The concept of *ārambha* gets us into grave trouble. Śrīharṣa remarks, in the middle of his elaborate and intricate refutation of the reatity of time-"What is this so-called beginning?" (*ko'yam ārambho nāma?*) Not only the beginning of the universe but the beginning of any event in it is a puzzle. Bhartṛhari clarifies the logical issue in the following verse (in the chapter on Relation between word and object, where he distinguishes between primary being and secondary or verbal being):

"Birth means attaining one's own form..(But) if it (already) exists why should it be born?"[1]

So when, in common parlance, we say "The seed-ling is born"- we have to assume that a certain seed-ling which was not existent is attaining its own reality. So the attainment of own reality is something which can be meaningfully ascribed only to the nonexistent seedling. But can a nonexistent seedling do anything like attaining a property? Hence the word "seedling" in that sentence must stand for an object with mere verbal or secondary being (*aupacārikī sattā*). This seminar began just now. But imagine the organiser announcing a few minutes back "This Senimar will begin in a few minutes". What does here singular term "This seminar" stand for? It could not stand for the actual seminar which would still lie in the future. The absentees of all prior absences (*prāgabhāva-pratiyogī*) lie in the future. Thus we come to apprceiate why Heideggar remarks "The fundamental phenomenon of time is the future"[2]

---

1. V.P.III/3/43
2. *The Concept Of Time*, Blackwell 1992, p.14E

3. The future, which can be proved to be unreal by means of glib metaphysical arguments given by philosophers who, in recent times, have been called "PRESENTISTS" is much more real to our will and our aspiration because it lies ahead of us and we feel, rightly or wrongly, that we can, to some extent, control it. It is the felt playground of our freedom in an otherwise fettered existence in a past which we cannot help and a present which is constantly slipping away. Before talking about the link between the will and the future, let me give a sample of the kind of glib argument that is given (e.g. by C.D. Broad in Scientific Thought) about the future. The present, by definition, is that moment which does not have any successor, i.g, after which nothing has happened. The future is the successor of the present. Being the successor of the successorless, the future- like the son of a childless woman is nonexistent-and necessarily so. Now, why do I call this argrument glib? First, I don't fully understand its conclusion. Is it saying that time, or the temporally ordered series of events in the Universe has just now come to an end? That, while the argument is being given-we are living in the terminal moment of the history of the cosmos? Surely, no one can mean to say that, expecting to be heard and understood. Because the understanding of such a statement will naturally happen after the statement has been made, thereby proving it palpably false!!

Alternatively, is it being proved that the future object or event is not one of the object or events which have already existed or occurred upto now? That the future is not part of the past or present? In that case, it is something as trivial as saying that the future is not yet the case. To dress up this argument which has either a self refutation or a triviality as its conclusion, as an argument proving the impossiblity of the future is like arguing that all of us are children of barren mothers because there was a time when our mothers were all childless and we were all merely future entities.

The reality of the future, and hence the reality of time is most intuitively felt when we think of ourselves as agents or doers of voluntary actions. That we can not only wish to but actually do succeed to bring about such simple changes as changes in the relative positions of our own limbs: I can raise my hand after I try

to, close my eyes after I wish to, walk fast or walk slow, that I can wait (what a logically complex act waiting is!!-) and hope or rush and take risks- all of these facts make me quite unshakably confident that now is not the end of all times or even of an time. In fact when I face the project of perfection in knowledge & goodness- I am certain that I shall be there for ever: I have an infinite future ahead.

4. Going back to my original story, thus, we need not worry too much about those little boys who wish to name all the numbers: they can be conceived as going on and on into an endless future discharging their funless duty! But the counting which never began, yet came to an end really keeps bothering us. TheUpanishads, in harmony with the *Nāsadīya* hymn of *Ṛgveda* have therefore considered both the possibilities- "*asad eva agra āsīd*" (There was nonexistence in the beginning) & " *sad eva agra āsīt*".all) (There was only the Real in the beginning). But finally- The prophetic vision revealed the truth that only one Second-less sat-is that which was, is and will be.

Now, the moment we call the ultimate reality the stuff with which all living, non-living, good, bad, past, present and future objects are made like all earthen pots and pans are made of clay-The moment we call that "Second less"-we encourage a tendency to deny the reality of time, because time is responsible far all plurality. Counting(*kalanam*) is made possible by time- as Kant has demonstrated most persuasively. Hence the etymological link in Sanskrit between "*kāla*" and "*kalanam*".

If you could not go from one point or thing to a really distinct second point or thing, either in physical or mental movement, there would be no plurality and no time. One can try to imagine having two-ness or distinctiion only in space but in imagining as well as in perceiving two points of space as separate from one another- one has to do the imagining or perceiving of one after the imagining or perceiving of the other. Even simultaneity of two objectively contemporaneous elements can be witnessed only by a subjective succession of our apprehension of them. Thus plurality and temporality are inextricately bound with one another.

Now, philosophers from Śamkara to Srīharśa (or as some like to say, from Gaudapāda to Gauda-Brahmananda) tell us that the second is always metaphysically collapsible to the first, that any distinction or numerical duality is illusory and can be shown to be so. Under their analysis therefore time vanishes into mere appearance. The question "When, why and how did the universe begin, if at all it began"? falls away as unaskable.

5. There is a genuine ambivalence among philosophers, Veda-intepretors and mystics regarding the reality of time. In the tantras-mostly Shiva Nataraja is supposed to be dancing eternally. But there is no dance without rhythm, no rhythm without measured time-intervals. There is no time-interval without time. Therefore, if Shiva's dance is real, time must be real too.

Not only is God, thus, related to time in Hindu (*Śaiva*, *Śakta* or *Vaiṣṇava*) Theology- in Ramanuja's world-view time is one of the three types of material *(a-cit)* realities attributive to Nārāyaṇa who alone is substantial - the Gita shows us that Krishna confesses to being Time himself:

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः? [1]

Thus "*kalanam*" from which "*kāla*" is allegedly derived can also mean destroying or devouring. Using two English terms (which almost capture the entire glory of America these days)- we could call time the Great computer and the Great Devourer.

But if time is destroyer, it is the preserver also. Although human beings in all times and cultures loved to talk of time as a flowing river, actually time itself never flows or passes away. As the poet said-

"Time is not gone, it's we who are gone".

In a more analytical vein, Bhartṛhari says in his fascinating "*Kālasmuddeśa*" of Vākyapadīya :

1. Gita, 11\32

"Beings depart from time, after having placed in time their own form which intellect can receive. It is time which preserves that form of things gone by: because things transfer their powers to time."[1]

It is not entirely clear, inspite of Helaraja's Commentary, what exactly is meant by "Things transfer their powers to time". But it is clear that Bhartṛhari, in order to give (empirical?) objectivity to memory-knowledge, was taking the past as a real repository of the traces of things gone by. This 'archive'-conception of time may seem to be too metaphorical to be taken as a piece of metaphysics. But, then, much of first-rate metaphysics-like "The world is the body of God" or "knowledge is a search-light" etc.- is nothing but metaphor. What is intersting is that Bhartṛhari himself is classified as a non-dualist of a sort- a linguistic monist believing that only one undifferentiated word is the sole reality. Yet, as a philospher of Grammar he has to take tense-the most crucial modifier of the verb seriously. Thus, as a monist he has to take temporal distinctions as unreal, and as a grammarian he has to give a credible account of the distinction between "*bhavati*" "*bhaviṣyati*" and "*abhavat*"!

His arguments, counter arguments and final position regarding the logical structure of an action as it is described to be happenning now (Rama is going or cooking) are too complicated to be explained or criticised here. It seems, however, that unlike Śankara's Advaita Vedanta position-Bhartṛhari believes in the reality of change, and therefore of time. He does not call time illusory. But I might have misunderstood his position in this regard.

6. In early twentieth Century an idealist philosopher from Cambridge (England) called McTaggart gave a powerful argument to prove the unreality of time, or, to be more accurate, the logical incoherence of our temporal predicates. This argument, in a way anticipated by Śrīharśa[2] still exercises western philosophers of

---

1. K.S,39
2. (See page 14 of C.K. Raja's "Time in Indian & Western Traditions etc. "accesioned paper-23, I.I.A.S. Shimla)

time. This argument is long and complicated. It is quite irresponsible to try to give the "gist" of it here. Still, let me just remind myself that it has a few crucial premises only after establishing which the argument can work. The most important premises are, first, the distinction between the A series (past events, present events, near future events, remote future events etc.) and the B series (earlier and later events), second, the thesis that there would be no time without the A series (that no event could be, absolutely earlier than another, unless some events were past, relatively to others.) The final step is to show that the A series or the very logical strcuture of the A-series is riddled with contradictions. The same event not only was future, will be past and is present-but, on pain of infinite regress, we have to say that it is past, present and future all at once-which is a contradiction. Both Russel and Moore-realist defenders of the time of physics and the time of commonsense respectively- tried to refute Mctaggart's arguments which rest on the dubious assumption that the same propositions have to be sometimes true and sometimes false, if change has to be recognised as objectively real. I cannot confidently say because I don't know enough logic or physics who is right- McTaggart or Russel. But I shall try, in my own way, to tell you why thought about time has led profound thinkers to such contradictory views.

7. If we start thinking afresh about time we have to divide it up by the inexorable trident of Shiva: The past, the present and future. And since the only concrete existence we are in touch with is that of the present, we have to admit that the past being no more is nonexistent and the future being not yet is nonexistent too. If time has to be existent, our only hope is to find the present and cling on to its reality.

About the present, an argument given by an imagined (or real) opponent recorded in the Nyayasutras[1] seems to be quite convincing. (Notice the similarity with Newton's legendary preoccupation with the falling apple): The sutra is:

---

1. 2/1/39 to 42

"There is no present time because that which is falling has only two lines, the time during which it has fallen & the time during which it will fall".

The commentary by Vātsyāyana clarifies:

"As the fruit dropping off the branch on to the ground travels, at any particular point in its path the time connected to the segment above is the "fallen" (past) time and the time connected to the lower segment is the "yet to fall" (future) time. Since even at present, there is no third segment- in connection with what shall we be aware of the present time? Therefore present time does not exist."

I shall not reproduce the answer to this. For one thing, I am more convinced by this *pūrvapakṣa* than by the *Siddhānta* of this! If we have shown that neither past, nor future, nor present exist, then time cannot be real.

8. Still, here are two other arguments equally powerful to show that time cannot be unreal either. First, many of us surely beleve that time, change, pastness, presentness, are all very much real. If we are mistaken, then not only does the pointing out of our mistake, i.e. showing that time is unreal happen at a point of time, if we are convinced by the refutation, it will have to be true of us that previously we thought that time is real, and subsequently we think that time is unreal. But in that case, since these two opposite positions are adopted by us one after another- otherwise what did a metaphyician like McTaggart bring about? didn't he change our opinion?- ordering in time will be real. Thus if time's unreality is proved to us successfully, time must be real.

Secondly, any one who is trying to tell us, persuade us, or ask us to consider the possibility that time is unreal is a purposive agent. She at least wants us to understand her statement or request. As a communicator and purposive agent she has goals. To have goals is to believe that in future some thing will be brought about. Any one who sincerely tries to state that time is unreal, thus falls into an operational selfrefutation like someone telling "I can't hear anything

please tell me what to do"[1] Thus time cannot be called real, and time cannot be called unreal. Notice that this is not a flat out contradiction. The law of excluded middle is broken but not the law of contradiction. I did not prove between this section and the previous one that time is both real and unreal. I have proved that it is neither. Now, technically that which is neither real nor unreal, is known as a magical puzzling entity -a *Māyā*. We can't deny time- for it is a felt reality. We experience change which is unintelligible without time. We cannot accept it to be really real because it leads us into all sort of contradiction as noticed by McTaggart and the Nyāyasutra "opponent",. So we have to call it a twilight entity- *na sat nāsat*- an undescribable magic. Time is the ultimate magic for us.

9. Yet what is unique about human intellect is that nothing can curb its inherent tendency to overstep its limits. *Brahman* and *Māyā* have both been called. " indescribable" by the Advaitins, Brahman because of its " Beyond-words-and-mind-" nature and Maya because "it does not tolerate logical analysis, like you cannot illuminate darkness with sunlight" (सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरम्) Still books after books have been written about the exact definition-both *svarupa* and *taṭastha lakṣaṇa* of *Brahman* and the proofs for the existence of *Māyā!* By calling Time a magic or an eternally puzzling aspect of our experienced reality- I don't want to imply that philosophers, literary critics, aesthetes or physicists should stop researching into the nature of Time. Indeed, I wish to conclude this inaugural address by charting out eight possible issues or as we say in Nyāya-*Vipratipatti*'s (Questions to be disputed about) about Time which future research can systematically probe:

(i) What is Time? (कालस्य लक्षणं किम्?)

(ii) How do we know time? (कालस्य प्रमाणं किम्?)

(iii) Is time real? (कालः परमार्थतः सत्तावान् न वा?)

(iv) Is time a substance, relation, a universal, or a power?
(कालस्य कस्मिन् पदार्थे अन्तर्भावः द्रव्ये, सामान्ये, शक्तौ वा ?)

1. The example is fom Udayana's AtmatattvaViveka: मम कर्णे प्रविश्य गजो गर्जति भेषजमुच्यताम्.

(v) Is any thing outside time, e.g. God? (ननु कालस्य सर्वं वशे उत कालातीतः कश्चित् पदार्थोऽस्ति?)

(vi) Is time one or many? If it is one how can it be the cause of all differentiation?) (कालः एकः अनेको वा। एकत्वे सति कथं तस्य भेदप्रतीतिजनकत्वम्?)

(vii) What is the relation between objective time and fictional time in narratives, myths and poems? How is fictioned time related to the temporal structure of the reader's action of reading and interpreting?

(वास्तवकालेन समं काहिनीकाव्यनाटकादीनां
कल्पितकालस्य, कल्पितकालेन सह च
पठनबोधनक्रियाकालस्य कः सम्बन्धः?)

(viii) What is the kind of insight into the nature of Time that we can get by discussing the aesthetics of rhythms or beats in dance, music and instrumental music?

(नृत्यगीतवाद्यशास्त्रेषु तालतत्त्वचिन्तनावसरे
कालतत्त्वस्य कीदृशी चर्चा कृता, कर्तुं पार्यते वा?)

10. Now, let me end my ramblings and open the seminar with two verses (in my bad Sanskrit!), the first offered to my Gurudeva and the second to the Divine mother-

भूतता भव्यता शश्वद् भूयशो वर्तमानता।
यस्मिंश्चिद् भासमानास्तास्तस्मैचिद्गुरवेनमः।।
कालात्मिकां श्रुतिगिराऽभिहितामवाच्यां
पूर्वां परामखिलसत् चिदचित्स्वरूपाम्।
क्षिप्रां चिरामभिनवां जरतीं च बालाम्
वन्दे कठोरकरुणां जननीं करालाम्।।

Thank you all for your patience with me and for you participation in the seminar.

Time in Buddhism: Some Reflections

Dr. Hari Shankar Prasad

The concept of time is perhaps the most difficult problem of human thinking. It has always been a perennial source of mystery and has often troubled the heads of those who try to understand it. It is really surprising that a concept with which we are so intimately mixed up in our daily life gives rise to a tremendous number of insurmountable intricacies from all sides as soon as we start analysing it critically. This is because time is not a single concept in itself. Firstly, it has different aspects, such as philosophical, psychological, literary, historical, anthropological, religious, cultural, mystical, mathematical, physical, and biological. Secondly, it is related to many other concepts in some form or other, such as change, events, actions, causality, space, substance, matter, consciousness, motion, identity and difference, which in themselves are often vague. Thirdly, the concept of time raises a number of questions: What is the nature, status and direction of time? What is its origin and development? How can it be measured? Is there only one time or two, viz. eternal and phenomenal? Does time flow? What does its direction consist of? what are temporal orders, the past, present and future? Is a reversed direction of time possible? What are temporal priority, temporal posteriority, simultaneity, non-simultaneity, soonness, lateness, oldness, youngness, etc.? What is the duration of present? Is time finite or infinite? What is the relation between time, instants and interval? What is the difference between absolute time and clock time? What are timelessness, permanence, and temporality? What do mortal and immortal mean in respect of time? Is time linear, or cyclical, or spiral? Is time a cause or a cosmic power? And so on.

Even if we want to deal with time philosophically only, there are different approaches to it: realist, idealist, relativist and negativist. Thus, there are various views of time, such as , dynamic view of time, static view of time, substance view of time, modal view of time, relational view of time, absolute view of time, event view of time, subjective view of time, objective view of time, ego-centric view of time, linguo-centric view of time, nihilistic view of time, and so on. This shows how difficult it is to understand time in its entirety.

The Buddhist Presuppositions

In order to reconstruct the Buddhist concept/theory of time, the following Buddhist presuppositions, I think, must be taken into consideration. They, in general, constitute the foundations of any Buddhist philosophical view.

(1) The province of reality, knowledge and meaning is the spatio-temporal-causal system.

(2) Everything is impermanent, momentary and eventual (cf. *sarvam anityam, sarvaṃ ksanikam, yat sat tat ksanikam.)*

(3) Ultimate reality is dynamic and causally efficient(cf. *saktriūpā udādhitarangavat, arthakriyāsamartha*).

(4) Only awarenesses *(vijñāna, vijñapti*) are given as fundamental realities.

(5) Events are fundamental, continuants are derivatives (cf. *(svalaksana-sāmānyalaksana* dichotomy).

(6) *ahamkārodbhavāh skandhāh.*[1] (i.e. Empirical forms and symbols are created by ego. In other words, mind is subjective and creative in nature.)

(7) *yad yad yasya priyam tat tat tasya samācaret.*[2](i.e. In choosing the basic elements for philosophical or other activities whatever is the most appealing or illuminating to one is acted upon. In other words, in any theoretical construction or system building exercise, there is freedom of choice which also determines the line of sustained thinking.)

---

1. *Ratnāvalī, kā.* 29. Also quoted in *Prasannapadā* of Chandrakīrti (See *Madhyamakasāṣtra* of Nāgārjuna, ed. by P.L. Vaidya, Darbhanga, 1960, p.147.22).
2. *Prasannapadā*, p. 157.23.

(8) *hetupratyayāpekso bhāvānām utpādah*[1] (i.e. Empirical beings come into existence after having been dependent on causes and conditions which are nothing but hypostatizing concepts and judgements.)

(9) *yah pratyayair jāyati sa hy ajāto.*[2](i.e That empirical being which arises out of concepts has in reality not arisen.)

(10) *tat tat prāpya yad utpannam notpannam tat svabhāvatah.*[3] (i.e. That empirical being which arises having been dependent on this or that concept, judgement or world-view had not arisen essentially or ontologically, In other words, concept-generated beings lack its own nature.)

(11) *yad antarjñeyarūpam tu bahirvad avabhāsate*[4] (i.e. What is internal, mind-generated form, appears as external independent of mind. In other words, what is output by mind appears as input to mind.)

Buddhist Statements on Time and Temporality

Here I am reproducing a few statements on time and temporality as found in various Buddhist sources, on the basis of which I have tried to understand, through interpretation, the concept of time in Buddhism.

(1) *tam tam upādāya paññato kālo vohāramattako.*[5] (i.e. The concept of time arises on the basis of the experience of this or that event or change and has only conventional meaning. In other words, the experience of successive events and change gives rise to the notion of time. This means time is a derived notion.)

(2) *aītassa ca. . . addhānassa avijjā mūlam*[6]. (i.e. The root cause of the notion of three time-epochs, past, present and future, is ignorance.)

(3) *adhvānah kāritrena vyavasthitāh.*[7](i.e. The distinction of the three time-epochs is established by the causal efficiency of a thing which is ever dynamic.)

---

1. *Ibid.*, p. 2. 17.
2. *Ibid.*, p. 218.5.
3. *Ibid.*, p.3. 23.
4. *Alambanaparīksā, kā.*6 (See A.K. Chatterjee: *Readings on Yogācāra Buddhism*, Varanasi, 1970, p. 40).
5. *Atthasālinī*, ed. by P.V. Barpat and R.D. Vadekar, Poona, 1942, p. 49.14.
6. *Milindapañha*, ed. D.D. Shastri, Varanasi, 1979, p. 39.22-23.
7. *Abhidharmakośa* of Vasubandhu, V, 26c.

(4) *uparatakāritram atītam. aprāptakāritram anāgatam, pratyutpannakāritram vartamānam iti.*[1] (i.e. When a thing has discharged its causal efficiency it is past time, when it is in the process of discharging it, it is present time, and when it is yet to discharge it, it is future time.)

(5) *sarvakālam tad abhāvāt.*[2] (i.e. There is an absence of time and temporality on the cessation of the successively changing states of consciousness.)

(6) *hetuphalaprabandhapravrttau kāla iti prajñaptih*[3] (i.e. Time is merely a metaphorical designation or a concept denoting the ever changing cause-effect continuum.)

How is the Concept of Time Formed?

The concept of time has always been associated with the human experience of the changing phenomena, so much so that time is conceived as the single most co-ordinating factor of all experiences. This gives rise to a belief in its metaphysical reality, a reality which seems to be constitutive of our experiences and thinking. The source of the experience of time is basically the all round change and periodicity in the external world. Thus, the experience of the concomitance of time as a co-ordinating factor with all other experiences and thinking was the main reason of reckoning time in various ways, namely, as cosmic principle, universal cause, God, and as the originator, sustainer and destroyer of all creatures and the universe.

In brief, our experience of time and its construction as a metaphysical reality are based on the following facts:

(1) Our experience of the phenomena of change and events.

(2) Experience of temporal relations, such as precedence, succession, and simultaneity.

(3) Retention of immediately past experiences in the present, and the protention of the present into the future, which are tacitly grounded in our psychological states of remembering, perceiving,

---

1. *Abhidharmakosabhāsya-vyākhyā* of Yasomitra in *Abhidharmakośa*, ed. by D.D. Shasrtri, Varanasi, 1970-73, 4 vols., p. 809. 15-16.
2. *Trimśikā* of Vasubandhu, kā. 25.
3. *Abhidharmasamuccaya* of Asanga, ed. by Pralhad Pradhan, Santiniketan, 1950, p. 11.21.

and anticipating. The latter are the causes of tensed expressions referring to past, present, and future respectively.

(4) Our experience of the extended events or processes, which is the basis of our experience of specious/extended/perceptual present, and which is supported by our ordinary linguistic usage of temporal expressions.

(5) The implicit or inescapably egocentric tendency of our mind to conceive of time in a way an unanalytical mind acts.

(6) Our habit of seeing the world of objects and events in a spatio-temporal-causal network.

Concluding Observations

On the basis of my philosophical inquiry into the concept of time in general and the Buddhist concept of time in the light of the above textual passages in particular, I now propose to make the following observations:

(1) Time is a derived notion from the experience of change.

(2) Time is not a substance; it lacks any metaphysical/ ontological status.

(3) Past, present, and future represent three psychological states of a person, i.e. remembering, perceiving, and anticipating. They are neither the characteristics of time nor real in themselves.

(4) The sociology of our language, which contains tensed structure or pattern, determines the pattern of our thought about time and temporality. Use of time as a substantive and its metaphysical/ontological proofs through the interpretation of temporal properties like pastness, presentness, and futurity or the temporal characteristics of being earlier, later and simultaneous are the results of mind's fictional constructive activities.

(6) The above three psychological facts of remembering, perceiving and anticipating do not constitute any further fact like 'time'.

(7) The successive order of our awarnesses create false belief in the flow of time.

(8) Experience of the flow of time must not be taken as grasping of or knowing time as a substantive reality.

(9) The flow of time cannot be understood on any spatial model like the flow-of-river, and there is no other model to understand the flow and continuity of time.

(10) Time is outside the spatio-temporal-causal network; hence unreal even empirically.

(11) But the myths of time do reveal the nature of worldly reality.

Concept Of Time According To Sanskrit Grammar

Prof. Satya Pal Narang

Sanskrit grammarians not only recognized the change in connection with the morphological, phonological and other linguistic changes including the social, historical, geographical and regional but fully recognized and utilized various concepts of time responsible for various categories of language analysis. The earlier grammarians including Pāṇini used various doctrines of time in the phonetics, syntactical categories and conjugational system. Later grammarians like Bhartṛhari followed by the commentators of the *Mahābhāṣya* and independent writers on the philosophy of grammar regularly developed it as a concept which may or may not be applicable to be grammatical categories. The doctrine of brevity *(lāghava--ardhamātrālaghavena putrotsavam manyante vaiyākaraṇāḥ)* was a concept arising out of the need of brevity in terms of both time and space in memory.

Prior to Pāṇini, the concept of the accent depended mainly on the doctrine of time particularly the time taken for pronunciation with stress although it was mixed up with physical activities at a later stage. *Ekaśruti* depended upon the skip of time after the Udātta. Kaśika explains it as *bhedatirodhānam* on Pāṇini (*sutrānāmudattādinamavibhāgo bhedatirodhānamekaśrutiḥ*. The absolute contraction (*paraḥ saṁnikarṣaḥ*) of ūdātta, *Anudātta* and *Svarita* explained as *Aikaśrutyam* in Aśvalayana Śrautasūtra (1.2.19) is also based on the time of pronunciation although its commentator ārāyaṇa explains it in terms of the physical effort (*atyantas-aṁnikarṣeṇa asajātiyaprayatnavyavadhānena yaduccāraṇam*)[1]

---

1. Böhtlingk and Roth: Sanskrit Wörterbuch. Reprint, Delhi. They have used which Ms. is not known (See Aikaśruti). Also see Ekaś ruti where Kātyāyana Śrautasūtra is quoted from manuscript '*ta ekaśruti santatamanubrūyāt.*'

The Mahābhāṣya on Pāṇiṇi (1.2.33) *Ekaśrutidūrātsambuddhau* and (1.2.35) *uccaistarām vā vaṣaṭkāraḥ* indicates that it is neither Udātta nor Anudātta. The Pāṇinian sūtra (1.2.39) *svaritātsaṁhitāyāmanudāttānām* and (1.2.40) *Udāttasvaritaparasya sannataraḥ* indicate to the fact that their existence is only `as if, which amounts to the least unit ot time in pronunciation and has no full phonemic value.

The pronunciation of the vowels was, perhaps, borrowed from the birds in general and cock in particular in the Pāṇinian sūtra *ūkālochhrasvadīrghaplutāḥ.* (1.2.27) whose corroborative evidence is available in the verse attributed to Pāṇini (VIII.2.84) *dūrādhūte ca* etc. also indicate to the concept of existence of various units of time in pronunciation. The pronunication of the half 'e' and 'o' by *Sātyamugri* and *Rāṇāyanīyas* of the Sāmaveda also indicates to the fact that their concept was based on the time of pronunciation which was accepted by Patañjali and not by Pāṇini. In the pronuciation of *Īśe* and *Īśai*, which is infact a phonetic-cum-semantic change, shows the historical sense of Sanskrit grammarians with regards to the change of the sounds in due course of time, viz. from Vedic to classical Sanskrit. Use of the units fast, medium and prolonged viz. *druta*, *madhyama* and *vilambita* which was later accepted as equivalent to *hrasva*, *dīrgha* and *pluta* is based on the time of pronunciation. Earlier, in the ṛc, *hrasva*, *dīrgha* and *pluta* were regarded as dependent over time. Later, Patañjali clearly explained them as dependent of time (*kālabhedāt*). The nomenclature of *svara* and *vyañjana* also indicate to the fact that they were based on single or self unit of time (*svara*) and the double or conjunct unit of time (*vyañjana*). Its transmission to musical notes as units of time was later accepted by Śārṅgadeva in Saṅgītaratnākara.

The concept of *Guṇa* and *Vṛddhi* although originally might have been based on the concept of 'multiplicity' of the Vaiśeṣikas, was later changed to the time of pronunciation where the relation of a small unit was established to the bigger homophonemic letter. Its indivisibility and divisibility gave birth to the idea of the original (*atadbhāvita*) and constituted (*tadbhāvita*). The opinion of Upavarṣa quoted in Jaiminīya sūtra (I.1.5) accepts individual units

of the letters of pronunciation (i.e. single unit of time) as real whereas Śaṅkara quoting Upavarṣa in the Brahmasūtra (I.3.28.), perhaps, thinks the word in totality as the single unit.

Sandhi is also just like the contraction of time where two units of time change to a prolonged time which is definitely different from the time taken by two independent words particularly in external *Sandhi.* This indepentent unit of time is preserved in external *sandhi* e.g. in *pluta* and *pragṛhya* types of *sandhi.*

In Nirukta: Although time had been a problem of the grammarians in the context of the real time and the linguistic time particularly in conjugational time, it appears that the philosophers had been dealing with this problem in the system of etymology where it was introduced to determine the meaning of the Vedic system. Nirukta has quoted Vārṣyāyaṇi[1] in whose opinion there are six stages of existence (*bhāvavikārāḥ*), viz. *asti, jāyate* etc. It is very strange that the same concept has been refuted by Śaṅkara in his commentary of the Brahmasūtra[2] who tries to explain the time and its stages on the basis of his source book i. e. the Upaniṣad and not on the basis of the popular concept as propounded by Nirukta. Bṛhaddevatā[3] of Śaunaka which is mainly a work of Vedic mythology also accepts six stages of existence: of course, without quoting Vārsyāyaṇi.

Time as an independent unit was not only to a realist grammarian like Bhartṛhari whose main source was Āgama but also acceptable to Pāṇini whose main function is the analysis of the words on the basis of various doctrines including the time.

In Pāṇini:- Besides other doctrine in theory, in practice, Pāṇini appears to be of the opinion that there is only one common unit which transforms itself to other units. It is only for the purpose

---

1. Nirukta of Yāska I.3. *ṣaḍbhāvavikārā ithasma bhagvān Vārṣyāyṇiḥ*
2. Śaṅkara on the Brahmasūtra I.3.28. . . . . '*Varṇāh eva tu na śabdāḥ*' *iti bhagvānupavarṣaḥ.*
3. Bṛhaddevatā. Ed. A.A. Macdonell. 1904. II. 121 . . . . *Bhāvapradhānamākhyātam ṣaḍvikārāḥ bhavanti te/ janmāstittvampariṇāmo vṛddhirhānam vināśanam//*

and to the extent of analysis and not for the philosophical speculations. The single l indicates *lat, liṭ, luṭ* etc. It applies to the suffixes also where ti>tu>tat> etc. Interpreting it in terms of time, a conclusion may be drawn that Pāṇini thinks that the time entity is one and transforms itself to other units of time including the past *(ti>t)*, present *(ti>ti)* and future *(ti>ti)*.

Explaining in terms of modern concept of tense and mood which Pāṇini does not think as separate at the analysis level, he opines that they are equal at the surface of structure irrespective of the fact that they are different at the surface of real time. That is why ti, a suffix of present changes to *tu* or *tat*. At the surface of analysis *bhāvitā* and *bhūyāt*, the expressive of modern tense and mood are same to Pāṇini.

Case:- Pāṇini and later grammarians definitely use the doctrine of time and space for the determination of a few cases viz. *Karma* and *Karaṇa* with regards to continuity of the action *(atyantasaṁyoge)*[1] and attainment of the fruit *(apavarga)*[2].

Compound:- Pāṇini has accepted the entity of time in relation to resultant (*Pariṇāmin*) where the resultant takes the change in due course of time whereas the small units of time like *saṁvatsara, māsa* etc. also do exist.[3]

Secondary Suffix:- Recurrence of particular set or unit of time also indicates to the concept of its divisibility. Pāṇini has recognized the time factor vis-a-vis the external worldly factors for deformities in the body particularly the diseases (in IV.2.81)[4]

---

1. Aṣṭādhyāyī of (=Pāṇini) Pāṇini. II.3.5 *Kālādhvanoratyantasaṁyoge*
2. Ibid. II.3.6 apavarge
3. Pānini II.2.5 *Kālāh pariṇāminā* and III.3.137 *kālavibhāge cānahorārāṇām*
4. Pāṇini IV.2.81 *Kālaprayojanādroge*. The examples *dvītīyako jvaraḥ* and *caturthakaḥ jvaraḥ* which is in contrast to the counterexample not applicable to the time viz. *viṣapuṣpakaḥ jvaraḥ*

Various seasons and activities thereof or the cosmetics[1] therein have also been recognized which show indirectly that Paṇini recognizes the worldly concept of change of time and not like later philosophers of Sanskrit grammar, an empirical reality.

Conjugational System:- In the Nirukta, *Ākhyāta* has been used as a link of the previous and future events which is continuing in the works on the dhātus e.g. *Mādhavīyadhātuvṛtti*[2] which explains it as *kramajanmapūrvāparībhūta*. Perhaps, it is the concept which Pāṇini inherited from his predecessors. He has himself accepted the division of time and has accepted its units viz. *ahan* and *rātri* (day and night) as its parts: of course, in relation to other expressions. But Patañjali gave it a philosophical touch and accepts both Kāla and Nakṣatras as permanent entity. He regards it as indivisible, permanent, one and all-pervading. He defines time as responsible for the growth and decay of all the objects on Pāṇini II.2.5. But Nāgeśa does not accept this view. He holds that time is neither one, nor eternal and all pervading and accepts it to be a stream of moments.[3]

Pāṇini has definitely made a distinction of the time past yesterday, remote and today. Today running time is a different entity and accepts future as different. Present is expressed by laṭ but substitutes *śatr* and *śānac* are also expressive of the same. e.g. *Devadattaḥ pacati or pacantam/pacamānam devadattam paśya* amount to the same present meaning.[4]

---

1. Ibid. IV.3.43ff. *Kālāt sādhupuṣpyatpacyamāneṣu*
2. Mādhavīyadhātuvṛtti. Ed. Dwarkadas Śāstrī, Varanasi. 1964, pp 4-5: . . . . . kramajanma=pūrvāparībhūta. . . . .
3. Satyavrat Śāstrī: Conception of time in the Mahābhāṣya: Proceedings of All India Oriental Conference, Aligarh, 1966,pp36 ff. The details are found in the Mahābhāṣya on Pāṇini IV.2.3 *nitye hi kālanaksatre;* Pāṇini II.2.2 and Vākyapadīya: Kālasamuddeśa. For the disagreement of Nāgeśa: See Laghumañjūṣā Chowkhamba Edn. p. 848.
4. Pāṇini III.2.123 *Vartamāne laṭ;* Pāṇini III.2.124 laṭaḥ śatṛśānacau . . . . . . e.g. *pacantam/pacamānam devadattam paśya*

Simultaneous activities in present are possible: of course one is expressed by the suffix *śānac* and the other by the *ti*. For example *śayānaḥ bhuñjate yavanaḥ* and *adhīyāno vasati.*[1] It is not necessary that this suffix is used in the sense of continuity. It may be used for the status of the body or mind. For example *adhyāyin vyākaraṇam* means studying grammar without difficulty but in *kṛcchreṇa adhīte* (when it is used in conjunction with the word *kṛcchra*), it means 'studies with difficulty'[2].

Interchangeability Of Past and Present– is possible at a number of places including a dialogue (*Pṛṣṭaprativacane*) e.g. *akārṣīḥ kaṭam Devadatta? nanu karomi bhoḥ*. It is used, of course, with the word *nanu.*[3] With the long-lasting objects, past, present and future tense is used. For example: *tasthuḥ parvatāḥ, tiṣṭhanti parvatāḥ and sthāsyanti parvatāḥ.*[4] Such expressions are actually used in the Epic language e.g. in the Rāmāyaṇa "*yāvat sthasyanti girayaḥ . . .*" Patañjali explains them in relation to the relativity and *context of various phases of time*. He has also quoted the opinion of another scholar in whose opinion 'there is no present time' and quoted a śloka also to prove his thesis.[5] According to another doctrine, 'the time does exist but its movements cannot be observed just like the speed of the Sun which can be experienced

---

1. Pāṇini III.2.126 *lakṣaṇahetvoḥ kriyāyāḥ lakṣaṇa:* e.g. *śayāno bhuñjate yavanaḥ hetu: e. g. adhīyāno vasati*
2. Pāṇini III.2.130 and 2.131
3. Pāṇini III.2.120 *nanau pṛṣṭaprativacane e.g. akārsīḥ kaṭam devadatta?. . . . . nanu karomi bhoḥ/*
4. On Pāṇini III.2.123, Mahābhāṣya Vā.5 *Santi ca kālavibhāgāḥ. . . . .iha ca bhūtabhaviṣyavartanānānām rājñām yāh kriyāstatis ṭateradhikaraṇam/ iha yāvat tisṭhanti parvatāh iti //. . . . samprati ye rājānaseṇāsteṣām yāḥ kriyāstāsu vartamānāsu . . . . . yāḥ kriyāstasu bhaviṣyantīsu. . . . . . tasthuḥ. . . . iha hi ye rājāno babhūvustṣṇām yāḥ kriyāstāsu bhūtāsu*
5. *Apara āha--nāsti vartamānaḥ kāla iti/ api cātra ślokānudāharanti:*
   na vartate cakraṃisurna pātyate
   na syandante sritaḥ sāgarāya/
   kūṭasthoyam loko no viceṣṭitāsti
   yo hyevam paśyati sopyanandhaḥ//

only through intuition by those who know all the three phases of time viz. past, present and future. It can be known only through inference because its activities are very minute.[1]

Kaiyata on Mahābhāṣya on Pāṇini III.2.123 has quoted the Vākyapadīya of Bhartṛhari to prove that although in the action, there appears to be an intervention but yet there is a consistency with which the action becomes unified. All the units of time which appear to be a real unit, when taken in united form, become one and the part and parcel of the whole of the action.[2]. . . . Further in another verse on Vārttika 5 on Pāṇini III.2.122 from Vākyapadīya, he thinks thart this distinction of entities is only in relation to the other existent entities and not in itself. Hence the mountain in relation to other entities -say river is different but in its own self it is a single unit.[3] In the context of time a mountain may be different from another mountain which has been destroyed by the stream of river but its existence in relation to the old existence shall not be different. This opinionof Bhartṛhari may be a stand opposite to the *Kṣaṇikavādin* Buddhist who might not be accepting the existence of an entitiy in relation to its past entity.

---

1. Ibid. *apara āha <asti vartamānaḥ kāla it> api cātra ślokamudāharanti:-*
   bisasya bāla iva dahyamāno
   na lakṣyate vikṛtiḥ sannipāte/
   astīti tāṁ vedayante tribhāvāḥ
   sūkṣmo hi bhāvenumitena gamyaḥ
2. On Pāṇini *III.2.123 Kaiyyaṭa quotes the Vākyapadīya* III.9.82-84
   vyāvadhānamivopaiti nivṛtta iva drśyate/
   kriyāsamūho bhujyādirantarālapravṛttibhiḥ/
   na ca vicchinnarūpopi sovirānnivartate/
   sarvaiva hi kriyānyeva saṅkīrṇevopalbhyate//
   tadantarāladṛṣtā vā sarvaivāvayavakriyā
   sādṛsyaāt sati bhede tu tadaṅgatvena gṛhyate//
3. On Vā. 5 of Pāṇini III.2.122, Vākyapadīya III.9.80-81 is quoted:
   parato bhidyate sarvamātmā tu na vikalpate/
   Parvatādisthistasmāt pararūpeṇa bhidyate//
   prasiddhabhedā vyāpāraḥ virūpāvayavakriyāḥ/
   sāhacryeṇa bhidyante sarūpāvayavakriyāḥ//

Another opinion quoted is that the present time does not exist. To Limaye, it is a Buddhist view.[1]

Patañjali explained this present and past interchange psychologically. In his opinion, first there is mental action, the desire to do something. This mental action leads to physical action. Both these actions, mental and physical, prior and posterior, ending with the production of the fruit are unified by the mind which has the power of piercing things together and presented as one action. The use of the present tense in *gacchati* is therefore perfectly justified.[2]

It is also due to psychological category that the events of remote antiquity are expressed in the present in the expression like *kaṁsam ghātayati* or *balim bandhayati* or the events of present are being expressed by the past perfect e.g. *jaghāna kaṁsaṁ kila Vāsudevaḥ.*[3]

For the same entities existing for a longer time and existing as yet, the expression with past perfect and general past are being used regularly by the poets like Bāṇa by the words like āsīt and asti simultaneously in practice.

Similar expressions for past and present are found in the expressions like ihādhīmahe or *iha vasāmaḥ* or *Puṣyamitram Yājayāmaḥ.*[4]

---

1. Limaye V.P.: Studies on the Mahābhāṣya. Hoshiarpur, 1974, p.212
2. Satyavrat: loc cit p 366
3. Patañjali on Pāṇini III.2.115 *parokṣe ca lokavijñāte prayokturdarś anaviṣaye laṅ vaktavyaḥ. . . . . manasā saṁyuktāni indriyāṇi upalabdhau kāraṇāni bhavanti. . . . . .manaso sānnidhyāt.* Limaye: op.cit. p.399 has quoted an untraced verse:
   Ekoyam śaktibhedena bhāvātmā pravibhajyate/
   buddhivṛttyanukāreṇa bahudhā jñānavādibhiḥ//
4. Vā.1 on Pāṇini III.2.123 *pravṛttasyāvirāme śiṣyā bhavantyavartamānatvāt. . . . paravṛttasyāvirāme śāsitavyā bhavantī. . .. . kim punaḥ kāraṇam na sidhyati avartamānatvāt*

Already in the Vedic language, perfect, aorist and imperfect had been mixed up.[1] Kātyāyana has recorded this interchangeability in the classical Sanskrit also in the sense not known in the memory of time (*atyantāpahnave*)[2] For example: *kalingeṣvavātsīḥ* and *nāhaṁ kaliṅgān jagāma*.

Bhartṛhari accepts the unity in perfect and present time which is responsible for the presentation of the antiquity in modernity and hence the suffix of present. In his opinion this operation is only psychological which is profusely quoted by later rhetoricians in the context of the Rasa theory. Naiyāyikas have categorized *Kāla* and *Deśa* together with the psychological category (buddhi).[3]

According to Patañjali, if the *parokṣa* event is known popularly in the world, there will be the use of aorist instead of perfect e.g. *aruṇadyavanaḥ sāketam* and *aruṇadyavano madhyamikām*. The main reason as stated by Patañjali is the *manas* which comes in the closest affinity of the object going to be described.[4]

Limaye has quoted a verse which propounds that one existence is divided due to the difference of *śakti*. It is the opinion of intellectual (*jñāna-vādins*) who divide it in accordance with the shape (*vṛtti*) of the *Buddhi*.[5]

---

1. Pāṇini III.4.6. *Chandasi luṅlaṅliṭaḥ*
2. *atyantāpahnave liḍvaktavyaḥ*
3. Jhalkikar, Bhimacharya: Nyāyakośa, p. 88 sīmā ca trividhā/ kālakṛtā, deś akṛtā, buddhikṛtā ca/
   Also see Vaiyākaraṇa siddāntamañjūṣā Ed. Shukla, Kalikaprasad, Varanasi, 1977
   atrāpāyo viśleṣaḥ sambandhabhāvaḥ/ sa ca na vāstavasambandhapūrvakaḥ buddhiparikalpitasambandhapūrvakopi. . . . . . .
   Also see Paramalaghumañjūṣā Ed. with Saralā, Darbhanga, 1983 vibhāgaś ca na sambandhipūrvako vāstava evam kintu buddhiparikalpitasambandhapūrvako buddhiparikalpitopayasrayanaiva bhaye pañcamīsā dhanāt.
4. Patañjali on Pāṇini III.2.115 *parokṣe ca lokavijñāte. See: Note 23*
5. Limaye: loc. cit. p. 399

Past events can be expressed with future suffix as well. When the words expressive of *ūrdhva muhūrta* are used which govern the sense of the future, present and future may be used. For example: *ūrdhvaṁ muhūrtāt/ upari muhūrtasya upādhyāyaścedāgacchet/ āgacchati/āgamiṣyati /āgantā.* The suffix of the future may express the meaning of the mood also.[1]

A few annexed words like *purā, ha, sma, nanu* etc. also change the sense because they themselves have a particular meaning of time and hence twist the sense of the sentence in reference to time.[2]

A difference comes in the use of the tense and the mood in relation with the principal and subordinate clauses subject to the intervention of a few words like *yadi.*[3]

When the action refers to the general past excluding the current day and the expression implying recollection co-occurs or not with yad, future is optionally introduced if the speaker needs another expression for completion of the sense *(sākāṅkṣa).* For example: *smarasi devadatta! kāśmīreṣu vatsyāmaḥ/ avatsyām. . . . odanam bhokṣyāmaḥ/abhuñjamahi.*[4]

A future desire attracts present tense also in a few conditions which exhibits the interchangeability of present and future which is a psychological time. It is used with the declensional forms of *kiṁ* as well. The examples may be *yo bhoktum dadāti/dāsyati/dātā* etc. The reason may be: since the desire is that of the future in present, it is expressed by both present and future.[5]

---

1. Pāṇini III. 3.15 Vā. paridevane śvastani ghavisyadarthe vaktavya
2. Pāṇini III.3.9. III.3.5, III. 2. 120, III.3.4, III.2.116, III.2.116, 118, 120,121 etc.
3. Pāṇini III.3.8 *lodarthalakṣaṇe ca*
   For Example:
   upādhyāyaś cedāgacchati/āgamiṣyati/āgantā ath tvam vyākaraṇam adhīṣva
   But when it is intervened by the word yadi (na yadi), it will be an exception to abhijñāvacana lṛṭ. For example: *abhijānāsi kṛṣṇa yadvane abhuñjmahi* which becomes optional in sākāṅkṣa.
4. Pāṇini III.2.114 *vibhāṣā sākāṇkṣe*
5. Pāṇini III.3.6 *kimvṛtte lipsāyām*
   and III.3.7 *lipsyamānasiddhau ca*

Tumun Suffix:- When the present action is being done to do an action in the future, the suffix *tumun* and *ṇvul* are added to the action of the future. For example: *Bhoktum vrajati/bhojako vrajati.*[1]

Tvā Suffix:- The *tvā* suffix is introduced when the two verbs are related to the same agent whose one action precedes that of the other. This rule applies even when there are more than two verbs having the same agent. For example: *bhuktvā vrajati or snatvā, pītvā, bhuktvā vrajati.*[2]

Psychological Time:- As stated previously Bhartṛhari has accepted psychological category of time whose impact has been on the Rasa theory profusely, Patañjali had already accepted the prior and later stages of the action in mind by which the actual action operates. At another place, he has accepted the mind as a reason for the change in present and past. It is only due to mental reason that *Mathurā* is segregated from *Srughna* or black from white.

An interesting psychological category was thought upon by Sanṣkrit grammatical philosophers particularly Bhartṛhari that the full analysis and semantic phenomenon depends upon the mind which first transforms the reality to mental reality and subsequently to sound or linguistic reality. This applies to all the activities in action and phonetics as well.

According to Patañjali, it is the action of the mind when we say that there will be a well. . . . . there is a well and there was a well. Kātyāyana has raised an objection here with regards to the present in respect of the things that have been ever-lasting, for, there is no division of time in that case.[3] When there is a disturbance of the mind *(cittavikṣepa)*, it leads to the interchange in language also where the present becomes perfect due to forgetfulness in sleep.[4]

---

1. Pāṇini III.3.10 *tumunṇvulau kriyāyāṁ kriyārthāyām*
2. Pāṇini III.4.21 *samānakartṛkayoḥ pūrvakāle.* Kāśikā: *dvivacanamatantram.*
3. Pāṇini III.3.138 *Mahābhāṣya thereon*
4. *Uttamapuruṣe cittavikṣepādina parokṣyam e.g. suptoham kila vilalāpa*

Sphoṭa:- As stated in the context of pronunciation that this category depends upon the time of articulation and hence various phonetic *sphoṭas* like *pada, varṇa etc.* also arise out of the time. The constituent of *gauḥ* viz. g, a, and ḥ have a regular chain of articulation and are involved in time. The unity of the word or sentence is only at philosophical and higher stage of concept but at the grammatical concept of analysis they are the real units of time. They have, of course, relation to the psychological unity and hence unity of time in mind. But they are absolutely different at a semantic level. Definitely according to earlier grammarians including Pāṇini, there was no category of *sphoṭa* but the analysis of grammar was a reality.

Upavarṣa was very correct that '*Varṇa* is the only reality and not the *śabda*'.

Kālaśakti:- Bhartṛhari has accepted *kālaśakti* as an instrumental power of the *Śabdabrahma* which has the *kalās* as the constituents ultimately responsible for the six divisions of the action. This concept is, perhaps, borrowed from the units of the moon from the Pāñcarātra Āgamas which were unknown to the analysis tradition of grammarians including Pāṇini. According to *svopajñavṛtti*, Kāla is independent and all the dependent powers are corporated in it which follow its ingredients *(kālaśaktivṛtti)*. Then the Universal time which enters each and every unit of action through its power makes it apparent like a chain. Although all the worldly deformities have a relativity to a number of instruments but time has always a co-instrumentation with them. The commentary Ambākartrī of Raghunatha Sarma has also accepted the unity and perpetuity of time which is interwoven in all the deformities like the thread in the rod of the scale (*tulā*). Bhartṛhari has dealt with many of its philosophical speculations most of which are borrowed from the

Mahābhāṣya of Patañjali in the *Kāla-samuddeśa* of the Vākyapadīya.[1]

We may conclude that the time was accepted as an instrument for the pronunciation of the letter by the earliest grammarians which was accepted as regular entity by Pāṇini in various categories of the grammar including the psychological. Pāṇini was very conscious of the time which was regularly being changed in expression of various tenses in loka including its variations in the Vedic language. He tried to establish their *interse* relationship particularly its changeability with the moods. The words annexed which were equally responsible for the change of the tense were collected from various sources which are known or unknown and were responsible for the usages in the writings by classical Sanskrit poets. Kātyāyana also contributed in various fields including the collection of the words and semantics of the usages. Patañjali fully collected them; analysed them in various philosophical perspectives including its perpetual aspect and psychological aspect which became a strong foundation for the philosophical aspects of Bhartṛhari.

---

39. Vākyapadīya I.3

adhyāhitakalāṁ yasya kālaśaktimupāś ritāḥ/
janmādayo vikārāḥ ṣaḍ bhāvabhedasya yonayaḥ//

Svopajñavṛtti: *kālākhyena hi svātantryeṇa sarvāḥ paratantrāḥ śaktayaḥ samāviṣṭāḥ kālaśaktivṛttimanupatati/ tataśca pratibhāvaṁ vaiśvarūpyasya pratibandhābhyanujñabhyām śaktyavacchedena kramavāvabhāsopagamo lakṣyate/ sarveṣāṁ hivikārāṇām karaṇāntareṣvapyekṣāvatāṁ pratibandhajanmanorabhyanujñyā sahakārikāṇaṁ kālaḥ*

See AmbākartrT: *kalātra bhedaḥ kalateranekārthatvāt. . . . . kālaśaktiścaikatvānnityatvāt sarvāsu tattatkāraṇaśaktiṣu janmavatīṣu samanugateti tatatkāraṇaśaktikṛtāvacchedena tasya kramavadbhirmātrārūpaiḥ kartṛśaktibhiḥ pravibhajyamānā vikāramātrāgatam bhedarūpam tatrādhyāropayati tulāsūtra iva saṁyogidravyāntaragurutva pratibandhakāle daṇḍalekhāvacchedaṁ karmavāniva kālaśakteravabhāsopagamo lakṣyate.*

However, Bhartṛhari with the help of various traditions of grammar, philosophy and the Āgamas treated the whole issue in a different mood which was profusely quoted by various scholars of various disciplines in various contexts. Its full exposition is available in the *pratyabhijñā* tradition of Kashmir which requires further investigation.

The later grammarians including the philosophers of Sanskrit grammar and commentators of the Mahābhāṣya interpreied it in the light of various systems of Indian philosophy including the Nyāya and Buddhism.

The Nature of Time:

A Physicist's Point Of View

Dr. S.K.Muthu

I am grateful to the organizers of this symposium for giving me the oportunity to present a paper on 'The Nature of Time' from a physicist's point of view. It requires great skills of communication to expound the rather subtle and sophisticated ideas involved without using mathematical equations and the jargon of modern physics. Nevertheless, I shall try to convey the essential flavour of the main arguments to the best of my ability.

1. Introductory Remarks: We human beings inhabit a small planet, ninety million miles away from a rather undistinguished star, which in turn is a member of a galaxy itself in no way extraordinary. The sun is our natural timekeeper. Its passage across the meridian defines noon. The division of the mean solar day gives us the familiar units of time viz. second, minute, and hour. But what is Time? This question has intrigued mankind for millenia. St. Augustine, the well-known theologian and philosopher, who lived in the fourth and fifth centuries, expressed his perplexity in the famous statement: "What then is time? If no one asks me, I know; but if I wish to explain it to one who asks, I know not." Any verbal definition of time suffers from circularity in that the definition contains temporal terms. For example, Aristotle's defnition of 'time' as the "number of movement in respect of the before and after", contains the temporal expressions 'movement', 'before' and 'after'. More recently, around the turn of the century, J.W. Dunne wrote an interesting book entitled 'An experiment with time'. He compared time to a river and wondered whether its rate of flow could be measured.

Before proceeding further, I will outline the sequence which will be followed in this paper. I will begin by briefly discussing the remarkable developments which have taken place during the last four hundred years in the techniques of measuring time. Then I Will turn to the ontological status of time in classical physics as envisaged by Newton and his contemporaries. A major revolution in our thinking was brought about by Albert Einstein who gave his special Theory of relativity in 1905 and the general theory in 1915. I will elaborate on some of the far-reaching consequences of these theories which have a bearing on the nature of time.

An important feature of Newton's dynamics is that it makes no distinction between the future and the past. In fact, almost all laws of physics, at the microscopic level, have this property. However, unless the direction of time is introduced, evolutionary processes cannot be described in any nontrivial way. How do we define the arrow of time? This porfound question will be touched upon towards the end of this paper.

II. Measurement Of Time :Time is measured using any periodic motion which can be continuously repeated with sufficient accuracy. In 1581, Galileo made the major scientific discovery that the time of swing of a pendulum is essentially constant and depends on the length of the pendulum. This idea led to the construction of the pendulum clock. Electrical clocks and quartz clocks came next. Variation in temperature and other conditions limit the accuracy of these clocks. A major breakthrough came in 1948 with the construction of the first atomic clock based on the periodic motion of the amonia molecule. Next an atomic clock was built using the caesium atom. The accuracy of this clock is so high that it would lose or gain just one second over a period of 300 years. The development of lasers and masers has pushed up this accuracy to one second in 30,000 years. In his recent Krishnan Memorial lecture delivered at the N.P.L. New Delhi, Prof. N.F. Ramsey of Harvard University, talked about the possibility of achieving an accuracy of Is in a billion year, in the very near future. This mind-boggling precision has profound implications for physical theories. It is not my intention to go into the details. However, the fact that

time intervals can be measured much more precisely than lengths is itself an interesting subject of investigation. In fact, the standard metre is now defined in terms of time.

III. Time In Classical Physics: Our present ideas about the motion of bodies are mainly due to Newton. He stated his three laws of motion in his monumental work, Principia Mathematica, published in 1687. In the present context we are only concerned with his second law which relates acceleration to force. The law states that when a force acts on a body it will accelerate, or change its speed, at a rate that is proportional to the force. For example, the acceleration is twice as great if the force is doubled without going into the details, which would involve some mathematical calculations, we note the following two points.

(i) In Newton's scheme of things time is absolte. He believed that one could unambiguously measure the interval of time between two events and that this time would be the same whoever measured it, provided they used a good clock. Time was completely separated from and independent of space. Newton wrote in the Principia, "Absolute, true and mathematical time, of itself, and from its own nature, flows equally without relation to anything external." He believed in a space composed of points and a time composed of instants, which had an existence independent of the bodies and events that occupied them.

(ii) Acceleration is rate of change of speed and speed itself is distance travelled per unit time. So acceleration involves the square of time. Mathematicians call it the second derivative of position with respect to time. Since tt appears as a square, reversing its sense, or changing t-to-t, does not change Newton's equation. In other words, motion forward and backward in time are both possible, there being no distinction between past and future.

(iv) **Time In Special Relativity**: Newton's ideas held complete sway for about two centuries. Slowly clouds started to gather on the horizon and very soon it became clear that a drastic revision of the basic concepts could no longer be delayed. Without going into the details, let us concentrate only on those points which are relevant to the present theme.

James Clerk Maxwell, the great British physicist of the nineteenth century, had achieved a remarkable synthesis of eletricity and magnetism in his electromagnetic theory. According to this theory light is an electromagnetic wave. All experiments, including the famous Michelson-Morley experiment, confirmed Maxwell's prediction that the speed of light in Vacuum is a universal constant, being the same for all observers, whether in motion or at rest with respect to one another. It is easy to show that it is impossible to reconcile this with the Newtonian notion of the absolute nature of time.

The way out of the impasse was shown by Einstein with his revolutionary special theory of relativity. The fundamental postulate of his theory is that the laws of physics should be the same for all moving observers, no matter, what their speed. This simple idea, which took a long time to be accepted, has many far reaching consequences. Two of these require special mention in the present context:

(i) We have to abandon the idea of an absolute or universal time. Two events which may appear to be simultaneous to one person need not be so for another person. The reason why we don't see these effects in everyday life is that they become important only at speeds very close to the velocity of light (300,000km/s). In fact Einstein's theory makes the intriguing prediction that time appears to slow down for a moving observer. This is known as *time-dilatation*. A dramatic manifestation of this is the so-called *twin paradox*. Suppose we consider two identical twins A and B. A voyages into sapce at very high speed in a space-ship while B stays at home. On returning home, A will find himself to be younger than B. These predictions have been verified by a number of laboratory experiments. So the lesson is: if you want to slow down the process of ageing, keep running fast!

(ii) Since both space and time intervals are not absolute in Einstein's theory, they are amalgamated into one unit called space-time. As Minkowski said, "Space of itself and time of itself will sink into mere shadows, and only a kind of union between them shall survive."

(V) General Theory of Relativity And Time : Einstein did not take effects of gravity into account while developing his special theory of relativity. It took him ten years to include these effects and the general theory appeared in 1915. What are the implications of this theory for time? To discuss this we move to the year 1929. In that year, the American astronomer, Edwin Hubble, made the landmark observation that wherever one looks distant galaxies are moving rapidly away from us at a speed which is directly proportional to their distance from us. This discovery, which implies that the universe is not static, but is expanding, is one of the great intellectual revolutions of the 20th century. If we extrapolate to the distant past we reach the inescapable conclustion that the Universe must have been very hot and very dense about 20 billion years ago. This is called the hot Big Bang model of the Universe. This picture is confirmed by solving Einstein's equations of general relativity and by several astronomical observations.

The fact that time has a beginning raises several questions. Does it prove divine intervention or the existence of God? will the Universe continue to expand for ever or will it recollapse, signifying the end of time? I will comment on these difficult questions briefly at the end.

(VI) Arrow Of Time : We have seen earlier that the laws of physics do not distinguish between the past and the future. Einstein's opinion on this question is contained in a moving letter which he wrote to the widow and son of his lifelong friend, Michele Besso, who died only a few months earlier than Einstein in 1955. Einstein wrote: "Michele has preceded me a little in leaving this strange world. This is not important . For us who are convinced physicists, the distinction between past, present and future is only an illusion, however persistent."

It is obvious to us that the world around us seems to exhibit a marked asymmetry with respect to the direction of time; very many sequences of events can occur in one order, but not in the reverse order. We have already seen that the Universe is expanding. This simple observation tells us that there is a direction of time from the

cosmological past into the cosmological future. It is called the cosmological arrow of time. Similarly, heat always flows from a hotter object to a cooler one, never from the cooler to the hotter. Imagine a cup of water falling from a table and breaking into pieces. It is impossible for the broken pieces to suddenly reassemble and reappear on the table. As Prof. H remarks, " If it were so, crockery manufacturers would go out of business".

These facts are explained by using what Arthur Eddington, a great British astronomer, called the Supreme Law of Nature. It is known in physics as the second law of thermodynamics. Stated rather crudely, the law says that when things change, there is natural tendency for them to become more disordered. An intact cup on the table is a state of high order, but a broken cup on the floor is a disordered state. The increase of disorder-technically called entropy, with time gives us another arrow of time, called the thermodynamic arrow of time. One can show by general arguments that the cosmological arrow and the thermodynamic arrow point in the same direction.

Concluding Remarks

We have seen how our views about the nature of time have evolved over the years. We have been forced to abandon the notion of Absolute Time. Time has become a personal concept, depending on each persons frame of reference.

The big bang singularity seems to disturb a large number of physicists. The well-known theoretical physicist Stephen Hawking has tried to combine Einstein's general theory with quantum mechanics, another revolutionary theory of the twentieth century. In some cases this singular behaviour seems to disappear. However, this question is far from settled. Very close to the big bang all known laws of physics break down.

The problem of irreversibility still remains. Why are almost all laws reversible at the microscopic level and yet we have a direction of time at the macroscopic level. Prof. Ilya Poigogine, who received the 1977 Nobel Prize in chemistry, has made some

revolutionary suggestions in this regard. According to him the ultimate reality is not merely in being but becoming, echoing the ideas of Henri Bergson. Time, according to Prigogine should be given a much more exalted status in physics. From being just a humble number, or parameter, it should be treated as what mathematical physicists call an 'operator'. This change might prove to be as far-reaching as the theory of relativity and quantum mechanics.

I will end by paraphrasing the words of Steven Weinberg: 'The effort to understand the nature of time is one of the very few things that lifts human life little above the level of farce, and gives it some of the grace of tragedy.'

References

1. R.M. Gale, 'The Language of Time' (Routledge, Kegan Paul, 1968)
2. S.W. Hawking, 'A Brief History of Time' (Bantam, 1988,
3. R. Resnick, 'Introduction to Special Relativity (Wiley Eastern, 1972).
4. S. Weinberg, 'The first three minutes' (Fontana, 1978)
5. John Gribbin 'The Arrow of Time' Science Today, December 1987.
6. Jagdish Mehra (Ed.) The Physicist's conception of Nature (D. Reidel Publ. co. 1973)
7. I. Prigogine 'From Being to Becoming' (W.H. Freeman and Co. 1980)

Concept of Time In Mathematics

Prof. Ajit Iqbal Singh

काल की अवधारणा से होता रहा इरा पर,
गणित–कणों का प्रादुर्भाव,
मनन मीमांसा से,
वे पुष्टि पाते हैं।
प्रमाणों से ज्यों ही होते,
वे परिफुल्ल,
अनुपम आलोकित
'अकाल' हो जाते हैं।

The way of Archimedes (225 B.C.)

Formal definitions and procedures evolve from the investigation of practical problems.

A common functional relationship occurs when one quantity is proportional to another. For instance the distance covered when we move at a uniform speed is proportional to the time spent. On the other hand the uniform speed at which we make a trip from one place to another is inversely propotional to the time spent.

In actual practice we cannot move at uniform speed. How do we measure the speed of an object at an instant in time. Problems of motion were of central concern to Zeno and other philosophers as early as the fifth century B.C. The modern approach made famous by Isasc Newton's (1642-1727) calculus in 17th century is to stop looking for a simple notion of speed at an instant and instead to look at speed over small intervals containing the instant and then see what they approach. G. W. Leibniz (1646-1716)

developed the same kind of theory independently. The word calculus comes from calculi meaning pebbles and calculation as we know the word, best learnt while boy/girl is playing on the seashore divesting himself now and then finding a smoother pebble or a prettier shell than ordinary whilst the great ocean of truth lays undiscorved for him. These are in fact the words said by Newton for himself! And the discoverer of calculus when asked what use is Calculus, had the answer, " what use is a baby? Wait and see," Yes every theory has its time of acceptance. But the propounder of the theory does not wait for that - he goes on to his next observation! And we are all familiar with Newton's laws of motion and Newton's law of gravitation. The latter tells that earth has attraction and the power to pull back even if some thing tries to go up! It is periodic recurrence that makes poetry pleasing. So I recite my poem which is based on mythology that the earth is the daughter of the sun and goes on to the development of the theory of waves.

Waves

A wave went down
And soared high again,
"Newton your law of gravitation
Is a lost game! "
The sun watched its daughter's defeat
And spread
All its grandeur
In red.
Beauty is the cause
of many a pause !
And this weakness
of the wave
landed it
In Earth's enclave.

J.B. Fourier studied wave forms periodic in space and gave us the theory of representation of a periodic function f(x), say, of period 2l as a linear combination of all those cosine and sine

functions which have the same period, say as

$$\frac{1}{2} a_o + \sum_{n=1}^{\infty} A_n \cos \frac{n \pi x}{l} + \sum_{n=1}^{\infty} b_n \sin \frac{\pi n}{l}$$

Fourier Series and Fourier Transforms are effective tools for study of many practical problems and on the other hand have led to the development of Abstract Harmonic Analysis which is my area of research together with Operator Algebras which have blossomed partly and qualitatively due to Quantum Mechanics the study of light wave packets to begin with.

Recently wavelet expansions have developed which are better suited when we wish to localize the behaviour of f (x) on a small subinterval of R. We only need to take a finite number of coefficients here in contrast to involvement of all coefficients in the case of Fourier Series.

Y.Meyer, I. Danbechies, A. Cohen, R.S. Strichastz, M.Frazier, P. Janardhan, Raphael, D. Rosenblum and C. Chui are some of the names I can mention in this regard for the benefit of those who are interested in enjoying the distinctive form of waves!

How right was Newton in similifying calculus with a Baby. Only a baby has the capacity to outdo his father and mother and I emphasise my fervent hope that this trend will continue with time.

Another characteristic of mathematics is to devote time now for saving of time in future. It is like a stitch in time saves nine. We observe that assimilation and unification of some thoughts can give a formula or technique. We grasp it and then apply it to different examples. We can sit pretty or develop new things and formula or technique will do the rest. That is the idea behind computers!. My teacher Dr. T.P. imagined a mathemetician as a lazy genius who does not want to do same thing over and over again but is genuis enough to think of a way! But that goes even in our quote for next nine! So we've to develop new and modify old theories.

Longsightedness is important to foresee its use but intense observation is equally important to develop mathematics. Quality of short time utilized goes a long way for a long time!

Concept Of Time In Ancient Legal Texts

Dr. Lalita Kuppuswami

Law suits, according to Nārada have three causes from which they proceed namely carnal desire, wrath and greed[1]. Since these qualities are inherent in human beings, wrong doings are natural. Harmony and peace in society are maintained by fair justice only. In Justice, Time has an invaluable role to play, so much so it is said, justice delayed is justice denied. To put in the words of Śukra and Kātyāyana,

'न कालहरणं कार्यं राज्ञा साधनदर्शने।
महान् दोषो भवेद् कालाद् धर्मव्यापत्तिलक्षणः।
दद्याद्देशानुरूपं तु कालं साधनदर्शने।
उपाधिं वा समीक्ष्यैव दैवराजकृतं सदा।[2]

In spite of the complexity of the problems, political turmoil and vested interests, according to legal codes, the philosophy of time has remained the same even now relevant much more in Judiciary as revealed in ancient legal texts.

The study how time factor contributed speed to justice, a sense of direction, effective management, accountability and responsibility with humane touches in ancient Judiciary itself projects a refreshing profile.

The king was the fountain head, not of Dharma but of justice which is the expression of Dharma. It was the duty of the king, not merely to maintain law and order and see that the weak were not tyrannised over by or deprived of their rights by the strong, not merely to determine the respective rights among the litigants but also to ensure that each person followed his or her Dharma.

---

1. Nārada, 1/20.
2. Śukra, 4/5/167, 209
   Kātyāyana, 3/39

A complaint based on suspicion[1] or when the culprit was not known was entertained for further investigation and king's officers could start cases, even when there was no private complaints, for preventing and punishing crimes and misdemeanours.

Time was the essence. The regular courts met once or twice every day, usually in the mornings and evenings. The court' house was looked upon as a sacred place and it was open to all. Trials were always held in public. The Śukraniti[2] states "Neither the king nor the members of the judicial assembly should even try cases in private".

The work of the regular courts was greatly lightened by arbitration . All cases except those concerning violent crimes could be decided by arbitration by bodies duly authorised by the king[3].

Realisation of debt by the credit or by coercive methods, without reference to court was permitted. But there was a limit to self-help and excesses by the creditor was penalised.

Local courts dealt with petty thefts, civil suits, suits of a trifling nature, like dispute relating to the boundaries of lands situated within the village. Their powers were limited to the transfer of the possession of property and the inflicting of small fines.Decisions in these courts were given in accordance with the opinion of the majority of honest persons composing the courts.

The idea of a system of local courts for the disposal of cases was firmly rooted in the minds of the people. The Śukranīti says 'They are the best judges of the merits of a case who live in the place where the accused person resides, and where the subject matter of the dispute has arisen. Bṛhaspati goes so far as to recommend that, for persons roaming in the forest, court should be held in the forest, for warriors in the camp and for merchants in the caravan.

---

1. Smṛti Candrika, 11/17
2. Sukranīti, IV/4-6
3. Śukranīti IV/, Sec. 5

The different departments looked after various affairs of the state. Heirarchy system was there for crosschecking the efficient functioning of the departments. Further more, the ethical qualifi cations and moral responsibility pinned on the officers and judges accounted for the timely fruition of policies and laws. Time was an integral part of any policy.[1]

'सहायाः साधनापाया विभागो देशकालयोः।
विपत्तेश्च प्रतीकारो मन्त्रः पञ्चाङ्ग उंच्यते।।[2]
'यथा बीजाऽङ्कुरः सूक्ष्मः परिपुष्टोऽभिरक्षितः
काले फलाय भवति साधु तद्वदियं प्रजा।।[3]

Just as delicate and sprouting grain seeds well protected and nourished yield harvest in due space time so also do the subjects.

प्रजा दुष्टदण्डात् साधु रक्षिता

The backbone of the state was the revenue. The principles on which the taxation was based were sound and reasonable and the aim was public welfare. Budget was made monthwise as well as annually. Due proportions were assorted to defence, schemes of public utility and salaries of officials, personal expenses of the king and of royal house hold[3]. According to Sukra[4], there was to be enough money in the treasury to cover public expenses for twenty years.

In times of financial stress, a ruler was held justified in raising money by means other than those laid down in the Śastras. For instance, he might demand one-fourth or even one- third of the share of the produce of the soil, as well as a higher percentage of the other kinds of produce. But law givers warn in these words "Such expedients should be resorted to only once, and never more than once."[5]

---

1. Kāmandakīya Nītisāra 12/36
2. Ibid 6/14
3. Śukranīti, ch. 1, 316-317
4. Ibid IV/ 2-13
   Kauṭilya, Book III., ch.1
5. Śukra, IV/2/10
   Kautilya, Book V, ch.2

Regarding defence and conquest, the proper times for commencing and for storming a siege, timely application of foreign policy of four capital *Upāyas* and six *Guñas* in maintaining the alliances and balance of power was always emphasised.

Time concept in personal laws is interesting. A girl who attained 12 years and a boy 16 years of age became adults in the eyes of ancient law. The age of majority laid down in Indian Majority Act, 1876 is 18 years which is made applicable in matters of marriage, divorce and adoption and other legal matters. According to Śankha, a child less than 5 years was not entitled to punishment and according to modern Indian Penal code, Seven year old is not considered a criminal. A girl attaining 12 years could marry in those days. Now the Child Marriage Restraint Act 1978 has changed the marriageable age to 21 years in case of male and 18 years in case of female.

After attaining maturity, a girl could wait for three years and take a husband of equal caste of her choice.[1]

According to ancient legal texts, a barren wife might be superseded in the eighth year, she whose children died in the tenth year, she who bore daughters only in the eleventh year of her marriage. The husband of a harsh tongued wife could remarry without the least delay[2].

Narada has fixed 7 years time for waiting for her husband who had gone abroad to return after which a woman could remarry.[3] A wife could remarry without any delay in the following conditions.

'पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे क्लीबेऽथ पतिते मृते।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।[4]

1. Vasiṣṭha, XVII/67-69
   Viṣṇu, XXIV/4
   Manu, IX/90
2. Manu, IX/8
3. Nārada, XII/ 98-101
4. Ibid, XII/ 96

Regarding adoption it is stated that the child is not to be adopted after the fifth year and should be before *upanayana*.

'असंस्कृतोऽपि पंचमादूर्ध्वं न ग्राह्यः कालभावेन पुत्रत्वानुपपत्तेः ।[1]

Agriculture was in ancient days as it still is the most important industry of India. Credit has always been an essential condition of agriculture. The practice of lending money at interest *(kusīda)* was there[2]. It was permitted only to *Vaisyas*. Bṛhaspati.[3]mentions 6 kinds of interest *kāyika* (bodily), *kālika* (periodical) *cakravṛddhi* (compound interest) *kārita* (stipulated interest) *Sikha vṛddhi* (hair increase) and *bhogalabha* (interest by enjoyment). Almost all the law books insist on a limitation of the rate of interest. According to Gautama and Vasistha the iegal rate of interest is 1¼ per month or 15% per annum. Manu and Kautilya endorse this rate where, however, no security was given or in case where no periodical interest was taken or the loan was returned in kind, higher rate of interest may be demanded. Law-books also lay down that interest should cease after a time, and that no debtor should ever be compelled to pay more than the double amount of capital in case of gold and three times in case of grain[4]. Interest is not recovered in some cases.[5] Kātyāyana gives some special rules. If a person borrows an article for sale and goes to another country without paying its price, no interest is to be charged up to the lapse of 3 months. So also if anyone after borrwoing money goes abroad without returning it, there will be no interest up to a period of one year.

Similarly in cases of pledges, when the period of pledge expires the debtor has to redeem it by satisfying the creditor's debt together with the interest that might have accrued on the principal, otherwise the creditor becomes the owner of the pledge. But a period of ten days as a period of grace is usually to be allowed to the debtor to enable him to redeem the pledge.[6]

---

1. Datta Mīmāmsā, IV/ 41-43
2. Gautama, X/6
3. Brh., XI/ 55
4. Vasistha, 11/44
5. Nārada, V/36
6. Bṛhaspati, V/49

Possession for a long time is proof for ownership. Title to an immovable porperty accompanied by possession gives rise to ownership of the property. But it is controversial and exceptions are there. 'Delay defeats equity' this maxim is well enunciated in law books. Yājnyavalkya[1] states if the true owner allows a person to possess his property for a considerably long time he loses his right over it.

He prescribes the period as 20 years in the case of immovable property and 10 years for the movables. But Narada,[2] without specifying the nature of the property lays down a period of 10 years for adverse possession to mature into ownership. But Narada also states that a pledge, boundary, property of a child, an open deposit, an *upanidhi* deposit, women and what belongs to the king or to a learned *Brahmaña*, none of these is lost to the owner even by adverse possession.[3] According to Bṛhaspati 'one whose possession has been continuous from the time of occupation and has not been interrupted at least for a period of 30 years cannot be deprived such property,

'अध्यासनात्समारभ्य भुक्तिर्यस्याविघातिनी।

त्रिंशद्वर्षाण्यविच्छिन्नं तस्य तां न विचालयेत्।।[4]

If some one cultivates waste land and its true owner is unable to pay to the tillter for his labour, the latter gets the produce of the field less 1/8th part for 8 years. After that period, the land so cultivated belongs to the owner of the field.[5]

Similarly a presumption of genuineness arises generally in the case of documents twenty years old.

· वर्षाणि विशंतिर्यावत्तत्पत्रं दोषवर्जितम्।

---

1. Yajña, 2/24
2. Narada, V/79
3. Ibid, V/81
4. Brḥ, V/ 28
5. Katya., VV/762-67

It may be noted that under Indian Evidence Act, the period is 30 years and documents 30 years old are termed 'ancient documents'.

When a purchase is made from an unauthorised person at a very low price or at an improper time, then it is considered as a fradulent purchase and the purchase was liable under law. A purchase to be legitimate has to be made in open market, on market day or hour.[1]

When the buyer believes that he has made a bad bargain, he can return the article to the seller immediately after the sale and in the condition in which it was received by him[2] *(Krayavikrayānusāya)* and the buyer gets back the full amount for the article. If the commodity is returned on the second or third day of purchase, the purchaser gets back the price paid by him with proportionate reduction. Nārada states that after the third day the article cannot be returned at all. This rule is not applicable where the goods sold require careful examination. Both Nārada and Kātāyana lay down that in certain cases such as milchcattle, beast of burden, precious stones, pearls, bipeds etc. the rule of immediate return is not applicable and the purchaser should be given time from 3 days to a week for a careful examination of the merchandise.

The buyer should take delivery of the articles sold to him as the sale is complete. If he fails to do so the vendor can reseind the sale and then sell the article to another buyer.[3]

There is a method of fixing the price of an article.[4] What is sold for improper price can be annulled at any time.[5]

Land sale would be effective only after the approval of the kinsman, neighbours and respectable persons. A sale effected without the consent of kinsmen etc, could be set aside by them

1. Narada, V/4
2. Ibid, V/2
3. Narada, V/4
   Yajñaya, 2/255
4. Kat, VV/705-7
5. Ibid.

within three fortmights of the sale if the land is in another village, within 6 months if it is in another country and within one year if the language of the parties is different from one another.[1] This is probably with a view to avoid continuous disputes in respect of land property after sale.

When one person agreeing to serve another for a period does not render service, it becomes topic of law called '*Abuyupetyāśuśrūṣa* (अभ्युपेत्याशुश्रूषा)[2]

A student, an aprentice, a hired servant, an official, all are to abide by the time mentioned in the contract.[3]

In non-payment of wages (वेतनस्यानपाकर्म) Hire-purchase and *Swāmī-pala vivada*, time- bound contract otherwise fine was enforced. For example, for tending 200 cows everyday a herdman recieved a milch cow every year and he was allowed to milk the cows every eighth day.[4] He was responsible for the safety of the cattle otherwise he was liable.

The evils of law's delay were well-known and emphasised. Yājñyavalkya said that in violent crimes, thefts, defamation, abuses and assaults, accusation of major sins and charges of unchastity of woman, cases should be disposed off quickly. Modern Law is similar. Criminal cases are expected to be disposed off quickly. In civil suits, the courts were liberal in granting adjournment but not as liberal as the modern courts are. Kautilya, Narada, Kātyāyana and others laid down rules about the length of period of adjournment in different types of cases depending upon the nature of suit (complicated or simple), financial condition of the parties and the interval of time between the date of transaction and the date of the suit. Three fortnights was the maximum period to

---

1. Ibid; VV/702-3
2. Kāt; V/643
   Nārada; V/3
3. Nārada, V/1, 3-23
   Braḥ, V/59
4. Nārada, V/10

which a case should be adjourned to enable the defendant to file his defence. Kautilya provided for fine for delay in filing defence statement. In exceptional cases, one year's adjournment could be granted according to Gautama. But this could be so, only if the dependent was an idiot, a minor or suffered from serious diseases or had gone abroad or under similar circumstances, according to Kātyāyana.

There was no difference in procedure in the trial of civil and criminal cases. The simple uncomplicated proper methodical procedure contributed to the speedy justice. The analytical acumen of Nārada, Bṛhaspati, Kātyāyana and others devised rules of a good and bad defence. The defence was also to be concise and precise, meet the points raised by the plaintiff not in a vague or evasive manner but in plain and simple language.

The law givers ruled that counter claims and counter charges were to be scrupulously avoided. There were exceptions to this rule and in *Kalaha* (quarrels) and *Śāhasa* (violent crimes), the accused was permitted to make counter charge. This rule is in keeping with the modern law, where a claim of the right of private defence in a charge of murder or hurt may be an extentuation or complete defence by the accused.

Admission or confession in criminal cases, simplified matter for the court. A judgement on admission could follow. But Nārada wanted the judge not to accept a confession too readily, the confession must be voluntary and believed by the judge to be true. But the court at certain stages of the case, permitted torture be applied to get a confessional statement. Kautilya approved of such practice. The law givers warned the courts not to try too many issues in one suit as it led to confusion.

Human proof-oral, documentary or possessory was preferred to divine proof and where there was the possibility of obtaining the former, the latter proof was not to be admitted. Nārada extols the excellence of documentary evidence. In certain cases of transaction which took place in remote past and hence witnesses are not

available and matters of serious charges like unchastity or major sins, divine ordeals were accepted as a matter of proof. Faith in ordeals is based on the belief that the Divine will when properly invoked interposes in human affairs to expose falsehood and crimes. The success of the test largely depended on the psychological reaction of the person subjected to this method of proof. To this end, the formalities in regard to the place where the test is to be applied, the time of applicaion and the manner of applicaton are so elaborated as to make such a reaction probable. Ordeals are of many kinds like fire, water, balance, hot metal, poison etc. Time has been specified. by fire is to be conducted in any season except summer[1]. Ordeal by poison only in winter or as Nārada mentions different quantities of poison to be given to the accused in different seasons at different times. When these ordeals are conducted, if no calamity befalls the accused, the son, wife or property of the accused within a week or a fortnight he should be released.[2] Two examples will throw light on this interesting aspect of law.

Ordeal by Sacred Libation- The accused is made to drink three handfuls of sacred water. If any calamity befalls him within a certain period such as a week or a fortnight or three weeks or so he is proved to be guilty. But this is not applied in cases of great crimes, irreligious people, enunchs, low class persons and so on.[3]

Ordeal by Rice (Taṇdula)- Nārada states that the rice ordeal should be administered in cases of larceny only. In this ordeal white grains of rice mixed with water in which an image of the sun-god has been bathed, are to be kept for one night. At day-break these grains are given to the defendant who chews them. The accused is then asked to spit them on a fig-leaf. If on spitting, blood oozes out of the mouth of the accused or if the tooth flesh is hurt, he is held to be guilty.

At the hearing of suits, if the party on whom the burden of proof lay, deviated from his original statement and there was

1. Nārada; V/30
2. Bṛh; V/64
3. Nārada; V/332

contradiction between pleading and proof, the party was defeated. Similarly if one failed to support his case by evidence and did not appear in court on the dates of hearing or did not produce the best evidence or explained away the statement made by him earlier or who held secret conversation with the witnesses of the opposite party was declared to be defeated.

Bṛhaspati says that absence from court or non-production of witnesses on the date of hearing or for three fortnights therefore could end in the defeat of the party. But the suit would be resorted to further if some major or mighty reasons prevented the party from appearing in the cases. Kautilya ruled that cases related to temples, ascetics, heretics, learned Brahmins, minors, old people, about cattle and sacred places should be decided promptly.

Where parties came simultaneously to complaint against each other, the party receiving the more serious injury was to be the complainant and other party became the accused.

As in modern judgements, the judgements in ancient India also consisted of 4 broad parts. The first part consisted of a brief narration of the cases of the plaintiff and the defendant and then the *Kriyā* or the matter of dispute, and the evidence and lastly the decision of court was given in the judgement. Before decision, the opinions of the *sabhyas* (asessors), chief judge and *kula* (arbitrators) and then the findings of law books on the dispute were to be included in a judgement.

In a criminal case, the accused was either sentenced or acquitted. In civil suits, the suit was either decreed or dismissed with appropriate orders of penalty.

There was no loss of time regarding punishment. The ancient law-givers provided for lighter punishment for the weak. Women, children, old and diseased were punished with whipping by canes and ropes for offences for which others got more severe punishments.

Lex talionis or the law of an eye for an eye, a tooth for a tooth was prescribed by Manu and Kautilya.

Still lighter punishment of admonition and reprimand could be administered to the first offenders in light offences and for respectable persons like the parents or the preceptors of the king or hermits, as nobody, who strayed from the path of virtue was exempt from punishment. Even the king was not above law and the maxim 'The king can do no wrong', did not apply.

Fines ranging from the most trifling suits to the confiscation of the entire property could be imposed. Serious crimes were given severe punishment. Abetment of some offences was more serious than the offences themselves. Punishment was given with caution.

'न च सन्देहे दण्डं कुर्यात्!'[1]

This statement of Apastambha gets echoed in "benefit of doubt" in today's Law.

Thus the ancient Law gives an insight into the social system. There is a happy blend of the ideal and the real in the laws laid down by the ancient legal texts. There are definitely changes in today's legal texts. But they are not so sweeping as to undermine the fundamental spirit and progressive dynamism of the ancient codes.

1. Apastambha 2-5-11-2

The Concept Of Time In The Vāstuśāstra With Special Reference To The APARĀJITAPṚCCHĀ

Dr. Deepali Bhanot

The quest for unravelling the mystery of *kāla* or time has baffled human thought since the beginning of the universe. We come across various speculations which attempt to explain the concept of the eternal time. The Kāla-sūktas of the Atharvaveda[1] equate time with *Brahman*. Like *Brahman* time also has two forms- the impersonal and the personal: According to the maitrāyaṇiupaniṣad, "One is deathless i.e. eternal and the other is mortal. The mortal form of the *Brahman* is the sun.[2]" The one who has entered the lotus of the heart and is the same as the fire of the sun and who eats all living beings as his food is known as... Time, the invisible[3].

The Amarkośa presents four words for time: kāla, diṣṭa, aneha and samaya[4] and derives the word from the root kal, to count or to seize or possess. Kāla has also been described as death or yama. Time is the annihilator, who devoures all beings.[5] In the Bhagavad Gitā (11.32) Lord Kṛṣṇa says, "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्.."

---

1. Atharvaveda, 19/53, 54
2. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्य तद् ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः. . . . . . 1Mait. Upa. 5/3.
3. अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषो अग्निर्दिवि श्रितः सौरः कालाख्योऽदृश्यः सर्वभूतान्नमत्ति. . . .।। Mait. Upa. 5/2
4. कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयोऽपि। Amarakośa.1/4/1.
5. कालयति सर्वान् . . . .। Ibid.

The Śvetāśvatara Upaniṣad (1.3) speaks of the divine as, "He is the one who rules over all these causes from time to soul"[1] and "He indeed is the protector of the world in time"[2]. The temporal being of this creation is an expression of that impersonal time which is all-engulfing, all powerful and eternal . In Indian thought there is a constant quest to transcend the cycles of timelessness. The Kāla is that perennial power which is the creator, protector and the destroyer of this creation.[3] The constant flow of time is experienced in the duration of the past, present and future. Thus the never-ending cycle of time flows on eternally. [4]

In order to comprehend this eternal rhythm of time which is constantly recurring, man has affixed numbers to it in the form of hours, days, months, years, samvatsaras and so on, which are the physical measures of time.[5] The Śatapatha Brāhmaṇa identifies the *samvatsara* with *Prajāpati*.[6]

Time is a part of man's living experience. The experience of the passage of time is based on the movement of the sun, on the phases of nature indicated by variations of climate and vegetation due to changing seasons or by the astronomical observations of heavenly bodies.In order to protect himself from the extreme conditions inflicted by the seasons, man needs to build shelters. The building of these shelters by the primitive man in the prehistoric times, gradually developed into an art and the science of architecture came into being. Thus architecture began with the rise of the civilization itself.

---

1. यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्युक्तान्यधितिष्ठत्येकः। Svet. Upa. 1/3.
2. स एव काले भुवनस्य गोप्ता. . . । Svet. Upa. 4/15
3. उत्पत्तौ च स्थितौ चैव विनाशे चापि तद्वताम्।
   निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम्।। Vakyapadiya 3/9/3.
4. जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः।
   स कलाः कलयन् सर्वाः कालाख्यां लभते विभुः।। Ibid, 3/9/14.
5. निमिषश्च पलं घट्यो यामः पक्षक एव च।
   मासाश्च ऋतवश्चैव कालः संवत्सरादिकः।। Aparajitapṛcchā. 224/14
6. संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। Satapatha Brāhmaṇa 1/15/13

The texts dealing with Indian architecture are known as the *Vāstuśastra*. Anything that is made or constructed according to a plan and measurement is *Vāstu*. Thus a complete *Vāstuśāstra* deals not only with towns, temples and residential houses but also with sculpture, painting, yantra and furniture etc.[1]

देशः पुरः निवासश्च सभा वेश्मासनानि च।

यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम्।।

वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चयः।

तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते।। [2]

In the present paper we shall restrict our discussion on the concept of time as found in the text, the AparājitPṛcchā[3].

The AparājitaPṛcchā

The AparājitaPṛcchā of Bhuvanadeva is a manual on the science of architecture and is considered to be one of the most representative text of the 'Nāgara' (नागर) school of architecutre. It also deals with sculpture, painting and music.

This work is also known as *śūtrasantānaguṇakirtiprakāśa'* (सूत्रसन्तानगुणकीर्तिप्रकाश) or the '*sūtrasantāna*' (सूत्रसन्तान) which deals with the '*guṇa*' (characteristics), "*kīrtī*' (functions) of the '*santāna*' (progeny) of sūtra (layout structures by means of a string). The author Shri Bhuvanadevāchārya (श्री भुवनदेवाचार्य) appears to be none other than 'Viśvakarman' (विश्वकर्मन्), one of the oldest exponents of the '*Nāgara*' (नागर) school of *Vāstuśāstra* (वास्तुशास्त्र), who on being questioned by Aparājita, the youngest of his '*manasa*' (मानस) sons, explains the principles and practice of the *Vāstuśastra*.

The AparājitaPṛcchā contains 239 sutras comprising about 9,000 verses and appears to have been composed between the 12th

---

1. Shukla, D.N, Vāstuśāstra P.122.
2. Samarāṅgaṇa Sūtradhāra, Prathama paṭala
3. Ed. Mankad. P.A., Gaekwad Oriental Series No. CXV, Oriental Institute, Baroda, 1950.

and the first half of the 13th, cent. A.D. It has utilized *Jayaprcchā* (जयपृच्छा), *Viśvakārmavāstuśastra* (विश्वकर्मवास्तुशास्त्र), *Samarāṁgaṇasūtradhāra* (समराङ्गणसूत्रधार) and other works such as the *Skandapurāṇa* (स्कन्दपुराण), *Śrimadabhāgavata* (श्रीमद्भागवत) *Viṣṇumahāpurāna* (विष्णुमहापुराण), *Śivapurāṇa* (शिवपुराण) and other purāṇas. Through the sūtra method it presents a compact and easily comprehensible information regarding temples found in the Samaraṅgaṇsūtradhara (समराङ्गणसूत्रधार) etc. Though some important aspects have been neglected due to the brevity of style, yet the unusual feature of this text is the comparative method which describe in detail the *chhanda* (छन्द) of vāstu (वास्तु) (perspective view of structures), the subject of *rekhā* of *Śikhara* (the profile of the spire) and the *kaṇṭakas* (कण्टक) (mouldings) of different architectural styles i.e. *Nāgara* (नागर), *Drāvida* (द्रविड), *vesara* (वेसर), *Kaliṅga* (कलिङ्ग), yāmuna (यामुन) and Vyantara (व्यन्तर).

Space and Time

Indian architecture is very intimately related to astronomy, astrology and mathematics. Man understands his relationship with the cosmos by observing the planetary bodies in the sky and develops the concept of the interrelatedness of space and time through astronomy. The signs of the zodiac in astrology show how man links his own time with the heavenly bodies. Thus human life is not isolated but is controlled and influenced by the divinities who reside in different planets. Hence all building activity should commence only under favourable stars.

The AparajitaPṛchhā has dealt at length with the topics of astrology (sutra 43 to 47), astronomy (sutra 17, 18) and mathematics (sutra 42 and47). According to the AparājitāPṛcchā the knowledge of astrology is imperative as it is the most important discipline amongst all the scriptures:[1] After having chosen an appropriate site for a building, first of all Bhūparikṣā (भूपरीक्षा), the suitability of the

---

1. यथा दिनं विना सूर्यं शशांकं शर्वरी विना।
   कुटुम्बिनो विना पुत्रं शास्त्रं वै ज्योतिषं विना।।
   A.P. 43/2

soil should be ascertained at an auspicious moment and then a sacrificial offering should be made before commencing any construction:

शुभे दिने शुभे ऋक्षे सुलग्ने सुमुहूर्तके।
आदौ च भूपरीक्षायां शकुनं हि विलोकयेत्।।
प्राप्ते तु शकुनराजे सुलग्ने सुमुहूर्तके।
आचार्ये चाग्मैर्युक्तैर्बलिपूजां निवेयेत्।।[1]

Vāstupuruṣamaṇḍala

No structure can be built without a plan. The essence of the *Vāstū* (वास्तु) is planning. *Brahmā* created *Vāstū* before creating this world.

वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा।[2]

The one and the same ground plan known as the *Vāstūpuruṣamaṇḍala* forms the basic principle of all building activity of a temple, dwelling place or town. This ritual diagram known as theVvāstupuruṣamaṇḍala ascertains the time for setting up a structure, its place and the direction it has to face. The *Vāstuśastra* takes congnizance of 45 divinities who are assigned a place each in the *Vāstupuruṣamaṇḍala* according to their location and intensity (see fig.) This diagram is not necessarily the ground plan of the building to be constructed but its planning confirms with it so that the divinities reside there in peace.

All the three elements i.e. the *Vāstu*, *puruṣa* and *maṇḍala* are of equal importance and significance. The identification of the *Vāstu* with *puruṣa* or the cosmic man is symbolic of metaphysical importance especially in the case of temple architecture where the image of the *purusa* is congruous and identical to the planned site.

---

1. AP. 48/11,15.
२. समराङ्गणसूत्रधार, २४

(The Vāstupadavinyāsa)

The abbreviations in the chart represent the initial letter of the Vedic deities as under:-

(1) The deities on the Eastern periphery are

Names-	ईश,	पर्जन्य,	जयन्त,	(1) इन्द्र,	सूर्य,	सत्य,	भृश,	आकाश,	अग्नि,
	1	2	3	4	5	6	7	8	9

2. Deities on the Southern periphery-

Names:-	पूषा,	वितथ,	(2) गृहक्षत,	यम,	गन्धर्व,	(3) भृङगराज,	मृग,
	10	11	12	13	14	15	16

3. Deities on the Western periphery-

Names:-	पितर,	नन्दि,	सुग्रीव,	पुष्पदन्त,	वरुण,	(4) असुर,	शेष,	पापयक्ष्मा,	रोग,
	17	18	19	20	21	22	23	24	25

4. Deities on the Northern periphery-

				(5)	(6)		
Names:-	नाग,	मुख्य,	भल्लाट,	कुबेर,	शैल,	अदिति,	दिति,
	26	27	28	29	30	31	32

5. Internal deities- (7)

Names-	आप,	आपवत्स,	अर्यमा,	सावित्र,	सवितृ,
	33	34	35	36	37
Names-	पृथ्वीधर,	ब्रह्मा,	वैवस्वत्,		
	38	39	40		
		(8)		(9)	
Names-	रुद्र,	रुद्रदास,	मैत्रगण,	इन्द्र,	इन्द्रजय,
	41	42	43	44	45

They are 45 in all.[1]

As a rule the shape of this maṇḍala is square. The four cardinal points of the East, West, North and South which are identifiable by the regular rising and setting of the sun are "beheld periodically and become known as perpetually recurring, permanent in a cyclical sense by which days are measured and time."[2]

Thirty two divinities are assigned to the outer border. The four directons are governed by eight deities each and each one of these are associated with one of the *nakṣatras* (नक्षत्र) or the houses of the moon. "Their terrestrial powers in space are determined by celestial powers in time."[3]

1. The AparājtaPṛccha, ed. Mankad, P.A., pp.xv, xviii, xix
2. Kramisch, Stella: The Hindu Temple, p.29.
3. Ibid.

The ecliptie or the *rāśicakra* (राशिचक्र) on which the astrologer bases his calculations and predictions coincides with this *Vāstū maṇḍala*. But the border of the ecliptie is divided into twelve units to which are assigned the twelve signs of the zodiac, indentical in number to the twelve Adityas who are the twelve manifestations of the sun in the twelve phases of his journey. "The solar cycles of the days and years are shown in the *Vāstū puruṣamaṇḍala* together with the lunations i.e. the monthly revolution of the moon round the earth".[1] Thus the square chakra or maṇḍala is a closed poliygon symbolical of recurrent cycles of time. Its square is symbolical of all cyclical time, the day, the month, the year and the wider cycles marked by the recurrence of eclipses.[2]

It is mandatory for all architects to master the knowledge of the meaning and execution of the *Vāstupuruṣmaṇḍala* before starting any construction. The AparājitaPṛcchā describes the origin of the *Vāstū* in the sutras, 53 and 54 and then discusses in detail the divinities to be assigned to the *vāstumaṇḍala*. Though the two varieties of the *Vāstūpuruṣamaṇḍala*, the one of sixty four and the other of eighty one squares are its main types that underlie all sacred architecture, the AparājitaPṛcchā mentions eleven varieties of the *Vāstumaṇḍala* (sutras55-59), The Vāstumaṇḍala is also important because by indicating the "*marmas*" (मर्म) or the vital parts of the plan, the architect knows the exact areas which should be kept as open spaces and on which no construction should be made.

The AparājitāPṛchhā prescribes that having laid the foundation stone on an auspicious moment, one should start the construction after determining the true east.

शस्ते मासे सिते पत्रे ह्यतीते चोत्तरायणे।
ताराचन्द्रबले चैव योगे चामृतसम्भवे।।
सूत्रपातस्तु कर्त्तव्यः प्राची साध्या ततो भवेत्।
चतुस्रं समं कृत्वा दिग्मूढं परिवर्जयेत्।।[3]

1. Ibid p. 31
2. Ibid p. 35
3. A. P. 52/1,2.

The days and months for starting the construction of a building, temple or town have been described as follows:-

इदानीमभिधास्यामः सूत्रपातविधिक्रमम्।
शस्ते मासे सिते पक्षे सुलग्ने च शुभे दिने।।
चैत्रे शोकाकुलो भर्ता वैशाखे च धनान्वितः।
ज्येष्ठे गृहा विपद्यन्ते आषाढे पशुनाशनम्।।
श्रावणे धनवृद्धिश्च भाद्रे तु न वसेद् गृहे।
कलहश्चाश्विने मासे भृत्यनाशश्च कार्तिके।।
मार्गशीर्षे धनप्राप्तिः पौषे वै कामसंपदा।
माघे चाग्निभयं कुर्यात् फाल्गुने श्रियमुत्तमाम्।।
तृतीया पञ्चमी चैव सप्तमी नवमी तथा।
एकादशीत्रयोदश्यौ तिथयश्च सुखावहाः।।
इह वै सूत्रपातैश्च क्रियाः प्रासादकर्मणि।
कार्याः पुरनिवेशे तु प्रारम्भे भवनस्य च।।
भूम्यारम्भे शिलान्यासे द्वारस्तम्भोच्छ्रयादिषु।
आदित्ये चोत्तरस्थे च शोभने लग्न एव च।।[1]

Measures of time

The comprehension of the nature of physical time is through measure. From the blinking of an eyelid or the movement of the sun, *Kāla* or time is measured by units of different kinds. According to the AparajitāPṛcchā time is measured mainly by the movement of the sun. The day breaks when the sun arises and on its disappearance night occurs. The day and night together as one unit is known as "ahoratra"[2] which is made up of *muhurta* (मुहूर्त), *ghatikā* (घटिका), *kṣaṇa* (क्षण), *Kalā* (कला), *kāṣṭhā* (काष्ठा) and *nimeṣa*

1. AP 63/1-8.
२. प्रदक्षिणीकृते तस्मिन्नहोरात्रमितिस्मृतम्।
प्रदक्षिणार्द्धमावृत्ते दृष्टे सूर्ये तथा दिवि।।
तथा रात्रिराख्याता सूर्ये चादृष्टतां गते। AP. 18/21,22

(निमेष). The smallest unit for measuring time is known as *nimeṣa* or the blinking of an eyelid.

निमिषश्च पलं घट्यो यामः पक्षक एव च।
मासाश्च ऋतवश्चैव कालः संवत्सरादिकः।।[1]

On being asked by Aparājita about the *kalasaṁkhya* (कालसङ्ख्या) or the numerical measure of time,

कालसंख्या कथं देव ह्यष्टयामादिकं तथा।
तिथिसंवत्सराद्यं च कथयस्व प्रसादतः।।[2]

Viśvakarmā informs him that the *ahorātra* (अहोरात्र) is the main unit for measuring time which is based on the appearance of the sun.

अहोरात्रादितः सङ्ख्या दृष्टे सूर्योदये मता।
अष्टौ यामाश्च सम्प्रोक्ता अहोरात्रसमुद्भवा।।[3]

This is divided into eight yamas (यमऽ) or intervals (four in the day and four at night) known as *jaya* (जय), *Vijaya* (विजय), *mahāśaṅkuh* (महाशङ्कुः) and *śaṅkukah* (शङ्कुकः).[4] The names of the five dates of the ahorātra are as follows:- *nandā* (नन्दा), *bhadrā*, (भद्रा), *jayā* (जया), *riktā* (रिक्ता) and *pūrṇā* (पूर्णा).[5] These five occur thrice in half a month, *māsārdha* (मासार्ध) and this unit is known as a *pakṣa* (पक्ष) and a month, *māsa* (मास) is known as *dwipakṣa* (द्विपक्ष):–

पञ्च पञ्च पुनः पञ्च मासार्धे तिथयस्तथा।
तिथिभिः पञ्चदशभिः पक्षो मासो द्विपक्षतः।।[6]

The fifteen days of a pakṣa are regulated by the waning and the waxing of the moon and are also known as:

Pratipadā (प्रतिपदा), *dwitīya* (द्वितीया), *tritīya* (तृतीया), *caturthi* (चतुर्थी), *Pancami* (पञ्चमी)- - - - *Paurṇamāsi* (पौर्णमासी).[7]

---

1. AP. /224/14
2. AP. 19/1
3. AP.19/3.
4. AP.19/3,4
5. AP.19/5
6. Ibid 19/6.
7. AP 19/7-10

The moon attains its full orbit through its sixteen kalas (कलाऽ) or digits.[1] It wanes in the dark *pakṣa* (पक्ष) and waxes in the bright *pakṣa* which are respectively known as the *amāvasyā* (अमावस्या) and *pūrnimā* (पूर्णिमा)

सितपक्षे वर्द्धते च क्षीयते कृष्णपक्षके।
पूर्णिमा पूर्णचन्द्रेऽमावस्या क्षीणविधौ स्मृता।।[2]

The two pakṣas together form one month and there are twelve another which are as follows:-

पूर्णमासे उभौपक्षावथ मासाभिधेयकम्।
कार्तिको मार्गशीर्षश्च पौषो माघोऽपि फाल्गुनः।।
चैत्रो वैशाखज्येष्ठो च ह्याषाढश्चैव श्रावणः।
भाद्रपद आश्विनश्च मासा ते प्रकीर्तिताः।।[3]

As mentioned earlier, the passage of time is also experienced through different seasons. Hence the AparājītaPṛcchā also enumerates the six seasons.

वसन्तग्रीष्मौ वर्षाश्च शरद्हेमन्त एव च।
शिशिरश्च षड् ऋतवश्चैत्रिकादिद्विमासकाः।।[4]

According to the AparājitaPṛcchā, *Kāla* is of three types *trividhah kālah* (त्रिविधःकालः) in the form of the cool season, the hot season and the rainy season.

कार्तिकादिभवः शीतो ग्रीष्मः फाल्गुनतः स्मृतः।
तथाषाढादितः प्रावृट् सर्वबीजहितात्मिका।।
एवं स्यात् त्रिविधः कालः शीतोष्णप्रावृडात्मकः।।[5]

---

1. Ibid. 19/11-12
2. AP. 19/13.
3. AP. 19/14-15.
4. AP.19/17.
5. AP.19/18-19

These three types of kālas comprising the six seasons occuring in the twelve months or the twenty four *pakṣas* or three hundred and sixty days add up to one year or varṣa (वर्ष).[1]

The AparājitaPṛcchā then starts enumearting the *samvatsaras* (संवत्सरऽ) without defining it and names sixty *samvatsaras* out of which *Brahma*, *viṣṇu* and *Rudra* have been assigned twenty *samvatsaras* each.[2] This is followed by the mention of *yugas*, *kalpas* and *manvantara* (मन्वन्तरऽ) and their duration. The *yugas* are four in number amongst which the *kṛtayuga* (कृतयुग) is made up of 28,800 *samvatsaras* or 17, 28,000 years.[3] The *Treta* (त्रेता), *Dwāpara* (द्वापर), and *kaliyuga* (कलियुग) are lesser in number by one quarter each of the kṛtayuga (AP.20/7) . Thus the *Tretāyuga* consists of 12,96,000 years, the *Dwāparayuga* has 8,64,000 years, and the *kaliyuga* comprised of 4,32,000 years. The four yugas together are made up of 43,20,000 years, which is one unit of the duration of creation, *Sṛṣtikāla* (सृष्टिकाल)

त्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि सहस्राणां च विंशतिः।
चतुष्कालप्रमाणं च सृष्टिकालसमुद्भवम्।।[4]

The period presided over by Manu (मनु) is known as *manvantara* (मन्वन्तर) . Fourteen *Manvantaras* make up one kalpa (कल्प). Thus the duration of one creation or *sṛṣti* (सृष्टि) is the same as one kalpa. At the end of the *kalpa* this creation comes to an end a new creation follows:-

मनुभिर्चतुर्दशभिः कल्पसङ्ख्या प्रमाणतः।
एवमुक्तं च कल्पान्तं पुनरेवं समुद्भवः।।[5]

The AparajitaPṛccha provides a vivid description of the terrible scene of devastation that befalls the creation at the end of

---

1. AP., 19/20-21
2. AP., 19/22-30.
3. Ibid, 20/5-6
4. AP. 20/9.
5. AP.20/13.

a *kalpa.* The earth is repeatedly rocked by earthquakes and is inundated by incessant rains of pouring muddy water during the nights with the sun shining. The surface of the earth looks terrible like the dreadful teeth of yama. Unpenetrable darkness engulfs the earth and the clouds shower torrents of snakes in the form of rain. The mountains, the oceans, the islands and the rivers devour all beings like the *kālāgni* (कालाग्नि) or the destructive fire and yama.

पर्वताः सागरा द्वीपाः सरितः सागरादिकम्।
भक्षन्ति सर्वभूतानि कालाग्निश्च यमो यथा।।

The duration of the kalpa is fixed and inevitably यथा ध्रुवम्, at the end of the fourteenth manvantara, after the night is over, the sun arises in the form of a dreadful and distorted human face with terrific teeth.

The earth is heated from all sides by the twelve adityas. Two suns each from the east, south, west and north, two suns from above and two from the *nagaloka* (नागलोक) or the nether regions blaze fiercely from all directions and scorch the whole earth. The destructive fire consumes all living beings, the gods, the demons, the demigods, the snakes and the *rākṣasas*, while the earth is thus being grilled, the smell of oblations, *havirgandha* (हविर्गन्धः) arises. The orb of the sun sets and then starts torrential rain by giant clouds. When the sun, the moon and the planets have thus been destroyed and all the animate and inanimate beings have perished, deep darkness pervades all directions. At that point of time (एवं जाते तदाकाले) Lord Viṣṇu being worshipped by all the gods,rests on that water on the bed in the form of the Śeṣanāga (शेषनाग). From his navel springs the lotus-seated Brahma, from whom the whole creation of living and non-living beings are created again:-

एवं जाते तदाकाले विष्णौ क्षीरोदसंस्थिते।
क्षीरोदस्थितविष्णोश्च शेषपर्यङ्कशायिनः।।
नाभेर्ब्रह्मा समुत्पन्नः पद्मयोनिश्च सृष्टिकृत।
ततः सर्वं समुत्पन्नं जगत्स्थावरजंगमम्।।

---

1. AP.20/21
2. AP. 20/32-35.

when the kalpa comes to an end, the gods get absorbed in the five Lingas (लिङ्गऽ). Even after the destruction of the whole universe, the five *Lingas* exist as they are eternal and it is from them that a new creation comes into being again.[1]

लीयन्ते सर्वदेवाश्च कल्पान्ते लिङ्गमध्यगाः।
कल्पान्ततोऽक्षयं लिङ्गं सागरे . . . . .।।
द्वीपे द्वीपे पुनस्त्वेवं रुद्रलोकलिङ्गोद्भवम्।
तेभ्यो जाता पुनस्सृष्टिर्जगत्स्थावरजङ्गमम्।।[2]

These five *liṅgas* have been named as *Avimukta* (अविमुक्त), *Kedara* (केदार), *Oṁkar* (ओंकार), *Amarakaṇṭaka* (अमरकंटक) and *Śrimahākāla* (श्रीमहाकाल).[3]

Thus the creation does not end at the end of the kalpa but it comes into existence again and again like the cyclic time.

कल्पान्तसम्भवा सृष्टिः संसारसृष्टिसंज्ञिता।
मन्वन्तमनुक्रान्तं युगान्तं चैव यादृशम्।।
वर्षान्ते भावरूपाश्च ऋत्वन्ते तामसोद्भवा।
पक्षान्ते च सिताः कृष्णा दिनान्ते शर्वरी यथा।।[4]

Chronology of the Daśavatāras of Viṣṇu

While describing the creation of a new universe after the end of a kalpa, the Aparājitapṛccha in the sutras 24-29 describes the chronology of the ten incarnations of lord Viṣṇu[5] and assigns each incarnation a specific time of appearance:-

---

1. Shukla, D.N., Vāstuśāstra p.150.
2. AP.21/15,16.
3. AP.21/5.
4. AP.3/8,9
5. मत्स्यः कूर्मो वाराहश्च नारसिंहो थ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश।।
AP.23/6.

मत्स्यावतारः- कृतेऽष्टसहस्रशताब्देषु गतेषु च।
शताब्दान्ते तथा ख्याते माघे कृष्णप्रतिपदि।[1]

कूर्मावतारः- चतुर्लक्षसहस्रादि शतान्ताब्दे कृते गते।
फाल्गुने कृष्णपक्षे च द्वितीयायां तिथौ यथा।।
मुहूर्ते कार्मुके चैव हस्तान्ते घटिकाद्वयम्।
कूर्मावतारो मेदिन्यां मुहूर्ते तत्र चाभवत्।।[2]

वराहवातारः- कृतार्धे च समायाते चैत्रकृष्णजयातिथौ।
सूर्यानाममुहूर्तान्ते हस्तान्ते घटिकाद्वयम्।।
वराहरूपामास्थाय अप्रमाणं महोत्कटम्।[3]. . .

नृसिंहावतारः- त्रयोदशलक्षाब्देषु गतेषु च कृते युगे।
राधशुक्लचतुर्दश्यां ज्येष्ठान्ते च मुहूर्तके।।[4]

वामनावतारः- सन्धौ च समनुप्राप्ते त्रेतायाश्च कृतस्य च।[5]

परशुरामावतारः- त्रेतार्द्धे चाब्द आद्ये च ह्याषाढे कृष्णषष्ठिका।
नाम प्रोक्तं पुण्डरीकं धनिष्ठान्ते मुहूर्तके।।[6]

रामावतारः– सन्धौ च समनुप्राप्ते त्रेताया द्वापरस्य च।।
रामोदाशरथिर्भूत्वा कौशल्यानन्दवर्धनः।।[7]

कृष्णावतारः- . . . .द्वापरान्ते कलौ युगे।।
कृष्णपक्षे भाद्रपदे ह्यष्टम्यां च तिथौ यथा।
रोहिणी नाम नक्षत्रे ह्यर्धरात्रे तथागते।
वसुदेवसुतः श्रीमान् वासुदेव इति श्रुतः।।[8]

बुद्धावतारः- कलौ युगे तु सम्प्राप्ते आश्विने कृष्णपक्षके।
नवम्यां च तिथौ चैव मृगान्ते सुमुहूर्तके।।[9]

दशमोहरिः ततो हरिः कलेरन्ते दशमः संभाविष्यति।
कुम्भलग्नभवो देवो ह्यश्वारूढो जगत्पतिः।।[10]

---

1. AP.23/10-11.
2. AP.24/6,7.
3. AP.25/6,7.
4. AP. 26/6.
5. AP.26/11
6. AP. 27/1.
7. AP. 27/ 7,8.
8. AP. 281-3
9. AP. 29/1,2
10. AP. 29/20.

The same duration of time is experienced by different people in different ways due to their attitude towards life. Still, if the surroundings are aesthetic and pleasing to the senses and if whatever we are doing engrosses us, time seems to fly quickly or we do not seem to feel the passage of time and vice versa. Therefore, the temples, towns and houses wherein one spends one's lifetime should not only be properly built but should also be beautiful and well-decorated. Almost the entire text of the AparajitaPṛcchā is devoted to the intricate details of the art of building various types of temples where one can spend one's entire life-span offering worship to gods residing therein. It also tells us how comfortable and beautiful houses and furniture[1] are to be made. Not only the beautification, of houses, vilages and towns (गृहग्रामनगरशोभा) have been described[2] but also how the gardens and amusement parks with fountains जलयन्त्र are to be laid out in the sutras 88 and 89. For spending time in the pursuit of sensual enjoyment specifications for building love chambers or *ratigṛha* (रतिगृह) and music-rooms, *Vādyaśāla* (वाद्यशाला) have also bee[n] given.[3]

Tāla (ताल), The Musical Measure Of Time

Moments of joy and sorrow, pleasure or pain find expressi[on] in dance and music or in poetry and art. Indian classical dance a[nd] music are regulated by tāla (ताल), the musical measure of time.

ताल आद्यः समस्तेषु रूपके नृत्यशासने।[4]

Since the *Vāstuśastra* also deals with the manufacturing of musical instruments, the AparajitaPṛcchā describes the dimensions of the musical instrument, which is also known as tāla and is associated with tāla, the musical measure of time.

समस्तं वै तालवाद्यं तालहीनं न विद्यते।
तालहीनं तथा वाद्यं चक्षुर्हीनो यथा नरः।।
करहीना यथा शक्तिः बिना मन्त्रैश्च राज्यकम्।
तालहींनं तथा वाद्यमावासो दीपकैर्विना।।[5]

---

1. AP. 81/27-30
2. Ibid 84,85.
3. Ibid AP. 87-89
4. AP.237/14.
5. AP. 237/12,13.

In the following sutras the aparājitaPṛcchā mentions the different *rāgas* and *rāgiṇīs* (राग and रागिणी) which are all associated with specific musical measures of time and the fourteen *gīta doṣas* (गीतदोष), one of which is the lack of proper tāla.

Depiction Of Time In Architecture And Sculpture:-

Man's perception of the duration, continuation and the flow or movement of time is reflected in art through symbols, iconography and architecture.

After the Mohenjodaro civilisation, the first manifestation of Indian Art is to be found in the Mauryan period (320 cent. B.C.) after a gap of more than a thousand years. Nothing is known about the Indian art in this intervening period. It is possible that wood was used as the medium of construction and decoration because the railings of the stupas at Sanchi and Barhut apear to be replicas of wooden structures.

Gradually stone was chosen to build the abode of the deities since stone was comparatively indestructible and could withstand the ravages of time, climate and termites. Kings of various dynasties took it upon themselves to build beautiful and massive temples after victorious expeditions or to demonstrate their glorious reign and also for the propagation of religion. Whether it was the stupa, rock-cut-cave or temple, the walls were decorated by the images of the deities and mythological stories. Thus the temples became religious books for the masses and through decorative paintings and sculptures of various styles and era these temples became a rich source for reconstructing history, which is a very weak spot in ancient Indian art and literature.

With the passage of time many different styles of temple architecture came into being. Though the layout of the temples varied in different regions, yet the common decorative motifs and imagery in Indian art is found repeated through the ages.

The symbol of *cakra* (चक्र) or the wheel has been the most popular motif used to represent the passage of time. The moving

circumference of the wheel suggests the continuity and the flow of eternal time, regulated by the still centre.

The earliest use of the symbol of wheel in sculpture is found in the lion-capital of the Aśokan pillar of the 3rd cent. B.C. The *cakra* here is the *dharamacakra* (धर्मचक्र). a symbol, which Buddha adopted while preaching his sermons and depicts eternity and timelessness. This very *dharmacakra* has been adopted as our national emblem. A few illustrations of the use of wheel in sculpture can be found in the sculptures in Barhut, Amarāvati, Sanchi, Sanghol, Nagarjunakonda and in the Sun temple at Konark and so on.

The lotus flower due to its prolificness has been used to symbolise birth, death and rebirth. The lotus is intimately related to the sun as it opens its petals only at sunrise. Brahma seated on the lotus emanating from the navel of Lord Viṣṇu denotes creation. Thus the lotus is associated with fertility and regeneration and has been widely used as a motif to represent the cycle of time.

Many temples dedicated to the deity Sūrya are found all over the country, the best amongst then being the Sun temple at Konark.

All the Indian temples are found decorated with a number of sculptures. Especially the temples at Konark and Khajuraho are beautiful examples of how different moments of rest, recreation, festivity, joy and ecstasy have been brilliantly projected in Indian sculpture. Due to lack of space it is not possible to enumerate all of them.

In the sutras dealing with iconography, the AparajitaPṛcchā gives us detailed instructions on how the images of *Brahma*, Sūrya and the nine planets, *navagrahas* (नवग्रहऽ) should be made.[1] The icons of the *navagrahas* and that of Sūrya can be seen at the Sun temple at Konark.

The sutra 219 of the AparajitaPṛcchā enumerates how the various images of lord Viṣṇu should be made. We shall mention

1. AP. 214/10-19.

here only the *jalaśayīmūrti* (जलशायीमूर्ति) which depicts the end of the creation described earlier.[1] An excellent illustration of the *jalaśāyīmūrti* of Viṣṇu can be seen at the *Daśāvatāra* temple at Deogarh, Jhansi, U.P. which belongs to the Gupta period. *Brahmā*, Viṣṇu and Siva are shown here together at the juncture of eternal silence of the cosmos before creation and the withdrawal of the universal self into itself.

Conclusion:-

The various references cited abvoe show that the AparājitaPṛcchā has enumerated the physcial form of *kāla* in its cyclical and numerical form i.e. *Kālasaṅkhyā* (कालसङ्ख्या) by assigning to it measurable units of *nimeṣa*, *pala*, *ghati*, *yama*, *ahorātra*, *pakṣa*, *māsa*, *varṣa* and so on which are mainly based on the appearance of the Sun. It also refers to *tāla* or the musical measure of time.

Though the AparjitaPṛcchā is conversant with the three motions of the Sun (i.e. its daily movement from the east to the west; the annual motion in which it appears to pass through the circle of *ṅakṣatras* (नक्षत्रऽ) in the duration of year and the motion of declension i.e.it ascends towards the north during one half of the year and descends to the south in the other half), yet it does not mention any *yantras* (यन्त्रऽ) or devices by which these units could be measured. The process of fixing the durations of time seem to be regulated by the solar and lunar movements. Supported by astronomy and astrology, the *Vāstupuruṣamaṅḍala* indicates the interrelatedness not only of space and time but also the relationship of the macrocosm and the microcosm.

We do find the reference of *Bhairava yantra* (भैरवयन्त्र) and Sūryatantra (सूर्ययन्त्र) to be fixed on the boundary walls of towns, no details of these *yantras* have been given. Therfore, it cannot be said whether these devices were meant for defence purposes or for ascertaining measures of time. The *jalayantra* (जलयन्त्र) mentioned

---

1. A. P. 219/1-7

in sutra 89 appears to be only a fountain because its description occurs only with reference to a garden or an amusement park.

According to the AparājitaPṛcchā, the soil was first started to check its suitability and then a peg was driven into the ground (भूपरिग्रहकीलकारोपणम्, Sutra51). This peg most probably acted as the gromon or a sort of sundral by which direction and time were fixed.

The knowledge of astronomy and astrology was mandatory for an architect so that he could ascertain correctly the auspicious moment for starting any construction. The AparajitaPṛcchā mentions that a good architect should be त्रिकालज्ञः i.e. he should have a perfect knowledge of the past, present and future.

> सर्वकार्येषु निर्बन्धः त्रिकालज्ञः सदा भवेत्।
> वर्तमानं तथातीतं भाव्यं नित्यं विलोकयेत्।।
> प्रारम्भे सर्वकार्याणां सर्वोपकरणैर्युतः।
> आदिमध्यान्ततः पृष्ट्वा कृत्यान्तं कारयेद् बुधः।।[1]

According to the text, *kāla* also depicts a particular duration of time. For example, the duratin of one creation has been refeed to as the सृष्टिकाल or to a specific point of time of एवं जाते तदाकाले referring to the time after the creation has been annihilated.

The duration of diffcult time during draughts has been described as -दुस्तरकाल (AP. 75/31-33) which results from the clouds not having rained at the appropriate or the appointed time -यदा मेघा न वर्षन्ति काले (AP.75/31-33).

Kāla also refers to the cyclic movement of time which goes on eternally. **पक्षान्ते च सिता कृष्णा दिनान्ते शर्वरी यथा।**

Kāla is also synonymous with destruction. Lord Siva is known as *kāla*[2] (काल), the annihilator, who destroys the creation when it becomes overburdened with unrighteousness-

---

1. AP. 49/16,17.
२. ललाटनेत्रसंक्रुद्धं कालरूपमिवापरम्। AP.3/38.

अधर्मस्थं शिवो हन्ति सृष्टिस्थितिप्रणाशकृत्।
अधर्मस्य शिवः कालो नित्यं संहारहेतुकः।।[1]

One of the five eternal lingas is known as the *Mahākāla*

अवियुक्तं च केदारं ओंकारममरकंटके।
पञ्चमं श्रीमहाकालं कल्पान्ते लिङ्गमव्ययम्।।

At the end of the *kalpa*, this whole creation is devoured by *kālāgni* (कालाग्नि) or the destructive fire which has been compared to yama (AP. 20/21).

This physical form of *Kāla* is not the ultimate power but is regulated by its unmanifest form which is imperceptible. Hence the querry:-

केनोत्पत्तिः समस्तानां भूतानां तथा लयः।
केनासौ कलते कालो लयं यान्ति च सर्वशः।।[2]

Thus the personal form of kāla moves on eternally being regulated by its impersonal form in an unending cycle.

1. AP.75/5,
2. AP. 10/1.

Concept Of Time (Kāla)
In Absolute Monism

Dr. Bhakti Srivastava

Absolute Monism stands for the "unqualified experience."[1] It does not imply the usual distinition of "experient, experiencing and experienced object."[2] *Brahman* is the highest reality in absolute monism. It in non-temporal, non-spatial and non-causal. The world of plurality is an appearance of the non-dual self. The indeterminable *māyā* is the cause of this appearance. Thus time has meaning only in and for the world of purality. From the empirical standpoint the existence of physical world cannot be denied. Time possesses empirical reality only. Time and all other categories are only for the empirical world. Supreme reality transcends all these categories, hence time does not apply to 'It' (*Brahman*).[3] *Brahman* is eternal, timeless reality. It transcends the past, the present and the future. It is timeless.[4] Supreme reality is above spatio-temporal sequence.[5] Time in Absolute Monism, is dependent, on the nature of events. Advaita Vedanta does not accept the existence of empty time apart from the occuring events and changes. Thus time is interdependent and interconnected. It is always to be remembered

---

1. *Pūrṇānubhava.*
2. *jñātā jnana jñeya.*
3. Māṇḍukya kārika-III-2,19,20,24,27,38, IV- 14, 22, 38, 40.
4. Māṇḍukyopaniṣad S .B. (Sankara Bhashya) - 1.1. Kathopnishad S.B. II. I. 5.
5. "na deśakālādevaśesaṁyogaḥ paramātmanaḥ kalpayituṁ śakyate." *Brahma Sūtra* S.B.-IV.III.14

that time is referred to the physical universe. Hence time cannot be admitted as Absolute reality. Empirically time has a beginning and also an end. Advaita Vedanta speaks of periodic creation and dissolution. Consequently the origination and dissolution of time is also thought of." Time and space are both *māya* in modern physics and also in philosophy".[1] Thus time represents only māyā or illusion. Swami Vivekananda, the modern Vedantin, expresses his views by saying that Samkarācārya was the first to find out the identity of time with *māyā.*[2]

An analysis of the states of experience (waking, dream and deep sleep) will clearly bring before us the meaning of time. In the waking state the empirical subjects experience an eternal world while in dream it is the internal experiencing. Both waking and dream are forms of experiencing and are governed by time. The diffenrence between the two is that while the former (world of waking) is common, the latter (world of dream) is personal. Both the states are phenomenal and are subject to time. The third state, i.e. the state of sleep is in contrast a timeless experience. Where there is duality there is time but in deep sleep experience, there is no duality and no time. However it is to be noted that this sleep experience is not the transcendent experience. In sleep experience (deep sleep) there is only temporary suspension of time. The 'turiya' or fourth is the truly timeless experience. In reality '*turiya*' is not the fourth in addition to the three. It is the basis of all other experiences. Deep sleep resembles *turiya* (as there is no perception of plurality in both) however, their difference is clearly stated in Māṇḍukya Kārika[3] "the self of the deep sleep state (*Prājña*) comprehends neither himself nor others, neither truth nor falsehood, but '*turiya*' is all seeing always" *Turiya* is "*sarvadṛk*" or seer of everything always, forever. "Because it is but '*turiya*', who by existing in all beings during the dream and waking states seems to

1. "Māyā" Swāmi Mādhava Tīrtha, page 1.
2. The complete works of Vivekānanda, Vol.II, page 342.
3. "nātmānaṁ na paraṁ caiva na satyaṁnāpicānṛtam. prājña kimcana saṁvetti turya tatsarvadṛksatā" Māṇḍukya Kārikā, 1.12.